कवि भगवइदास कृत

मइंकलेहा चरिउ

(हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना, शब्दकोष एवं सूक्तियों सहित)

अनुवादक

उपाध्यायश्री गुप्तिसागर मुनि

साहित्य भारती प्रकाशन

मइंकलेहा चरिउ

अनुवादक : उपाध्यायश्री गुप्तिसागर मुनि
सम्पादक : सिद्धान्तरत्न ब्र. सुमन शास्त्री
आवरण छायाचित्र : सतीश जैन
आवरण परिकल्पना : देवव्रत सरकार

साहित्य भारती प्रकाशन

प्रथम संस्करण : [illegible] (वी.नि. २५२९)

मूल्य : एक सौ पच्चीस रुपये

प्राप्ति स्थल :
साहित्य भारती प्रकाशन
३२, सूर्य निकेतन, दिल्ली-११००९२

मुद्रण व्यवस्था : प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली-११०००२
मुद्रक : ग्राफिक वर्ल्ड, नयी दिल्ली

नारी समुद्धारक, पतितपावन

गम्भीर नदी के तट पर विराजमान

विश्वमोहक चाँदनपुर बाबा तीर्थंकर महावीर के

२५२८वें निर्वाण पर

उनके ही श्रीचरणों में सविनय समर्पित

एक सन्नारी का जीवन वृत्त मइंकलेहा चरिउ

आमुख आशीष

'मइंकलेहा चरिउ' अपभ्रंश भाषा की अपने आप में बड़ी ही सुन्दर एवं उत्तम कृति है। इसकी प्रमुख नायिका 'मृगांकलेखा' और 'प्रमुख नायक' नायिका के पति 'सागरचन्द्र' श्रेष्ठी हैं। दोनों के प्रारम्भिक जीवन में अञ्जना और पवनञ्जय के प्रारम्भिक जीवन में काफी साम्यता है। जैसे विवाह से पूर्व पवनञ्जय अञ्जना से मिलने हेतु राज-उद्यान में जाते हैं और सखियों के मध्य हो रहे हास्य-विनोद में 'सखि मिश्रकेशी द्वारा अन्य राजकुमार की प्रशंसा सुन अञ्जना उसमें अनुरक्त है, ऐसा सोचकर अञ्जना से विरक्त होकर विवाहोपरान्त उसका परित्याग कर देता है इसी भांति सागरचन्द्र भी विवाह से पूर्व अपनी भावी पत्नी मृगांकलेखा की दर्शनेच्छा से मिलने हेतु वहाँ पहुँचता है। जहाँ एकान्त में सखियों से घिरी मृगांकलेखा अपने भावी पति की कल्पना और खुशी में डूबी हुई बैठी थी। हास्य-विनोद में पत्रलेखा सखि व्यंगवाक् से व्यथित हो सागरचन्द्र कुमारी के प्रति विरक्त हो जाता है। मृगांकलेखा से विवाह उसकी खुशी नहीं मजबूरी बन जाती है।

पवनकुमार की भांति सागरचन्द्र भी विवाहोपरान्त पत्नी का परित्याग कर कुछ समय बाद युद्ध हेतु प्रस्थित हो जाते हैं। वायुकुमार को चकवा-चकवी की रात्रिकालीन विरह पीड़ा पीड़ित करती है और वे संवेदित हो पत्नी की वियोग दशा का भलीभांति अनुमान लगाकर जैसे रात्रि में ही गुप्त रीति से पत्नी से मिलने अपने महल में लौट आते हैं उसी प्रकार सागरचन्द्र भी पति वियोग में रुदन करती एक नारी (प्रच्छन्न वेशधारी चक्रेश्वरी देवी) के मुख से पतिव्रता को पति वियोग क्या होता है तथा मृगांकलेखा की विरह दशा, उसके प्रायोपगमन संन्यास की व्यथा भरी गाथा सुनकर रात्रि में ही अपनी पत्नी मृगांकलेखा के पास लौट आता है। रात्रि विश्राम करता है और प्रातः नामांकित मुद्रा सौंप युद्धार्थ संकल्पित लक्ष्य की ओर लौट पड़ता है।

तत्पश्चात् सती का गर्भवती होना,सासू की भर्त्सना, गृह निष्कासन, वन गमन की कथा अञ्जना के समान प्रारम्भ हो जाती है। दोनों सन्नारियों का जीवन यहीं तक एक ही डगर पर खड़ा है आगे जाकर दोनों की राहें बदल जाती हैं। पूरे कथा चक्र के समापन से पूर्व पवनञ्जय और सागरचन्द्र पुनः एक बार एक सी पीड़ा की चट्टान पर खड़े दिखाई देते हैं जब लाखों प्रयत्नों के बाद भी मृगांकलेखा नहीं मिलती है तब वे पवनञ्जय की भांति पत्नी के वियोग में 'आत्म दहन' हेतु धधकती चिता में पर्वत से कूदने हेतु उद्यत होते हैं।

मृगांकलेखा और अञ्जना को पति वियोग का कारण पूर्व जन्म कृत दुष्पाप ही था। जैसे अञ्जना ने कनकोदरी पटरानी की अवस्था में मद से चूर हो सौतिया डाहवश सौत लक्ष्मीमती की जिन प्रतिमा को इक्कीस घड़ी छुपाकर रखा था उसी प्रकार मृगांकलेखा ने पूर्व जन्म में जब वह कामलता वेश्या की अवस्था में थी कौतुकवश एक हंस को कुंकुमादि द्रव्यों से रँगकर उसकी पत्नी हंसी से इक्कीस घड़ी के

लिए प्रथक् कर दिया था। इसी का अन्जाम था दोनों सतियों को इक्कीस-इक्कीस वर्ष का पति वियोग। 'दर्प हो या ईर्ष्या, कौतुक हो या सायास' जीव कर्म बन्ध से नहीं बच सकता।

प्रस्तुत 'मइंकलेहा' कृति में चार सन्धियाँ हैं। चारों सन्धियों में क्रमशः १७, २७, १०, ९ कड़वक हैं। कृति में गाथा छन्द की बहुलता है। मूल छन्द 'पद्धडी बन्ध' है। ६९ घत्ता, ४५ दुवई, १७४ गाथाएँ, ५ सोरठा और ६५ दोहे हैं। छप्पय ५ खण्डय १ छन्द भी हैं। भाव पक्ष की दृष्टि से कृति मार्मिक भाव एवं करुण रस से आपूर्ण है। शब्द पक्ष की दृष्टि से यद्यपि कमजोर है तथापि पर्यायवाची शब्दों ने जहाँ कृति में लालित्य और सरसता का रस घोला है वहीं कृतिकार की बौद्धिक क्षमता की पौष्टिकता का परिचय भी दिया है। कतिपय शब्द दृष्टव्य हैं; यथा—नायिका मृगांकलेखा को 'मइंकलेह चंदरेह, ससिरेहा, मयंकरेहा' जैसे पर्यायवाची शब्दों से सम्बोधित किया है तो उसके पति सागरचन्द्र को 'सायरचंदु, उवहिचंदु, जलणिहिचंदु, जलणिहि मइंक, उवहिणिहिचंदु, जलरासिचंदु, समुद्दचंदु, ससिसायरि, जलरासिससि, साइरचंदु, सायरमइंक, सायरिससि' जैसे शब्दों का उपयोग किया है। सागरचन्द्र के पिता सागरदत्त के प्रति भी 'मइसायर, समुद्ददत्त, उवहिदत्तु और साइरदत्तु' जैसे पर्यायवाची शब्दों को कवि ने प्रयुक्त किया है। जिस सिद्धार्थपुर नगर में मृगांकलेखा को उसके पति से भेंट हुई थी; उसे भी कवि की प्रज्ञा ने 'सिद्धत्थपुर, सिद्धत्थणयरि, णिव्वाणनयर' नामों से पुकारा है और मोक्षपुरी को तो सीधा-सादा 'मुत्तिवरु' नाम ही दे दिया है।

इन सर्व सन्दर्भों से कवि भगवतीदास की पटु प्रज्ञा तो प्रस्थापित हो जाती है किन्तु उनकी 'अन्वेषक प्रज्ञा' सर्वत्र अनुपस्थित है। उसके होने का आभास कहीं भी नहीं मिलता चूँकि चारों सन्धियों में निमित्तज्ञानी चन्द्रसूरि, श्रीविजयसूरि मुनि, युगमन्धर केवली का सान्निध्य, सम्बोधन, धर्मोपदेशों के सुन्दर आख्यानों और पूर्व भवों की अच्छी-खासी लम्बी चर्चा के उपरान्त भी यह कहीं से ध्वनित नहीं हो सका कि प्रमुख नायिका सती 'मृगांकलेखा'किन तीर्थङ्कर के शासनकाल में उत्पन्न हुई, उसे किसने प्रतिबोधित किया इत्यादि। इसे कवि की मति स्खलना कहा जाए अथवा उनके समक्ष प्रामाणिक सन्दर्भों का अभाव? विषय केवलीगम्य है।

लेखक ने पद्धड़ी बन्ध में कहीं-कहीं पर छन्द नम्बर दिये हैं और कहीं-कहीं पर नहीं; अस्तु मैंने पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखते हुये पद्धड़ी बन्ध छन्द में नम्बर दिये हैं ताकि मूल पाठ का अर्थ, सूक्तियाँ और शब्दकोष को आसानी से समझा जा सके। हिन्दी अनुवाद में छन्द नम्बरों को प्रायः १ से ५ तक में वर्गित किया है।

अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी में मुझे प्रथम बार कृति की पाण्डुलिपि-अवलोकन का अवसर मिला। अनुवाद हेतु इस सन्नारी की पीड़ा ने मुझे प्रेरित किया; अस्तु स्वयं-प्रेरणा एवं 'महति महावीर की महाकृपा के महाप्रसाद' स्वरूप यह कृति अनूदित हो मानव समाज के बीच पहुँच रही है। इस महा-प्रसाद के निर्माण में प्रत्यक्ष व परोक्ष सभी सहयोगी कारकों एवं व्यक्तियों को शुभाशीष।

—उपाध्याय गुप्तिसागर मुनि

प्रस्तावना

अपभ्रंश भाषा—अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख ई.पू. द्वितीय शताब्दी से कुछ शताब्दी पूर्व मिलता है। वाक्यदीपम् के रचयिता भर्तृहरि ने महाभाष्यकार के पूर्ववर्ती संग्रहकार व्याडि नामक आचार्य के मत का उल्लेख करते हुए अपभ्रंश शब्द का निर्देश किया है[१]—

शब्द संस्कार हीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशिनम्॥

वार्त्तिक—शब्द प्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारो ना प्रकृतिरपभ्रंशः स्वतन्त्रः कश्चिद्विद्यते। सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः। प्रसिद्धेस्तु रुढितामापद्यमाना स्वातन्त्रमेव केचिदपभ्रंशा लभन्ते। तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादिभिर्वा गाव्यादयस्तत्प्रकृतयोरपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते।

—भर्तृहरि वाक्पदीयम्, प्रथमकाण्ड, कारिका १४०, (लाहौर संस्करण सं.पं. चारुदेव शास्त्री)

अपभ्रंश शब्द का उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य में भी मिलता है—

एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा—गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिक़ेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।

—म.भा. १।१।१

इससे प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में अपभ्रंश का अर्थ था, शिष्टेतर या शब्द का बिगड़ा हुआ रूप और यह शब्द अपाणिनीय रूप के लिए प्रयुक्त होता था।

भामह (छठी शताब्दी) ने अपभ्रंश को काव्य की एक भाषा माना है—

शब्दार्थौ सहितं काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
संस्कृतं-प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥ (काव्यालंकार १।१६।२८)

नवमी शताब्दी में रुद्रट ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में कहा है—

भाषाभेदनिमित्तः षोढा-भेदोऽस्य संभवति
प्राकृत संस्कृत मागध पिशाच भाषाश्च शौरसेनी च
षष्ठोऽत्र भूरिभेदोदेशविशेषाद् अपभ्रंशः॥

---

१. प्रो. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य पृ. २।

भाषा भेद के आधार पर काव्य के छह भेद संभव हैं—(१) प्राकृत (२) संस्कृत (३) मागध (४) पिशाच (५) शौरसेनी (६) अपभ्रंश जो कि देश विशेष की अपेक्षा अनेक प्रकार की है।

ग्यारहवीं शताब्दी के कवि वाग्भट्ट (१०४० ई.) ने अपभ्रंश को देश भाषा कहा है—

अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्।

—वाग्भट्टालंकार २।३

दण्डी ने अपभ्रंश को वाङ्मय की एक भाषा बतलाते हुए कहा है कि काव्य में अभीरादि की भाषा अपभ्रंश है और शास्त्रानुसार संस्कृत के अतिरिक्त सभी भाषाएँ अपभ्रंश हैं।[1]

राजशेखर (१०वीं शताब्दी) ने राजसभा में संस्कृत और प्राकृत कवियों के बैठने की योजना बताई है—

तस्य (राजासनस्य) चोत्तरत: संस्कृता: कवयो निविशेरन्। पूर्वेण प्राकृता: कवय...। पश्चिमेनापभ्रंशिन: कवय: तत: परं चित्र लेप्यकृतो माणिक्य बन्धका वैकटिका: स्वर्णकार-वर्द्धकिलेहकारा अन्येऽपि तथाविधा:। दक्षिणतो भूतभाषा कवय: इत्यादि।.(काव्यमीमांसा, अध्याय १०, पृ. ५४-५५)

इससे स्पष्ट होता है कि उस समय अपभ्रंश कविता भी राजसभा में आदृत होती थी। इसी प्रकरण में भिन्न-भिन्न कवियों के बैठने की व्यवस्था बताते हुए राजशेखर ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश कवियों के साथ बैठने वालों का भी निर्देश किया है। अपभ्रंश कवियों के साथ बैठने वाले चित्रकार, जौहरी, सुनार, बढ़ई आदि समाज के मध्यम कोटि के मनुष्य होते थे। इससे प्रतीत होता है कि राजशेखर के समय संस्कृत कुछ थोड़े से पण्डितों की भाषा थी। प्राकृत जाननेवालों का क्षेत्र अपेक्षाकृत बड़ा था। अपभ्रंश जानने वालों का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत था और इस भाषा का सम्बन्ध जनसाधारण के साथ था। राजा के परिचारक वर्ग का अपभ्रंश भाषा प्रवण होना भी इसी बात की ओर संकेत करता है।[2]

श्री मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' नामक ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अनेक अपभ्रंश पद्य मिलते हैं। इस ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि अनेक राजसभाओं में अपभ्रंश का आदर चिरकाल तक बना रहा। राजा भोज या उनके पूर्ववर्ती राजा अपभ्रंश कविताओं का सम्मान ही नहीं करते थे, स्वयं भी अपभ्रंश में कविता लिखते थे। राजा भोज से पूर्व मुञ्ज की सुन्दर अपभ्रंश कविताएँ मिलती हैं। अपभ्रंश कविताओं की परम्परा आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं के विकसित हो जाने पर भी चलती रही, जैसा कि विद्यापति की कीर्तिलता से स्पष्ट होता है।[3]

---

१. काव्यादर्श, भण्डारकर ओ.रि. ई. पू. १९३८, १।३२, १।३६-३७।

२. वही अध्याय १० पृ. ५०।

अपभ्रंश साहित्य—अपभ्रंश साहित्य की महाकाव्य लेखन की परम्परा में आद्यकवि के रूप में स्वयंभू प्रतिष्ठित हैं। उनकी तीन रचनाएँ प्राप्त हैं—(१) पउम चरिउ, (२) रिट्ठणेमिचरिउ और (३) स्वयम्भु छन्द। पउम चरिउ की रचना राम कथा को आधार बनाकर की गई है। रिट्ठणेमि चरिउ भगवान् नेमिनाथ तथा तत्सम्बन्धी महापुरुषों के आधार बनाकर लिखा गया है। स्वयंभू छन्द छन्द शास्त्र से सम्बन्धित है। स्वयम्भू के पश्चात् ९६५ ई. में महाकवि पुष्पदन्त ने महापुराण या तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार लिखकर पूर्ण किया। इसमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ प्रतिवासुदेव और नौ बलदेव इन तिरेसठ महापुरुषों के चरित्र का वर्णन किया गया है। दसवीं शताब्दी के आसपास महाकवि धनपाल ने भविसयत्तकहा लिखी। इसमें लौकिक नायक की परम्परा का सूत्रपात करते हुए श्रुतपञ्चमी व्रत का माहात्म्य प्रतिपादित किया गया है। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य हुए धवलमहाकवि ने हरिवंश पुराण की रचना की। विक्रम संवत् १४९६ के पूर्व रइधू कवि द्वारा पद्म पुराण या बलभद्र पुराण की रचना की गई। इसमें जैन दृष्टि से रामकथा का वर्णन है। यशकीर्ति के द्वारा रचित तीन ग्रन्थ प्राप्त हैं—(१) पाण्डव पुराण (२) हरिवंश पुराण और (३) चन्द्रप्रभ चरित। इनमें से हरिवंश पुराण की रचना भाद्रपद शुक्ल एकादशी विक्रम संवत् १५०० में हुई थी। विक्रम संवत् १५५३ में एक और हरिवंश पुराण की रचना हुई। इसके लेखक की श्रुतकीर्ति हैं। ग्रन्थ का समय विक्रम संवत् १५५३ है। कवि पुष्पदन्त ने मान्यखेट के राजा के मन्त्री नन्न की प्रेरणा से 'णायकुमार चरिउ' की रचना की। कवि ने इसमें विशेष रूप से नागकुमार का चित्रण प्रमुख रूप से किया है।

महाकवि पुष्पदन्त ने चार सन्धियों में 'जसहर चरिउ' की रचना की। अहिंसाधर्म के प्रतिपादन में जैन साहित्य में यशोधर की कथा बहुत लोकप्रिय है। इसी को आधार बनाकर यह काव्य लिखा गया है। वीर कवि का 'जम्बुकुमार चरिउ' भारतीय ज्ञानपीठ से अनेक वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है। इसमें अन्तिम केवली जम्बुकुमार के चरित्र का सांगोपांग निरूपण किया गया है। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् १०७६ में की थी। नयनन्दि का 'सुंदसण चरिउ' एक सुप्रसिद्ध काव्य है। इसमें एक गोप के जीवनोत्कर्ष की कहानी वर्णित है, जो कि सेठ सुदर्शन की पर्याय में ब्रह्मचर्य का अनेक कष्ट सहन करते हुए पालन करता है और अन्त में मोक्ष लक्ष्मी का वरण करता है। यह काव्य धारानगरी के राजा भोज के शासनकाल में लिखा गया है। 'सयलविहिणियाण कव्व' नयनंदी की एक सुन्दर रचना है। इसमें अनेक विधि विधानों और आराधनाओं का उल्लेख है। इसका काल विकम संवत् ११०० के लगभग माना जाता है।

मुनि कनकामर ने दस सन्धियों में 'करकंड चरिउ' की रचना की। इसमें पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थ में हुए करकण्डु राजा का जीवनचरित काव्यात्मक रूप में निबद्ध किया गया है।

धाहिल का चार सन्धियों में लिखा गया 'पउम सिरी' काव्य पद्म श्री के पूर्व जन्म की कथा का निरूपण करता है। यह एक प्रेम कथा है। पद्मकीर्तिने विक्रम संवत् ९९२ में 'पासणाह चरिउ' की रचना

की। इसमें भगवान् पार्श्वनाथ का जीवनचरित प्रौढ काव्य शैली में लिखा गया है। विक्रम संवत् १२०८ में श्रीधर कवि ने सुकुमाल चरिउ की रचना की। इसमें सुकुमाल स्वामी के पूर्व जन्म तथा वर्तमान जन्म का वर्णन है। सुकुमाल स्वामी की कथा भी जैन साहित्य में सुप्रसिद्ध कथा है। श्रीधर ने विक्रम संवत् १२३० में भविसयत्त चरिउ की रचना की। इसमें श्रुतपञ्चमी व्रत के फल का निरूपण किया गया है।

देवसेनगणि का लिखा 'सुलोचना चरित' अठाईस सन्धियों का काव्य है। इसमें जयकुमार और सुलोचना की कथा विस्तार से वर्णित है। जयकुमार चक्रवर्ती भरत के सेनापति थे, उनकी पत्नी का नाम सुलोचना था।

पन्द्रह सन्धियों में रचित 'पज्जुणा चरिउ' सिंह कवि द्वारा लिखा गया एक सुन्दर काव्य है। इसमें श्रीकृष्ण के पुत्र कामदेव प्रद्युम्न के जीवन और उनके द्वारा किए गए पराक्रमपूर्ण कार्यो का वर्णन किया गया है।

विक्रम संवत् १२१६ में श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र सूरि ने 'णेमिणाह चरिउ' की रचना की। यह रचना उन्होंने चालुक्यवंशी राजा सिद्धराज और कुमारपाल के अमात्य पृथ्वीपाल के आश्रय में रहकर की थी। इसमें बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्त निबद्ध है। पंडित लाखू या लक्खण ने विक्रम संवत् १२७५ में जिणदत्त चरिउ की रचना की। इसमें विमलमती और जिनदत्त के प्रेमाख्यान का काव्यमय निरूपण है।

गुर्जरदेश के निवासी कवि धनपाल ने 'वाहुवलि चरिउ' की रचना विक्रम संवत् १४५४ में की थी। इसमें भगवान् ऋषभ देव के पुत्र वाहुबली के आख्यान को आधार बनाया गया है। यह ग्रन्थ रचना चंदवाड नगर के राजा सारंग के मन्त्री वासद्धर (कीसधर) की प्रेरणा से की गई थी।

यश: कीर्ति विरचित 'चंदप्पह चरिउ' ग्यारह सन्धियों में विभक्त हैं। इसमें आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ को आधार बनाया गया है।

महाकवि रइधू को अनेक रचनाए प्राप्त होती है। इनका अनुशीलन डॉ. राजाराम जैन ने अपने सुप्रसिद्ध शोध प्रबन्ध रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन में किया है। इनकी रचनाओं में से कुछ प्रमुख रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

१. पासणाहचरिउ
२. महापुराण
३. सिद्धन्तत्थसा
४. पुण्णासवकहा
५. जसहर चरिउ
६. कोमुइकह पबंधु
७. वित्तसार
८. सोलहकारण जयमाल

१४. मेहेसर चरिउ
१५. तोमिणाह चरिउ
१६. बलहद्द चरिउ
१७. सुक्कोसल चरिउ
१८. सम्मत्तुगुण णिहाणकव्व
१९. तिसट्ठमहापुरुसचरिउ
२०. जिणचरिउ
२१. सावयचरिउ

९. जीमंधर चरिउ
१०. सिद्धचक्कमाहप्प
११. सुंदसण चरिउ
१२. धण्णकुमार चरिउ
१३. सम्मइजिण चरिउ
२२. पज्जुण्ण चरिउ
२३. अप्पसंवोहकव्व
२४. दशलक्षण जयमाला
२५. सम्मत्त भावणा

कवि रइधू ग्वालियर के राजा डूँगरसिंह के समय हुए। डूँगरसिंह का राज्यकाल विक्रम संवत् १४८१-१५१० माना जाता है।

विक्रम संवत् १५७६ में रचित अमरसेन चरिउ के कर्त्ता माणिक्क राजा एक अच्छे कवि थे। इन्होंने नागसेन चरिउ नामक एक अन्य काव्य ग्रन्थ की रचना की थी। इनमें से अमरसेन चरिउ प्रकाशित हो चुका है। यह सात सन्धियों में विभक्त है। इन्होंने अपनी गुरु परम्परा के रूप में खेमकीर्ति, हेमकीर्ति, कुमारसेन, हेमचन्द्र और पद्मनन्दि का नाम लिया है। ये सभी भट्टारक थे। अमरसेन चरिउ में कलिंग देश दलबट्टण नामक नगर में राजा सूरसेन और उनकी रानी विजयादेवी से उत्पन्न कुमार अमरसेन का चरित्र निबद्ध किया गया है।

११वीं और १४वीं शताब्दी के बीच हुए कवि अद्दहमाण का सन्देश रासक एक सन्देश काव्य है। इसमें एक वियोगिनी के हृदय का सरस चित्रण है। इसकी प्रेरणा कवि को मेघदूत से मिली होगी।

१४वीं-१५वीं शताब्दी के मध्य हुए विद्यापति की कीर्तिलता एक ऐतिहासिक चरित काव्य है। जिसमें कवि ने अपने आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह का यशोगान किया है।

जोइंदु कवि द्वारा रचित परमप्पयासु तथा योग सार शुद्ध आत्मा के प्रतिपादन हेतु लिखी गई सुन्दर कृतियाँ हैं। इसमें जैन रहस्यवाद के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इनका समय ईसा की छठी शताब्दी की माना जाता है। जोइंदु ने परमात्म प्रकाश में परमात्मा या परब्रह्म की प्राप्ति के लिए मोक्षमार्ग का विवेचन किया है। योगसार में आत्मबोध के लिए गुरु का महत्त्व स्वीकार किया है। आत्मानुभूति से ही भवभ्रमण से छुटकारा मिल सकता है। शुद्ध आत्म तत्त्व को किसी भी नाम से अभिहित किया जा सकता है।

महयंदिण ने दोहा पाहुड़ की रचना बारहखड़ी काव्यपद्धति में की है। इसका रचनाकाल ७२० विक्रम संवत् माना जाता है। इसमें आत्म साधना का निरूपण हैं। विक्रम की १०वीं-११वीं शताब्दी में मुनि रामसिंह ने दोहा पाहुड़ की रचना की थी। इसका वर्ण्य विषय आत्मा है। इसका आधार आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाएँ हैं।

सुप्रभाचार्य नामक निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु ने वैराग्यसार की रचना की। ग्रन्थ की प्रतिलिपि विक्रम संवत् १८२७ की प्राप्त होती है। अत: इससे पूर्व की यह रचना है। इसमें कवि ने विषय वासनाओं से दूर रहने तथा आत्मस्वरूप की प्राप्ति हेतु संसारी प्राणियों को प्रेरित किया है।

की। इसमें भगवान् पार्श्वनाथ का जीवनचरित प्रौढ काव्य शैली में लिखा गया है। विक्रम संवत् १२०८ में श्रीधर कवि ने सुकुमाल चरिउ की रचना की। इसमें सुकुमाल स्वामी के पूर्व जन्म तथा वर्तमान जन्म का वर्णन है। सुकुमाल स्वामी की कथा भी जैन साहित्य में सुप्रसिद्ध कथा है। श्रीधर ने विक्रम संवत् १२३० में भविसयत्त चरिउ की रचना की। इसमें श्रुतपञ्चमी व्रत के फल का निरूपण किया गया है।

देवसेनगणि का लिखा 'सुलोचना चरित' अठाईस सन्धियों का काव्य है। इसमें जयकुमार और सुलोचना की कथा विस्तार से वर्णित है। जयकुमार चक्रवर्ती भरत के सेनापति थे, उनकी पत्नी का नाम सुलोचना था।

पन्द्रह सन्धियों में रचित 'पज्जुणा चरिउ' सिंह कवि द्वारा लिखा गया एक सुन्दर काव्य है। इसमें श्रीकृष्ण के पुत्र कामदेव प्रद्युम्न के जीवन और उनके द्वारा किए गए पराक्रमपूर्ण कार्यों का वर्णन किया गया है।

विक्रम संवत् १२१६ में श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र सूरि ने 'णेमिणाह चरिउ' की रचना की। यह रचना उन्होंने चालुक्यवंशी राजा सिद्धराज और कुमारपाल के अमात्य पृथ्वीपाल के आश्रय में रहकर की थी। इसमें बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्त निबद्ध है। पंडित लाखू या लक्खण ने विक्रम संवत् १२७५ में जिणदत्त चरिउ की रचना की। इसमें विमलमती और जिनदत्त के प्रेमाख्यान का काव्यमय निरूपण है।

गुर्जरदेश के निवासी कवि धनपाल ने 'बाहुबलि चरिउ' की रचना विक्रम संवत् १४५४ में की थी। इसमें भगवान् ऋषभ देव के पुत्र बाहुबली के आख्यान को आधार बनाया गया है। यह ग्रन्थ रचना चंदवाड नगर के राजा सारंग के मन्त्री वासद्धर (कीसधर) की प्रेरणा से की गई थी।

यश: कीर्ति विरचित 'चंदप्पह चरिउ' ग्यारह सन्धियों में विभक्त हैं। इसमें आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ को आधार बनाया गया है।

महाकवि रइधू को अनेक रचनाए प्राप्त होती है। इनका अनुशीलन डॉ. राजाराम जैन ने अपने सुप्रसिद्ध शोध प्रबन्ध रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन में किया है। इनकी रचनाओं में से कुछ प्रमुख रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

१. पासणाहचरिउ
२. महापुराण
३. सिद्धन्तत्थसा
४. पुण्णासवकहा
५. जसहर चरिउ
६. कोमुइकह पवंधु
७. वित्तसार

१४. मेहेसर चरिउ
१५. तोमिणाह चरिउ
१६. वलहद्द चरिउ
१७. सुक्कोसल चरिउ
१८. सम्मत्तुगुण णिहाणकव्व
१९. तिसट्ठमहापुरुसचरिउ
२०. जिणचरिउ

९. जीमंधर चरिउ
१०. सिद्धचक्कमाहप्प
११. सुंदसण चरिउ
१२. धण्णकुमार चरिउ
१३. सम्मइजिण चरिउ
२२. पज्जुण्ण चरिउ
२३. अप्पसंवोहकव्व
२४. दशलक्षण जयमाला
२५. सम्मत्त भावणा

कवि रइधू ग्वालियर के राजा डूँगरसिंह के समय हुए। डूँगरसिंह का राज्यकाल विक्रम संवत् १४८१-१५१० माना जाता है।

विक्रम संवत् १५७६ में रचित अमरसेन चरिउ के कर्त्ता माणिक्क राजा एक अच्छे कवि थे। इन्होंने नागसेन चरिउ नामक एक अन्य काव्य ग्रन्थ की रचना की थी। इनमें से अमरसेन चरिउ प्रकाशित हो चुका है। यह सात सन्धियों में विभक्त है। इन्होंने अपनी गुरु परम्परा के रूप में खेमकीर्ति, हेमकीर्ति, कुमारसेन, हेमचन्द्र और पद्मनन्दि का नाम लिया है। ये सभी भट्टारक थे। अमरसेन चरिउ में कलिंग देश दलबट्टण नामक नगर में राजा सूरसेन और उनकी रानी विजयादेवी से उत्पन्न कुमार अमरसेन का चरित्र निबद्ध किया गया है।

११वीं और १४वीं शताब्दी के बीच हुए कवि अद्दहमाण का सन्देश रासक एक सन्देश काव्य है। इसमें एक वियोगिनी के हृदय का सरस चित्रण है। इसकी प्रेरणा कवि को मेघदूत से मिली होगी।

१४वीं-१५वीं शताब्दी के मध्य हुए विद्यापति की कीर्तिलता एक ऐतिहासिक चरित काव्य है। जिसमें कवि ने अपने आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह का यशोगान किया है।

जोइंदु कवि द्वारा रचित परमप्पयासु तथा योग सार शुद्ध आत्मा के प्रतिपादन हेतु लिखी गई सुन्दर कृतियाँ हैं। इसमें जैन रहस्यवाद के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इनका समय ईसा की छठी शताब्दी की माना जाता है। जोइंदु ने परमात्म प्रकाश में परमात्मा या परब्रह्म की प्राप्ति के लिए मोक्षमार्ग का विवेचन किया है। योगसार में आत्मबोध के लिए गुरु का महत्त्व स्वीकार किया है। आत्मानुभूति से ही भवभ्रमण से छुटकारा मिल सकता है। शुद्ध आत्म तत्त्व को किसी भी नाम से अभिहित किया जा सकता है।

महयंदिण ने दोहा पाहुड़ की रचना बारहखड़ी काव्यपद्धति में की है। इसका रचनाकाल ७२० विक्रम संवत् माना जाता है। इसमें आत्म साधना का निरूपण हैं। विक्रम की १०वीं-११वीं शताब्दी में मुनि रामसिंह ने दोहा पाहुड़ की रचना की थी। इसका वर्ण्य विषय आत्मा है। इसका आधार आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाएँ हैं।

सुप्रभाचार्य नामक निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु ने वैराग्यसार की रचना की। ग्रन्थ की प्रतिलिपि विक्रम संवत् १८२७ की प्राप्त होती है। अतः इससे पूर्व की यह रचना है। इसमें कवि ने विपय वासनाओं से दूर रहने तथा आत्मस्वरूप की प्राप्ति हेतु संसारी प्राणियों को प्रेरित किया है।

१२वीं शताब्दी में कवि महानंद का लिखा हुआ 'आनंदा' नामक काव्य है। इसमें कवि ने बतलाया है कि संसार में कहीं सुख नहीं है। आत्मानुभव ही एकमात्र असीम, अनंत और अनुपम सुख का कारण है।

कवि लक्ष्मीचन्द ने सैंतालीस दोहों में दोहाणुवेहा की रचना की है। कवि का काल ग्यारहवीं शताब्दी है। इसमें अनित्य परभावों का त्याग कर नित्य आत्मभाव को प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है।

विक्रम संवत् १२११ में समाधिस्थ जिनदत्तसूरि की तीन अपभ्रंश रचनाएँ प्राप्त होती हैं—(१) उपदेशरसायन रास, (२) चर्चरी, (३) काल स्वरूपकुलकम्। कवि ने इनमें आत्मसाधना का निरूपण किया है।

कवि हरदेव ने १२वीं और १३वीं शताब्दी में मयण पराजय चरिउ की रचना की। यह एक रूपक काव्य है। कवि ने इसमें प्रतीकात्मक शैली में विकारों को दूर करने का संकेत किया है।

अपभ्रंश के अन्य कवियों में देवसेन, वुच्चराय, पाहल तथा वीर आदि प्रमुख कवि है। देवसेन ने सावयधम्मदोहा नामक गृहस्थाचार विषयक ग्रन्थ रचना की है। वुच्चराय ने मयणजुज्झ चरिउ तथा पाहल कवि ने मनकरहारास नामक प्रबन्धात्मक रचना की है। वीर कवि ने अराधनासार लिखा। जिसमें आराधनाओं का निरूपण है।[१]

इसके अतिरिक्त कुछ बौद्ध सिद्ध कवियों की रचनाएँ, जैन रास तथा स्तुति परक रचनाएँ, रूपक काव्य आदि अपभ्रंश की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। अपभ्रंश में कुछ व्यंग्य रचनाएँ भी लिखी गईं। हरिषेण की अपभ्रंश कृति धम्मपरिक्खा (धर्मपरीक्षा) ब्राह्मण धर्म पर कठोर व्यंग्य कृति है। ब्राह्मण पुराणों और आख्यान काव्यों में वर्णित कथाओं की असंगतियों तथा दुर्बलताओं पर प्रहार करते हुए हरिषेण ने जैनधर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादन किया है। कृति में ग्यारह सन्धियाँ हैं। विक्रम संवत् १०४० में इस कृति की रचना कवि ने की थी।

जिस तीव्र शैली का प्रयोग किया गया है, उसका एक उदाहरण से अनुमान किया जा सकता है। मनोवेग पंडितों से कहता है कि एक बार उसका धड़ कपित्थ के नीचे खड़ा रह गया था और शिर ने वृक्ष के ऊपर जाकर फल खाए थे। ब्राह्मण मण्डली इस पर विश्वास नहीं करती। वह रावण, जरासंध आदि के उदाहरण देता हुआ पितर श्राद्ध की चर्चा करता है—

इह लोइ विघ भेटाणु कंरति, परलोए पियर कहि विहि धरंति।
चिर काल मुया दूरंगयावि, ण्यारणविहि जोणि समुग्गया वि।
णियडत्थ कवित्थइं खाई मुंडु तव्खणे वि ण किं महु भरइ रुंडु।
घत्ता— केत्तिउ बहु जंपहु चित्रि वियप्पहु रावण आइ कहाणउ।
जत्तारिसु तं जइ तारिसु तोरण अलिउ महु वयणउ॥ ९। ११॥

और इस प्रकार के सभी तर्कों से वह एक ही निष्कर्ष निकालता है कि पुराण असत्य है।[१]

श्रुतकीर्ति की दो अपभ्रंश रचनाएँ कडवकबद्ध प्राप्त हुई हैं। साठ सन्धियों की परमेष्ठी प्रकाश सार और चवालिस सन्धियों का हरिवंशपुराण। प्रथम ग्रन्थ की रचना कवि ने विक्रम संवत् १५५३ में मालवा में स्थित उवचल ग्राम में की थी। दूसरी कृति की रचना गंगा यमुना की अन्तर्वेदी में स्थित अभयपुर नगर के काष्ठासंघ के चैत्यगृह में की। कवि की एक अन्य कृति 'धम्मपरिक्खा' का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[२]

इस प्रकार अपभ्रंश में अनेक साहित्यिक तथा दार्शनिक रचनाएँ लिखी गईं, जिनका किंचित्मात्र वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। मृगांकलेखा चरित इस परम्परा की अन्तिम कृति मानी जाती है। जिसका परिचय आगे प्रस्तुत है।

मइंकलेहा चरिउ : एक समीक्षात्मक अध्ययन

मइंकलेहा चरिउ का परिचय— भगवतीदास (भगौतीदास) का मइंकलेहा चरिउ (या चन्द्रलेखा) सबसे अन्तिम अपभ्रंश कृति मानी जाती है। इसका रचना काल विक्रम संवत् १७०० है। कृति में कडवकबद्ध शैली का पालन तो किया गया है, किन्तु समयानुकूल प्रभाव के अनुकूल दोहों के प्रयोग भी मिलते हैं तथा बीच-बीच में तत्कालीन काव्यभाषा का भी व्यवहार मिलता है। भगवतीदास देहली के भट्टारक गुणचन्द्र के प्रशिष्य तथा भट्टारक महेन्द्रसेन के शिष्य थे। इन्होंने हिन्दी में अनेक ग्रन्थों की रचना की है।[३] मइंकलेहा चरिउ की विक्रम संवत् १७०० की हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्रभण्डार में विद्यमान है। भगवतीदास अग्रवाल जैन थे।[४]

मंइकलेहा चरिउ का आरम्भ इस प्रकार किया गया है—

ॐ नमः सिद्धेभ्यः। श्रीमद् भट्टारक श्री माहेंदसेण गुरवे नमः।
पणविवि जिणवीरं णाणगहीरं, तिहुवणवइ रिसि राइ जई।
णिरुवम विस अच्छं सील पसच्छं, भणमि कहा ससिलेह सई॥

भगवती दास का जन्म अम्बाला जिले के बूढ़िया ग्राम में हुआ था। उनकी 'मुगती रमणी चूनड़ी' की रचना विक्रम संवत् १६८० में हुई थी। कवि के पिता का नाम किसनदास था। इनका गोत्र बंसल था।

---

१. रामसिंह तोमर : प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य और हिन्दी पर उनका प्रभाव पृ. १२१-१२२।
२. वही पृ. १६६।
३. रामसिंह तोमर : प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य और हिन्दी साहित्य पर उनका प्रभाव। पृ. १६६-१६७।
४. प्रो. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृ. २४४।

कहा जाता है कि चतुर्थ वय में इन्होंने मुनिव्रत धारण कर लिया था।

कवि भगवतीदास संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषा के अच्छे कवि और विद्वान् थे। ये बूढिया से योगिनीपुर (दिल्ली) आकर बस गए थे। उस समय दिल्ली में अकबर बादशाह के पुत्र जहाँगीर का राज्य था। दिल्ली के मोतीबाजार में पार्श्वनाथ का मन्दिर था। इसी मन्दिर में आकर भगवतीदास निवास करते थे।

रचनाएँ—कवि ने अपनी अधिकांश रचनाएँ जहाँगीर के राज्यकाल में लिखी हैं। जहाँगीर का राज्य १६०५ ई. से १६२८ ई. तक रहा। अविशिष्ट रचनाएँ शाहजहाँ के राज्य में १६२८-१६५८ ई. में लिखी गई हैं। कतिपय रचनाओं में कवि ने उनके लेखन काल का उल्लेख किया है। वृहत् सीता सेतु की रचना विक्रम संवत् १६८४ और लघु सीता सेतु की रचना विक्रम संवत् १६८७ में की है। मइंकलेहा चरिउ के विषय में कवि ने लिखा है—

सगदह संवदतीह तहा विक्कम राय महप्पए।
अगहण सिय पंचमि सोम-दिणे, पुण्ण ठियउ अवियप्पए॥

इससे द्योतित होता है कि विक्रम संवत् १७०० मार्गशीर्ष शुक्ला पञ्चमी को मइंकलेहा चरिउ पूर्ण हुआ था। उनकी उपलब्ध रचनाओं का उल्लेख श्री डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने इस प्रकार किया है।

१. ढंडाणा रास—यह रूपक काव्य है। इसमें बताया गया है कि एक चतुर प्राणी अपने दर्शन, ज्ञान, चरित्रादि गुणों को छोड़कर अज्ञानी बन गया और मोह मिथ्यात्व में पड़कर निरन्तर परवश हुआ चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करता है। अत: कवि सम्बोधन करता हुआ कहता है—

धर्म-सुकल धरि ध्यान अनूपम, लहि निजु केवल नाणा वे।
जम्पति दास भगवती पावहु सासउ-सुहु निव्वाणा वे॥

२. आदित्य रास—इसमें बीस पद्य हैं।

३. पखवाड़ा रास—इसमें बाईस पद्य हैं। पन्द्रह तिथियों में विधेय कर्त्तव्य पर प्रकाश डाला गया है।

४. दशलक्षण रास—इसमें चौंतीस पद्य हैं और उत्तम, क्षमादि दश धर्मों का स्वरूप वतलाया गया है। दश धर्मों को अवगत करने के लिए यह रचना उपादेय है।

५. खिंडी रास—इसमें चालीस पद्य हैं। इसमें भावनाओं को उदात्त वनाने पर जोर दिया है।

६. समाधि रास—इसमें साधु समाधि का चित्रण हुआ है।

७. जोगी रास—इसमें अड़तीस पद्य हैं। भ्रमवश संसार में भ्रमण करने वाले जीव को भ्रम त्याग अतींद्रिय सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहने के लिए संकेत किया है।

परेवहु हो तुम पेखहु भाई, जोगी जगमहि सोई।
घट घट अंतरि वसइ चिदानंदु अलखु न लखिए कोई॥
भववन भूल रह्यौ भ्रमिरावलु, सिवपुर सुध विसराई।
परम अतींद्रिय शिवसुख तजिकर विषयनि रहिउ भुलाई॥

८. मनकरहा रास—इसमें पच्चीस पद्य हैं। इस रूपक काव्य में मनकरहा के चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने और जन्म मरण के असह्य दुःख उठाने का वर्णन किया है और बताया है कि रत्नत्रय द्वारा ही जीव जन्म-मरण के दुखों से मुक्त हो शिवपुरी को प्राप्त करता है। रूपक को पूर्णतया स्पष्ट किया गया है।

९. रोहिणीव्रत रास—इसमें ब्यालीस पद्य हैं।

१०. चतुर बनजारा—इसमें पैंतीस पद्य हैं। यह भी रूपक काव्य है।

११. द्वादशानुप्रेक्षा—इसमें बारह पद्यों में द्वादश भावनाओं का निरूपण किया गया है।

१२. सुगन्धदशमी कथा—इसमें इक्यावन पद्यों में सुगन्ध दशमी व्रत के पालन करने का फल निरूपित किया गया है।

१३. आदित्यवार कथा—इसमें रविवार के व्रतानुष्ठान का वर्णन है।

१४. अनथमी कथा—इसमें छब्बीस पद्यों में रात्रि भोजन के दोषों पर प्रकाश डाला गया है और उसके त्याग की महत्ता बतलाई है।

१५. चूनड़ी अथवा मुक्ति रमणी की चूनड़ी—यह रूपक काव्य है।

१६. वीरजिनिंदगीत—तीर्थंकर महावीर की स्तुति वर्णित हैं।

१७. राजमती नेमीसुर ढमाल—इसमें राजमती और नेमिकुमार के जीवन को अंकित किया गया है।

१८. लघुसीतासतु—इसमें सीता के सतीत्व का चित्रण किया गया है। बारह माहों के मंदोदरी-सीता के प्रश्नोत्तर के रूप में भावों की अभिव्यक्ति हुई है। आषाढ़ मास के प्रश्नोत्तर को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जाता है—

मन्दोदरी—तब बोलइ मंदोदरी रानी, सखि, अषाढ घनघट घहरानी।
पीय गए तो फिर घर आवा, पामर नर नित मंदिर छावा॥
लवहिं पपीहे दादुर मोरा, हियरा उमा धरत नहिं धीरा।
बाहर उमहिं रहे चौपासा, तिय पिय विनु लिहिं उसन उसासा॥

सीता— करत कुशील बढ़त वहु पापू, नरकि जाइ तिउं हइ संतापू।
जिउ मधुबिंदु तनूसुख लहिए, शील विना दुर्गति दुःख सहिए॥

१९. अनेकार्थ नाम माला—यह कोपग्रन्थ है। इसमें एक शब्द के अनेकानेक अर्थों का दोहों में संग्रह किया गया है। इसमें तीन अध्याय हैं और प्रथम अध्याय में तिरेसठ, द्वितीय में एक सौ बाईस और तृतीय में इकहत्तर दोहे लिखित हैं। यह बनारसीदास की नाममाला से सत्तरह वर्ष बाद की रचना है।

२०. मृगांकलेखा चरित—इसका विवरण आगे दिया गया है। इस अपभ्रंश काव्य में काव्य तत्त्वों का पूर्णतया समावेश हुआ है। ग्रन्थ की भापा मिश्रित है। पद्धड़ीबन्ध में अपभ्रंश, दोहा, सोरठा आदि में हिन्दी और गाथाओं में प्राकृत भाषा का प्रयोग किया है।

इस प्रकार भगवती दास ने अपभ्रंश और हिन्दी में काव्य रचनाएँ लिखकर जिनवाणी की समृद्धि की है।[१]

भगवतीदास के विषय में डॉ. कामता प्रसाद जैन द्वारा दिया गया विवरण—

विवरण—श्री डॉ. कामता प्रसाद जैन ने हिन्दी जैन साहित्य के संक्षिप्त इतिहास में श्री भगवतीदास की रचनाओं का विवरण इस प्रकार दिया है—

श्री भगवतीदास जी की रचनाएँ श्री दि. जैन बड़ा मन्दिर मैनपुरी के शास्त्र भण्डार में विराजमान सं. १६८० के लिखे हुए गुटका में लिपिबद्ध हैं। आप प्रसिद्ध भैया भगवतीदास जी से भिन्न और पूर्ववर्ती हैं। सं. १६८० का उपर्युक्त गुटका उन्हीं के हाथ का लिखा हुआ है। उस समय उन्होंने जहाँगीर बादशाह का राज्य लिखा है और अपने को काष्ठासंघी माथुरान्वयी पुष्करगणीय भट्टारक सकलचन्द्र के पट्टधर मंडलाचार्य महेन्द्रसेन का शिष्य बताया है। यह गुटका उन्होंने संचिका (संकिशा?) में लिपिबद्ध किया था। यह अग्रवाल दिगम्बर जैन थे और अनेक स्थानों में रहकर उन्होंने धर्म साधन किया था। वैसे वह सहजादिपुर के निवासी थे, परन्तु संकिसा और कपिस्थल (कैथिया?) में आकर रहे थे, जो जिला फर्रुखाबाद में है। इनकी रचनाओं की भाषा अपभ्रंश प्राकृत के शब्दों से रिक्त नहीं है। इन्होंने (१) टंडाणा रास, (२) बनजारा, (३) आदत्तिव्रत रासा, (४) पखवाडे का रास, (५) दशलक्षणी रासा, (६) अनुप्रेक्षा भावना, (७) खीचड़ी रासा, (८) अनन्त चतुर्दशी चौपाई, (९) सुगंधदसमी कथा, (१०) आदिनाथ-शान्तिनाथ विनती, (११) समाधीरास, (१२) आदित्यवार कथा, (१३) चुनड़ी-मुकति रमणी, (१४) योगी रासा, (१५) अनथमी, (१६) मनकरहारास, (१७) वीरजिनेन्द्रगीत, (१८) रोहिणीव्रत रास, (१९) ढमालराजमती नेमीसुर, (२०) सज्ञानी ढमाल नामक रचनाएँ रची थीं, जो उपर्युक्त गुटका में लिपिबद्ध हैं। इनके अतिरिक्त आपकी एक अन्य रचना मृगांकलेखा चरित का पता आमेर भण्डार की सूची से चलता है। जैन सिद्धान्त भास्कर (भाग-४, किरण ३, पृ. १७७-१८४) में हमने इन सब रचनाओं का खास परिचय करा दिया है। इनमें 'ढमाल' छन्द की कृतियाँ उस समय की एक विशेप रचना है, जिसे लोग संभवत: कीर्तन की तरह गाया करते थे। उसमें संगीत की स्वरलहरी का ध्यान रखा गया है। संभव

है कि राधेश्याम जी की रामायण की तरह उस समय ढमाल शैली की रचनाएँ जनसाधारण के लिए शिक्षा के साथ-साथ मनोरंजन की चीज थीं। लोग उन्हें जयजयकार के साथ गाते थे। इसका उदाहरण देखिए—

पंच परम गुरु वंदिवि, करि सारद जयकारु।
गुरुपद पंकज पणमौं, सुमति-सुगति दातारु॥
सौरटि देस भला सब देसनि मइ परधानु।
मह मंडलु इउं राजति जिउं नभमंडलु भानु॥

कोटि जतन कोई करि है जीवन तौ नित नाहिं।
तनु धनु जीवनु विनसइ कीरति रहइ जग मांहि॥ ६०॥
मुनि महेन्द्रसेन गुरु तिंह जुग चरन पसाइ।
भाषतदास भगवती, थानि कपिस्थल आइ॥ ६१॥
नर करी जे गावहिं, सुणहि चतुर दे कानु।
भोगवि सुर-नर सुह-फल, पावहि सिवपुर थानु॥ ६२॥

कवि भगवतीदास की कविता में आकर्षण है—वह जनसाधारण के मन को मोहनेवाली है और उन्हें अध्यात्म रस का पान कराती है। कामसूत्र को जीतने के लिए वह खूब कहते हैं—

जगमाहिं जीवनु सपना, मन मनमथु पर हरिये।
लोहु कोहु मद माया तजि भवसागर तरिये॥

—सज्ञानी ढमाल

कवि की दृष्टि में सच्चा योगी कौन है? यह भी देखिए—

'पेषहु हो! तुम पेषहु भाई, जोगी जगमाहिं सोई।
घट घट अंतर बसइ चिदानंदु, अलषु न लषई कोई॥
भव वन भूलि रह्यौ भ्रमिरावलु, सिवपुर सुधि विसराई।
परम अतिंदिय सिव सुषु तजिकर, विषयनि रहिउ लुभाई॥'

—योगी रासा

अब कवि के सुभाषित नीति-पद्य में पढ़िए—

'जिण विणु जपु नवि सोहइ, तपु नवि बंभ विना।
तप विणु मुणि नवि सोहइ, पंकजु अम्भ विना॥
समकित विणु वरतु न सोहइ, संजमु धम्म विनां।
दया विणु धम्म न सोहइ, उद्दिमु कर्म विनां॥'

—खिचड़ी रासु

अनुप्रेक्षा भावना' में अनित्यत्व का चित्रण कवि की प्रतिभा का द्योतक है। देखिए—

'अवधू! जाणिए होधू, किछु देखिय नाहिं।
किउं रुचि मानि एहो, विहुडइं जो षिणमांहि॥
षिणमांहि जांहि विलास मंदिर, बंधु-सुत-वित अतिघण्ण।
जल-रेह-देह-सनेहु-तिय, दामनि दमक जिउं जोवनां॥
जिस हति जात न वार ला गई, बुलबुल जल पेषिए।
अवधू! परीक्षा कहौ जिअ, सिउ-धून किछु जगि देषिए?'

कवि की 'बनजारा' शीर्षक कविता जनसाधारण के लिए बड़ी रोचक रही होगी। क़वि ने उसे भी अध्यात्मरस की मादकता से भर दिया है। प्रारम्भ के दो-तीन पद्य देखिए—

चतुर बनजोर हो! नमणु करहु जिणराइ,
सारद पद सिर ध्याइ, ए मेरे नाइक हो॥ १॥
चतुर बनजारे हो! काया नगर मझारि,
चतुर बनजारा रहइ मेरे नाइक हो।
सुमति कुमति दो नारि तिहि संग,
नेहु अधिक गहइ, मेरे नाइक हो॥ २॥
चतुर बनजारे हो! तेरइ म्रिगनैनी तिय दोइ,
इक गोरी इक साँवली, मेरे नाइक हो।
तेरे गोरउ काज सुलोइ सांवल हइ,
लड़वावली, मेरे नाइक हो॥ ३॥ इत्यादि।

सारांशत: कवि भगवतीदास की सब रचनाएँ ही समष्टि को लक्ष्य करके लिखी गई हैं। कवि की भावना यही रही है कि जनता का अधिक-से-अधिक उपकार हो।[1]

काष्ठा संघ— भगवतीदास ने अपने को काष्ठासंघी माथुरान्वयी पुष्करगणीय भट्टारक सकलचन्द्र के पट्टधर मण्डलाचार्य महेन्द्रसेन का शिष्य बताया है। जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्पराओं में कई गच्छों का प्रादुर्भाव स्थान विशेष के नाम पर हुआ है, उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में भी यह माना जाता है कि काष्ठासंघ की उत्पत्ति काष्ठाग्राम में हुई है। यह काष्ठाग्राम या तो मथुरा के पास जमुना तट पर स्थित काष्ठाग्राम है या फिर दिल्ली के उत्तर में यमुना के किनारे स्थित काष्ठाग्राम है।

इस संघ की उत्पत्ति काल के बारे में विद्वान् एकमत नहीं हैं। दर्शनसार के कर्ता देवसेनसूरि (वि.सं. ९९०) लिखते हैं कि आचार्य जिनसेन के सतीर्थ्य विनयसेन के शिष्य कुमारसेन ने वि.सं. ७५३ में काष्ठा

---

१. डॉ. कामताप्रसाद जैन : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ. १००-१०४।

संघ की स्थापना की थी।[१] पं. बुलाकीदास ने वचनकोश (सत्रहवीं शताब्दी) में लिखा है कि काष्ठा संघ की उत्पत्ति उमास्वामि की पट्ट परम्परा में लोहाचार्य द्वारा अगरोहा नगर में हुई थी ओर काष्ठ की प्रतिमा के पूजन का विधान करने से ही इस संघ का नाम काष्ठासंघ पड़ा।[२] १२६२ ई. से १६०८ ई. तक के कुल दस अभिलेखों में इस संघ का उल्लेख मिलता है, किन्तु साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर हम इतना कह सकते हैं कि यह संघ दसवीं शताब्दी में अस्तित्व में आ चुका था।

काष्ठा संघ के आचार्य कुमारसेन के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने मयूर के पंखों से बनी पिच्छी को छोड़कर गाय के बालों से बनी पिच्छी धारण की थी।[३]

काष्ठासंघ के चार प्रमुख गच्छों का उल्लेख विभिन्न अभिलेखों में मिलता है—(१) माथुर गच्छ, (२) लाटवावा गड गच्छ, (३) नन्दितट गच्छ, (४) बागड़ गच्छ। माथुर गच्छ का उल्लेख ११७४ ई. ११७९ ई. और १४८५ ई. के अभिलेखों में मिलता है। ११७७ ई. से १५७५ ई. के मध्य हुए इस गच्छ के कई आचार्यों के नाम उपलब्ध होते हैं। जैसे—ललितकीर्ति, माधवसेन, उद्धवसेन, देवसेन, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति. यशकीर्ति, मलयकीर्ति, गुणभद्र, भानुकीर्ति, कुमारसेन, विजयसेन आदि।[४]

मइंकलेहा चरिउ में आगत पात्र

मृगांकलेखा चरित्र के पात्रों को चार विभागों में विभक्त किया है—

१. पुरुष पात्र, २. नारी पात्र, ३. आदर्श व उपमेय पात्र, ४. भवान्तर पात्र

पुरुष पात्र

अवनिसेन (राजा)	कोतवाल	पल्लीपति (तस्करसमूह)
सागरदत्त/मतिसागर (मन्त्री)	अनंगसेन (श्रेष्ठपुत्र)	वैश्रवण (वणिक्प्रमुख)
सागरचन्द्र (मन्त्री पुत्र)	चन्द्रसूरि (निमित्तज्ञानी)	सुरेन्द्रदत्त (मृगांकलेखा का पुत्र)
धनसार (श्रेष्ठी)	भीम (राजा)	नरदेव (धनद)
धनञ्जय (श्रेष्ठीपुत्र)	गोमुख (यक्ष)	वसन्तसेठ
धनमित्र (सखा)	चित्रगुप्त (सार्थवाह)	मतिरेख (तापस)

१. जैन धर्म (ले.पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ. ३०५)।
२. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास पृ. २७६।
३. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैनधर्म पृ. ३०५।
४. Jain Sects and Schools P. 117., डॉ. सुरेश सिसौदिया : जैन धर्म के संप्रदाय पृ. १०६-१०७।

सुन्दर (राजा)
विमलमति (श्रेष्ठी)
कनक (ध्वज राजा)
राजपुरोहित
कनकबाहू (मन्त्रवादी)
श्रीविजय (राजा)
प्रतिसार (कापालिक)
हेडम्ब (राक्षस)
रक्षकयक्ष (दस सुभट)

नारी पात्र

जयवती (रानी)
पद्मा (सेठानी)
मृगांकलेखा (नायिका)
रम्भा (सेठानी)
चित्रलेखा (सखि)
पत्रलेखा (सखि)
दासी
चक्रेश्वरी देवी (यक्षी)
सार्थवाह (पत्नी)
धनवती (सेठानी)
ललिता (गोपवधू)
मधुरी (सेठानी)
कामसेना (वेश्या)
वेश्या की माता
गुणरेखा (सुरेन्द्रदत्त की पत्नी)
राक्षसी
नव स्त्रियाँ

आदर्श व उपमेय पात्र

सीता सती
द्रौपदी सती
कीचक
रावण
रोहिणी
रति
कामदेव
लक्ष्मी देवी
बुद्धि देवी
कीर्ति देवी
तिलोत्तमा अप्सरा
कृष्ण
बलराम
गौरी
वृहस्पति
इन्द्र
चन्द्र
सूर्य
कुन्ती

भवान्तर पात्र

हरिषेणा (राजा)
जिनसेना (रानी)
अनंगकुमार (राजपुत्र)
काम नामक (ब्राह्मण)
रतिसेना (ब्राह्मणी)
कन्दर्प (ब्राह्मण पुत्र)
शतकीति (तपस्वी)
पद्मदेव (विप्र)
पद्मा (विप्रपत्नी)
कमला (विप्रसुता)
रुद्रदत्त (विप्र)
सारमेय
अनंगसेना (वेश्या)
कामलता (वेश्यापुत्री)
जिनदास (श्रेष्ठी)
विमला (सेठानी)
अनंगरुचि (पुत्र)
इन्द्राणी

अन्य चण्डी, दुर्गा, क्षेत्रपाल, वनदेवी, जल देवता, वान देवता, नभ देवता, जलघर विपधरादि, थलचर प्राणी!

मइंकलेहा चरिउ की कथावस्तु

प्रथम सन्धि—ग्रन्थ के प्रारम्भ में भगवान् महावीर को प्रणाम किया गया है। अनन्तर शील के प्रभाव का वर्णन किया गया है। इन्द्रियों में रसनेन्द्रिय, कर्मों की सेना में मोहनीय कर्म, गुप्तियों में मनोगुप्ति और व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत कष्ट साध्य है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का माहात्म्य वर्णन कर कथा प्रारम्भ की गई है।

समस्त द्वीपों में जम्बूद्वीप प्रधान है। वहाँ मेरु की दक्षिण दिशा में अवन्ति देश है। उसमें उज्जयिनी नगरी है। वहाँ इन्द्र के वैभव को जीतने वाला अवनिसेन राजा था। उनकी जयावती नामक रानी थी। उसी नगरी में मतिसागर (सागरदत्त) नामक मन्त्री रहता था। उसका सागरचन्द्र नामक पुत्र था। उसी नगरी में धनसार नामक सेठ की स्त्री रम्भा से मृगांकलेखा नामक पुत्री हुई। एक बार सागरचन्द्र ने मृगांकलेखा को देखा। वह काम से पीड़ित हो गया। मन्त्री मतिसागर के कहने पर धनसार श्रेष्ठी ने अपनी पुत्री सागरचन्द्र को देना स्वीकार कर लिया। एक बार मृगांकलेखा की सखियों में से एक ने व्यापारी पुत्र अनंगसेन की प्रशंसा की तथा उसे श्रेष्ठ वर बतलाया। मृगांकलेखा ने लज्जावश उसका निवारण नहीं किया। इसपर सागरचन्द्र क्रुद्ध हो गया। उसने अपने मित्र के कहने से मृगांकलेखा से विवाह तो कर लिया, किन्तु वह उसमें रागयुक्त नहीं हुआ। इस प्रकार उस भोली नारी के इक्कीस वर्ष बीत गए। एक बार पति के द्वारा प्रताड़ित होने पर वह अपने माता-पिता के घर रहने लगी।

किसी दिन मृगांकलेखा के महल के निकट किसी स्त्री ने कहा कि कुलवती स्त्रियों का पिता के घर में रहना श्रेष्ठ नहीं है। श्वसुर के घर में दासी बनकर रहना श्रेष्ठ है। पड़ौसिन की बात सुनकर मृगांकलेखा अपनी सखी के साथ पतिगृह चली गई। सास ने यद्यपि उसका तिरस्कार किया, तथापि श्वसुर ने उसे अपने घर आश्रय दे दिया। इस प्रकार वह वहाँ पर सात वर्ष रही।

एक बार लाडदेश के राजा भीम के ऊपर अवन्तिसेन ने आक्रमण कर दिया। अवन्तिसेन के कहने पर सागरचन्द्र भी युद्ध के लिए चल पड़े। मृगांकलेखा पति के साथ जाना चाहती थी, किन्तु पति ने तिरस्कार कर दिया।

एक बार स्कन्धाकार में चक्रेश्वरी देवी ने स्त्री वेष धारण कर उसे प्रतिबोधित किया। वह अपने किए हुए तिरस्कार रूप कार्य पर पछताया। चक्रेश्वरी देवी द्वारा आकाशगमन की गुटिका ले वह मृगांकलेखा के महल में आया। उसका मृगांकलेखा से मिलन हुआ। जब वह जाने लगा तो मृगांकलेखा के आशंकित होने पर उसने उसे रत्नजडित स्वनामांकित मुद्रा दे दी। एक रात्रि अशुभ स्वप्न देखकर वह काँप गई और उसने पञ्चनमस्कार मन्त्र का स्मरण किया।

द्वितीय सन्धि—कोई उत्तम कल्पवासी देव का जीव अपनी आयु पूर्ण कर शशिलेखा के उदर में अवतरित हुआ। दासी ने पद्मा सेठानी से पुत्रवधू के गर्भवती होने की बात कह दी। इसे सुनकर पद्मा

अतिशय रूप से क्रुद्ध हो गई। वह अत्यंत दुखित हो दुर्वचन कहने लगी। हे कुल को कलंकित करने वाली निर्लज्ज! तूने मेरा मुख काला कर दिया, गोत्र का नाश कर दिया। मृगांकलेखा ने कहा कि आपके पुत्र प्रच्छन्न रूप में मित्र सहित रात्रि में यहाँ आए थे और चिह्न स्वरूप अपनी मुद्रा देकर गए हैं। हे माँ! मोतियों से जड़ित यह उनका करकंगन देखो, जो वे मुझे देकर गए हैं। किंकर को भेजकर कुमार से पूछ लीजिए, अन्यथा मैं पापिनी स्त्री कहलाऊँगी। सास ने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। उसने तिरस्कार के साथ उसे चित्रलेखा सखी सहित घर से निकाल दिया। मृगांकलेखा अपने माता-पिता के घर गई, किन्तु उन्होंने भी उसे निर्ममत्व भाव से छोड़ दिया। पद्मा ने कोतवाल के द्वारा सेठ धनसार के यहाँ सन्देश भेज दिया कि यह मृगांकलेखा आपके द्वारा रखने योग्य नहीं है। धनसार सेठ ने अपने पुत्र के समझाने पर भी विश्वास नहीं किया और खोटे भिखारियों की भाँति शीघ्र ही निकालकर कपाट बन्द कर दिए।

चित्रलेखा के साथ मृगांकलेखा ने वन में गमन किया। उसके रोने पर जलचर जीव रोने लगे। आकाश में नभचारी रोने लगे। भयंकर अटवी में सिंहादि क्रूर प्राणी भी रोने लगे। सारा पृथ्वीमंडल काँपने लगा। अपने बहुत से बैलों पर धन लादकर कोई चित्रगुप्त नामक सार्थवाह वहाँ आ पहुँचा। उसने मृगांकलेखा को अपने कटक के साथ रख लिया। उसकी पत्नी भी उसे पुत्री के समान मानने लगी। एक दिन चित्रलेखा अँधेरे में समीप के ही सघन वन में ईंधन और जल लेने हेतु गई हुई थी कि वहीं पर दूर से ही भिल्लराज द्वारा देखी गई। वह उसे अतिशीघ्र पकड़कर अपने घर ले आया। सब जगह खोज लेने पर चित्रलेखा किसी तरह प्राप्त नहीं हुई। मृगांकलेखा रोने लगी। सार्थवाह ने उसे समझाया। आश्वस्त की गई उसके सात दिन बीत गए। इस बीच वह सार्थ लाड देश के वन प्रदेश में पहुँचा। उस वन में उन्हें तस्करों का समूह मिला। अँधेरी रात्रि में उन दोनों का भयानक युद्ध हुआ। लुटेरे सार्थप्रमुख चित्रगुप्त को मारकर जंगल में भाग गए। मृगांकलेखा चार दिन दुर्गम वन में भटकती रही। इसी बीच उसने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के जन्म पर सुखी-दु:खी होती हुई वह आनन्दित हुई। वनदेवी ने उसे आश्वासन दिया। उत्तम वस्त्र में बालक को आच्छादित कर तथा छाया में रखकर शरीर प्रक्षालनार्थ सरोवर में गई। इसी बीच एक कुत्ते ने बालक युक्त पोटली को मुँह में दबा लिया। उसे वह सुमनसपुर गाँव ले गया। वहाँ पर उसने पोटली फाड़ने के लिए पृथ्वी पर रखी। बालक रोने लगा। वैश्रवण सेठ ने कुत्ते को ललकारा और एक शिशु को देखा। वह बालक को अपने घर ले आया। सेठ और सेठानी ने उसका नाम सुरेन्द्रदत्त रखा। बालक के पुण्य प्रभाव से सेठ धनपति हो गया। कालक्रम से सेठ की पत्नी धनवती ने नरदेव और धनद नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। वे दोनों तरुण हुए। विज्ञान, कला और कौशल में प्रवीण सुरेन्द्रदत्त अपने वैभव द्वारा दीन और अनाथों का पोषण करने लगा।

मृगांकलेखा ने बालक को नहीं पाया तो वह दु:खी हुई। उसने करुण विलाप किया। उस आक्रन्दन को गोप पत्नी ललिता नामक ग्वालिनी ने सुना। करुणाशील वह सती को अपने घर ले गई। उसने धनसार की पुत्री को धैर्य बँधाया। मृगांकलेखा गोपवधु ललिता के यहाँ ठहर गई। वसन्त नामक वणिक् गोकुल

का निरीक्षण करने आया। मृगांकलेखा को देखकर वह उस पर मोहित हो गया। वसन्त सेठ ने ग्वालिन से कहा कि उसके घर मृगांकलेखा सुख से रहेगी। ग्वालिन ने उस पर विश्वास कर उसे मृगांकलेखा सौंप दी। उसके घर रहते हुए मृगांकलेखा के बाईस दिन बीत गए। एक दिन अर्द्धरात्रि में पापयुक्त हो तो वह सेठ महल के शिखर पर अचानक चढ़ आया और जैसे ही उसने अपने प्रिय समूह को देखा कि भय से काँप गया। शिखर में छिद्र कर नीचे उतरते हुए उसने अपना मस्तक फोड़कर प्राण त्याग दिए। धमाका सुनकर सेठानी वहाँ आई और उसने समझ लिया कि सेठ पापी हो गया। उस निर्दोष सती को देखकर सेठानी भयभीत हो गई। उसने उसे अपने भवन से निकालकर जंगल में छुड़वा दिया। गोकुल की ओर जाती हुई मृगांकलेखा मार्ग भूल गई। वह मतिरेख नामक तापस के मठ में क्षण भर विश्राम हेतु ठहर गई। आगे वह मन्दिर पुर नगर गई। उस ग्राम के स्वामी के किंकरों ने उसे पकड़ लिया और वह चण्डी मन्दिर ले जाई गई। एक स्त्री ने कहा, सुन्दर नामक राजा की पत्नी पुत्र जन्म पर दस पुरुष एवं दस स्त्रियों की बलि देना चाहती है। अपना मरण जानकर सब रो रहे हैं, क्योंकि अभी तक उन्नीस थे, तुम्हारे आने से पूरे बीस हो गए हैं। अत: तत्काल ही बलि दी जाएगी। मृगांकलेखा ने राजा से कहा कि अकेले मुझे मार दीजिए, शेष को छोड़ दीजिए। राजा द्वारा पूछे जाने पर उसने कहा कि जहाँ जीववध हो रहा हो, वहाँ मैं ठहर भी नहीं सकती। तब सुन्दर नाम वाले राजा ने दया युक्त हो उसे छोड़ दिया और उसके कहने पर सबको छोड़ दिया।

चन्द्रलेखा नगर की ओर जा रही थी। वहाँ उसने दीर्घकाय सिंह को देखा। सिंह सती के प्रभाव से चला गया। आगे उसे एक राक्षसी मिली। सती ने पंच नमस्कार मन्त्र का स्मरण किया। उसके प्रभाव से राक्षसी उपशान्त हो गई। नगर के निकट जल से भरा सरोवर था। मृगांकलेखा ने जल पिया और धैर्य धारण कर मठ के भीतर सो गई।

रात्रि बीती। प्रात:काल हुआ। उस मार्ग पर कामसेना वेश्या आई। वह मृगांकलेखा को अपने घर ले गई। उसने मृगांकलेखा को वेश्या बनाना चाहा। मृगांकलेखा रोने लगी। उसी दिन चोर सोती हुई वेश्या को मारकर उसका धन चुराकर ले गए। सती की साँकल क्षण भर में अपने आप टूट गई। कामसेना वेश्या की माता ने राजा को कहलाया कि मेरे घर पर एक तपस्वी नारी है, जो आपके स्नेह योग्य है। राजा उसे ले जाने लगा, किन्तु मृगांकलेखा भूताविष्ट महिला जैसी बन गई। कुमारी के शरीर में एक मन्त्रवादी के द्वारा अवतारित ज्वालामालिनी ने राजा से कहा दिया कि यह सागरचन्द्र की प्रिया है और दैववश इस अवस्था को प्राप्त है। शील रक्षण हेतु यह पागल बन गई है। राजा द्वारा आमन्त्रित होकर वह राजमन्दिर में ही ठहर गई।

तदनन्तर मूल और उत्तर गुणों के निलय परमावधि ज्ञान के धारी एक मुनि वहाँ पधारे। भूपति ने नगरवासियों के साथ मुनिराज की चरणवन्दना की। मुनि ने धर्मोपदेश दिया। राजा के द्वारा पूछने पर मुनिराज ने कहा कि सिद्धार्थपुर की दानशाला में मृगांकलेखा का पुत्र और पति से समागम होगा।

दानशाला का निर्माण कराकर राजा ने हाथ जोड़कर सती से कहा कि हे पुत्री! तुम दानशाला में ठहरो, अत्यल्प समय में वहीं आपके पति मिलेंगे। विमलपति नामक सेठ ने राजा से कहा कि इस दृढ़शीला नारी को मेरे घर में एक स्थान पर रख दीजिए। सेठ के वचन सुन मृगांकलेखा उस साधर्मी के घर स्थायी रूप से रहने लगी।

एक दिन वणिक्-श्रेष्ठी के महल में एक राजपुरोहित आया। उसने श्रेष्ठी के सम्मुख राजा के वचनों को कह सुनाया कि हे श्रेष्ठी! आपका पुत्र राजकीय गुणों से अलंकृत है। राजा उसे अपनी मृगनयनी पुत्री देना चाहते हैं। सेठ की पत्नी ने जब यह सुना तो वह ईर्ष्या से भर गई। दूसरे की स्त्री का जाया बेटा मेरे घर का प्रधान है और राजा उसे अपनी राजकन्या देना चाहता है। सेठानी ने उसे मारने का निश्चय कर लिया। उसने विषमिश्रित मोदक दासी को देकर कहा ये बड़े और छोटे मोदक क्रमश: बड़े और छोटे पुत्रों को दे देना। दासी गई। सुरेन्द्रदत्त का उस दिन एक भुक्ति व्रत था। उसने लड्डू नहीं खाया। शेष दो भाइयों ने मोदक खा लिए। फलस्वरूप वे दोनों वहीं मर गए। सेठ ने सुरेन्द्रदत्त से आद्योपान्त सारा वृत्तान्त बतलाकर उसके पिता की मुद्रा सौंप दी और अपने नगर की ओर जाने को कह दिया। सुरेन्द्रदत्त चला। मार्ग में चक्रेश्वरी देवी ने उसे बतलाया कि सिद्धार्थपुर नगर में कनकध्वज राजा रहता है। वहीं आपकी माता हैं तथा उन्हीं के मृगांकलेखा नामकी दानशाला है। वहीं पर आपके पिता आएँगे। उनसे मिलने की अवधि अभी एक माह शेष है। सुरेन्द्रदत्त ने मन में भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार किया और सिद्धार्थपुर की ओर चला।

तृतीय सन्धि—अपने माता-पिता के दर्शन की अभिलाषा से श्रेष्ठ कुमार सुरेन्द्रदत्त सिद्धार्थपुर की ओर चल पड़ा। लाड देश में राजा अवनिसेनने समस्त सुभटों को विग्रह निग्रह के द्वारा अधीनस्थ कर लिया और शीघ्र ही शत्रुञ्जय के नरेश को वश में कर वहाँ सोलह वर्ष ठहरा रहा। अनन्तर शत्रुञ्जय नरेश के अवसान के बाद उसने सब किंकरों को मुक्त कर दिया। सागरचन्द्र मन में अपनी प्रिया का स्मरण कर स्नेह संतप्त हुआ कटक से चल पड़ा। एक कापालिक रास्ते में मिला। वह एक पुरुष को मार रहा था। कुमार ने कापलिक को क्षत-विक्षत कर उस पुरुष की रक्षा की तथा मरते हुए कापालिक को णमोकार मन्त्र दिया, जिससे वह व्यन्तर योनि में देव हुआ। सागरचन्द्र अपनी जन्मभूमि की ओर चल पड़ा। अपने नगर में पहुँचकर कुमार ने अपने पिता को अर्जित सम्पत्ति सौंप दी। पुन: विरह से जर्जरित मृगांकलेखा के उज्जवल भवन की ओर चल पड़े। वहाँ मृगांकलेखा को न पाकर माँ से पूछा। माँ ने उसके निर्वासन की बात बतला दी। कुमार दु:खी होकर वन में चला गया। वहाँ एक पर्वत पर चढ़ गया। कापालिक ने, जो कि व्यन्तर देव हुआ था, उसे आश्वासन दिया कि तुम्हारी प्रिया सिद्धार्थपुर में मिलेगी।

कुमार आगे चल पड़ा। मार्ग में एक उपद्रव करने वाले देव से उसने पंचनमस्कार मन्त्र का स्मरण कर रक्षा की। मार्ग में परेशान होने पर यक्ष देव ने पुन: उसे आश्वस्त किया। मार्ग पर रक्षा की। मार्ग में परेशान होने पर यक्ष देव वे पुन: उसे आश्वस्त किया। मार्ग में अनेक संकटों को पार करने वाली

चित्रलेखा उसे मिली। दोनों सिद्धार्थपुर की ओर चल पड़े। वहाँ मन्दिर में कुमार सुरेन्द्र दत्ता आष्टाह्निक पूजा कर रहा था। उस महापूजा को देखने के लिए मृगांकलेखा भी आई। कुमार तथा मृगांकलेखा एक-दूसरे को देखकर कुछ सोच ही रहे थे कि चक्रेश्वरी देवी ने आकर सब प्रकट कर दिया। माँ और पुत्र का मिलन हुआ। चक्रेश्वरी देवी ने कुमार मे यह भी कहा तुम्हारा इसी माह दानशाला में पिता से मिलाप होगा। कुछ दिनों बाद दानशाला में सागरचन्द्र आया। उसने कुमार को देखकर अनुमान लगा लिया कि यह मेरा पुत्र है। दोनों का परिचय हुआ। जब पिता-पुत्र का वार्त्तालाप हो रहा था तो दोनों ने आती हुई दो नारियों को देखा चन्द्रलेखा के साथ चित्रलेखा भी आ रही थी। सब मिलकर प्रसन्न हुए। कनकध्वज नरेश वहाँ आए। राजा ने सुरेन्द्रदत्त को अपनी कन्या दी। अनन्तर वे अपने देश की ओर आए। सागरचन्द्र ने अपने नगर में पहुँचकर माता-पिता के चरणों में प्रणाम किया और भेंट लेकर राजा से भेंट की। सागरचन्द्र अपने घर सपरिवार सुख से रहने लगा।

चतुर्थ सन्धि—एक बार मृगांकलेखा सांसारिक भोगों से विरक्त हो गई। सागचन्द्र भी विरक्त हो गए। एक दिन अवन्ती नगर के बाह्य उद्यान में युग्मन्धर केवली आए। केवली की दिव्यध्वनि हुई। गणधर देव ने दश धर्मों का व्याख्यान किया। मृगांकलेखा ने वहाँ अपने भवान्तर पूछे। गणधर देव ने मृगांकलेखा के भवान्तरों का निरूपण किया। पूरी कहानी सुनाकर अन्त में कहा कि तूने एक तपस्वी को दूषण लगाया था और इस चित्रलेखा ने पूर्वजन्म में शतकीर्ति तपस्वी को दोष लगाकर जो पापबुद्धि की थी, उसी से दोनों को दु:ख भोगना पड़ा। मृगांकलेखा ने जो इक्कीस घड़ी तक हंसिनी को हंस से पृथक् करके दुख में स्थापित किया था, उसी कारण इक्कीस वर्ष तक पतिवियोग का दु:ख प्राप्त हुआ। क्षमाधारी शतकीर्ति सागरचन्द्र हुआ। जो जीव जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है।

गणधरदेव के उपदेश को सुन मृगांकलेखा ने पति के साथ श्रेष्ठ संयम धारण कर लिया। श्रेष्ठी सुत सागरचन्द्र को मोक्ष प्राप्ति हुई। मृगांकलेखा स्वर्ग में देव हुई। वह मनुष्य जन्म पाकर निर्वाण पद को प्राप्त होगी।

इस संसार में शील ही सबसे बड़ा है। शील से सारे कार्य सधते हैं। शील के द्वारा उभयलोक में सुख मिलता है।

इस प्रकार चार सन्धियों में कथा समाप्त हुई।

अञ्जना पवनञ्जय कथा और मइंकलेहा चरिउ के कथानकों में पर्याप्त साम्य है। अन्तर केवल यही है कि मृगांकलेखा को निर्वासन के मध्य अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा, उसकी अपेक्षा अञ्जना को कम विपत्तियों का सामना करना पड़ा। मृगांकलेखा को अनेक बार अपने शील की रक्षा करनी पड़ी। अञ्जना के सामने इस प्रकार की विपत्ति नहीं आई। दोनों कथाओं में पति के तिरस्कार का कारण पूर्वजन्म का कर्म है। दोनों कथाओं में पुत्रवधू के निष्कासन में सास की प्रमुख भूमिका रहती है। श्वसुर की भूमिका पुत्रवधू के प्रति अपेक्षाकृत कम रहती है। मृगांकलेखा के पति सागरचन्द्र को मोक्ष की

प्राप्ति हुई। अञ्जना के पुत्र को मोक्ष की प्राप्ति हुई। दोनों ही कथाओं में मुनिराज द्वारा भवान्तर कहे जाने का प्रसंग है। मइंकलेहा चरिउ को अपनी कथा लिखने की प्रेरणा अञ्जना पवनञ्जय वृत्तान्त से प्राप्त हुई होगी। मृगांकलेखा चरित में चक्रेश्वरी देवी अनेक बार सहायक होती है। अञ्जना कथानक में एक बार गन्धर्व सहायता करता है।

मइंकलेहा चरिउ की भाषा और शैली—मइंकलेहा चरिउ एक चरित काव्य है. जो कि अपभ्रंश में लिखा गया है। यह मर्मस्पर्शी काव्य है। इसका जीवन व्यापी सन्देश शील को महत्ता प्रदान करना है। शील पालन करने के मार्ग में अनेक कठिनाईयों का भी सामना करना पड़ सकता है; क्योंकि कर्म किसी का पीछा नहीं छोड़ते। होनहार होकर ही रहती है। चरित काव्य का नायक या नायिका कर्म से जूझती रहती है। मृगांकलेखा भी शील का पालन करने में तत्पर रहती है। यह काव्य मृगांकलेखा के यशस्वी कार्यों और चरित्र से संबद्ध है। कथावस्तु अधिक विस्तृत न होते हुए भी प्रभावक है। इसमें मृगांकलेखा के सूक्ष्म भावों और दशाओं का चित्रण किया गया है। सन्धि में विभाजन करते हुए पूर्वजन्मों की भवावलि का भी नियोजन किया गया है। नायक और नायिका के सौन्दर्य का भी चित्रण किया गया है। इसमें कोई एक खलनायक न होकर नाना प्रकार की विपत्तियों में अनेक पात्र खलनायक या खलनायिका की भूमिका निर्वाह करते हैं। कवि का उद्देश्य प्रेयस् पर श्रेयस् की विजय है। रति अन्त में विरक्ति में बदल जाती है; क्योंकि सांसारिक पीड़ाओं से उन जीवों का मन हट जाता है, जिनकी भवितव्यता अच्छी होनी होती है। मंइकलेहाचरिउ का कथानक बिखरा हुआ न होकर सूचीबद्ध है।

अवान्तर कथाओं का अभाव होने के कारण कथानक में बाधा खड़ी नहीं होती। चरित की समग्रता प्रदर्शित करने हेतु जीवन के विविध व्यापार प्रेम, विवाह, सैनिक अभियान, युद्ध, दीक्षा, तपश्चरण आदि के वर्णन प्राप्त होते हैं। कथानक में सम्भोग शृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ छाया हुआ है। नायिका की विरह अवस्था का वर्णन किया गया है, किन्तु कर्म से प्रेरित नायक प्रारम्भ में नायिका से विरत रहता है। बाद में नायक को अपनी भूल मालूम पड़ती है। वह नायिका से मिलने को आतुर हो जाता है। नायक और नायिका का मिलन भी होता है, किन्तु परिस्थितियों वश युद्ध में नायक को जाना पड़ जाता है। नायिका पुनः विरह की पीड़ा का अनुभव करती है। दुर्भाग्य उसका पीछा नहीं छोड़ता है। वह कर्मों के फल को समतापूर्वक भोगती है। कर्मों के फल को समतापूर्वक स्वीकार करना श्रमण संस्कृति की विशेपता है। शील व्यक्ति की साधना है। शील के माहात्म्य के विषय में भगवतीदास कहते हैं कि शीलवान् के निकट न आपत्तियाँ आती हैं, न ठहरती हैं। शीलवान् का यश इतना विस्तृत होता है कि त्रिभुवन में भी नहीं समाता है। शील के होने पर जीव मेरु जैसी श्रेष्ठ प्रशंसा को प्राप्त होता है और शील के विना निर्भय होकर कष्ट सहता है। शील के प्रभाव से सीता अग्निकुण्ड से वाहर निकल आई तथा द्रोपदी भी शील के होने पर वन में अडिग रही। (पृ. १)

उज्जयिनी का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"जहाँ की स्त्रियाँ ऐसी लगती हैं, मानों रूप का ही सार हों और जहाँ के पुरुष ऐसे लगते हैं, मानों कामदेव के अवतार हैं। जहाँ के सभी चैत्यालय उत्तुंग हैं और जहाँ के निरभिमानी पुरुष देव, गुरु और शास्त्र की भक्ति में संलग्न रहते हैं। जहाँ के लोग पंडित के वेश को धारण करते हैं तथा जहाँ के काननों में शुक्ल लेश्या वाले ऋषिवर्य विराजते हैं। (पृ. ४)

धनसार नामक श्रेष्ठी का वर्णन उस समय के श्रेष्ठियों के धार्मिक क्रिया कलाप की झाँकी प्रस्तुत करता है—

धणसार जामि वणिवरु विचित्तु, सगठामि समप्पइ वसु पवित्तु।
परवित्त परमुहु-सीलवंतु, चउसंघ-विणइ-दाणे महंतु॥

वहाँ पर धनसार नामक एक श्रेष्ठ किन्तु विचित्र वणिक् रहता था, जो अपने पवित्र धन को जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, जिनयात्रा, प्रतिष्ठा, दान, पूजा और सिद्धान्तशास्त्र का लेखन इन सात स्थानों में समर्पण करता था। वह शीलवन्त सदा परधन से पराङ्मुख रहता था और महान् दान द्वारा चतुर्विध संघ की विनय करता था। (पृ. ६)

कन्या के रूप सौन्दर्य का चित्रण करते हुए कवि की कल्पना विस्तार को प्राप्त होती दिखाई देती है—

सुहलग्गे जोइ वर सुह णखत्ति, सुउवण्ण कण्ण णं काम थत्ति॥ ६॥
कम पाणि कमल सु सुवण्ण देह तिहं णाउ धरिउ समइंकलेह॥ ७॥
कम कमि सुपवड्ढइ सा गुणाल, दिगमिग ससि वत्तु मराल चाल॥ ८॥
रूवे रइ दासिव णियडि तासु, किं वण्णमि अमरी खयरि जासु॥ ९॥
लच्छी-सुविलच्छी सोह दित्ति तिहं तुल्लि ण छज्जइ बुद्धि कित्ति॥ १०॥
सा सिक्खिय सयल कला विणांण, जिणधम्म रंगि (य) रंगिय अमाण॥ ११॥

शुभ लग्न, शुभ योग, उत्तम श्रेष्ठ नक्षत्र में उत्पन्न हुई वह कन्या ऐसी लगती थी, मानो कामदेव की विश्राम स्थली हो। कन्या के सुन्दर हस्त पाद कमल सदृश थे। उसकी देह यष्टि स्वर्ण समान थी और उसका नाम रखा गया मृगांकलेखा। गुणसमूह से युक्त कन्या क्रम क्रम से अच्छी तरह वृद्धि को प्राप्त हुई। उसके नेत्र मृग जैसे थे, मुख चन्द्र जैसा था और उसकी चाल हंस जैसी थी। उस कन्या के रूप का मैं क्या वर्णन करूँ? उसे सुरबाला कहूँ या विद्याधरी; क्योंकि रूप में उसके समक्ष कामदेव की पत्नी रति भी दासी के समान प्रतिभासित होती थी। उसके शरीर सौन्दर्य और देह दीप्ति के समक्ष तो लक्ष्मी भी लज्जित होती थी तथा उसकी तुलना में बुद्धि और कीर्ति भी सुशोभित नहीं होती थी। उस बाला ने सम्पूर्ण कला और विज्ञान की शिक्षा ग्रहण की थी। वह अपरिमित जिन धर्म के रंग में रंग गई। (पृ. ६)

जिण जण विहिय जिणहरि गहणे मणिमय पडिम विराइया।
वसु भेय पूय गहि सो जि सुया समवयसि तह आइया॥ १॥

णारि सयल विहि विहिया, खेयरि किंणरिसु णायकणए।
सा कण्णा जिणि णिम्मिय सा विहणा अण्ण कोवि सावंडए॥ २॥
रंभ तिलोनम भणिया सम रूवे णत्थि अत्थि का वाला।
सरिसा मयंकरेहा को कइया बुद्धि वण्णण समत्थो॥ ३॥
जिण धम्म रम्म रंगे तच्चित्ते अट्ठमंग पज्जंत।
सव्वंग परिणमिउ रंगुव्व जवाइ कुसुमम्मि॥ ४॥ (पृ. ५-७)

वह कन्या गहन वन में अपने पिता द्वारा निर्मित जिनमन्दिर में जहाँ रत्नमय प्रतिमायें विराजमान थीं, विविध प्रकार की पूजन सामग्री ग्रहण कर सम वयस्क सखियों के साथ आई।

नारी के योग्य सकल विधियों से विहित वह कन्या जिस विधि से रची गई थी, वह रचना विधि विधाधारियों, किन्नरियों, नागकन्याओं अथवा अन्य किसी नारी जाति में नहीं सुनी जाती थी। उसके समान रूप में रम्भा और तिलोत्तमा भी नहीं कही जाती थी, अन्य बालाओं की तो बात ही कया है? वह चन्द्रकला के समान थी। किस कवि की बुद्धि उसके रूप का वर्णन कहने में समर्थ है? जिस प्रकार जपा पुष्प में उसका रंग सर्वत्र व्याप्त रहता है, उसी प्रकार जिसके चित्त सहित आठों अंगों में जिन धर्म का मनोहारी रंग व्याप्त था, ऐसी उस कन्या ने सर्वांग से जिनचन्द्र को नमस्कार किया।

मृगांकलेखा के विरह वर्णन को कवि ने अपने शब्दचित्र द्वारा कारुणिक बनाने का प्रयत्न किया है—

हियत्थ विरह हुयवह तक्खण विज्झावणाय अणवरयं।
वाहप्पवाह पूरं पूरंती णिच्च जुयलेण॥ ११॥
जाणु जुयलंतराले विणिवेसिय मउलि पंकया णिच्चं।
सव्वं साहए पुरओ, पवेस मग्गं व मग्गंती॥ १२॥
परिचत्त पाण भोयण विलेवणं मज्झ तुच्छ तरु देहा।
पायं मरणोवायं चिंतंती चिट्ठए मुद्धा॥ १३॥
ता विरह सम ण कारण मलिण वावार वाउलो णिच्चं।
णिम्मवइ तिए सय गुण दुत्थावत्थो सही सत्थे॥ १४॥
अरुई अरुई ईसा रणरणउ अंतरंग परिवारो।
अवरोवरा झिज्जंतो मारोखारो वसे जाओ॥ १५॥
चंदण रस उच्चोडण करेण विरहेण तोय दद्धाए।
कह कह वि एक्कवीसं, वासा मुद्धाइ वच्चंतं॥ १६॥ (पृ. १९-२०)

हृदय में लगी हुई विरह रूपी अग्नि को वुझाने के लिए नित्य ही वह अपने नेत्रयुगल से अनवरत अश्रुओं का प्रवाह करती थी। वह वाला दोनों जानुओं के मध्य में अपना मस्तक रूपी कमल रखकर नित्य

ही सामने सबकुछ कह देती थी, मानो प्रवेश मार्ग को ही खोज रही हो। भोजन, पान एवं विलेपन के परित्याग के मध्य में क्षीण हो गया है तन रूपी तरु जिसका ऐसी वह भोली प्रायः मरण के उपायों का चिन्तन करती हुई बैठी रहती थी। विरह के समान अन्य कोई कारण नहीं था, जो उसे नित्य व्याकुल कर उसकी दैनिक चेष्टाओं को मलिन बनाता हो। ऐसी दुरवस्था में भी उसी सती मृगांकलेखा के द्वारा सखियों के समूह में स्त्रियोचित सैकड़ों गुणों का निर्माण किया जाता था। अरति, अरुचि और ईर्ष्यादि अन्तरंग परिवार न्यूनाधिक होते हुए निःश्वास छोड़कर क्षीण होने लगे तथा हृदय में लगा हुआ काम का वार उसके वशीभूत हो गया। विरह से दग्ध उस मुग्धा के हाथों से चन्दन का रस सूखने लगा। इस प्रकार उस भोली भाली के इक्कीस वर्ष बीत गए।

पतिविरह को सहन करना तपोमय जीवन बिताना है। इसकी व्यञ्जना करता हुआ कवि कहता है—

णिच्चं वज्जिय कज्जल उज्जल णयणा विसुद्ध वरदसणा।
हरिचंदण पंकाविल वसणा विगलंत मणिवलया॥ २१॥
मोत्तियमित्ताभरणा, रंभव्व तक्काल महण उविण्णा।
तण खीणा गउरीविव, गंगुव्व जुगंत परिहीणा॥ २२॥
चित्त व णिच्चल चित्ता, थंभावट्टंभ धरिय णिय देहा।
रयणमय सालभंजिया सोहं सहसा सहंति व्व॥ २३॥ (पृ. २९-३०)

नित्य ही काजल के परित्याग से जिसके नेत्र उज्ज्वल थे। ताम्बूलादि का सेवन नहीं करने से जिसके दन्त स्वच्छ, विशुद्ध एवं श्रेष्ठ थे। हरिचन्दन के लेप से जिसके वस्त्र मलिन हो रहे थे। जिसके कर-कंगनों से मणि टूटकर निकल गए थे तथा जो मात्र मोतियों के आभूषण धारण किए थी, ऐसी वह मृगांकलेखा उस समय ऐसी प्रतीत हो रही थी, माना महासमुद्र से तत्काल रम्भा ही उतर आई हो। चित्त के समान निश्चल चित्त वाली उस चन्द्रलेखा ने अपने शरीर को खम्भे के सहारे टिका रखा था, जिससे वह ऐसी लगती थी जैसे यकायक उसने रत्नमय पुत्तलिका (शालभंजिका) की शोभा को धारण कर लिया हो।

लाडदेश की अटवी का वर्णन करता हुआ कवि उसकी भयानकता का वर्णन करता है—

तह सूरु ण दीसइ तरु सकिण्ण, गय दारिय महिरुह साह छिण्णा॥ ६॥
हरिणिहणिय जत्थ करिंद जूह, धर मंडिय मुत्ताहल समूह॥ ७॥
अजयारिर दीसहि तह गय गिलंति, सेरी वणु सेरि हु णिरु मिलंति॥ ८॥
दाढ़ा कराल किडि घुरहरंति, मय साल तसिय ठिय तिणु चरंति॥ ९।
आरामासण्ण पसाउ जत्थ, सा रइणि वसइ किर णारि तत्थ॥ १०॥ (पृ. ५५-५६)

वह अटवी इतनी दुर्ग्राह्य थी कि वृक्षों की सघनता एवं हस्तियों से विदारित वृक्षों की छिन्न-भिन्न शाखाओं के कारण जहाँ नभमणि सूर्य भी दिखलाई नहीं देता था। जहाँ शार्दूलों द्वारा गन्ध हस्ती जाति के

हाथियों के मारे जाने से पृथ्वीमण्डल गजमुक्ताओं से भरा पड़ा था। जहाँ हाथियों को निगलते हुए अजगर दिखाई दे रहे थे। उस कान्तार प्रदेश में लम्बी-लम्बी आकृति वाले जंगली भैंसे घूम रहे थे। जहाँ डरावनी दाढ़ों वाले शूकर घुरघुरा रहे थे तथा उपवनों में कृष्णवर्ण के उत्तम मृग चरते हुए स्थित थे। जहाँ समीपवर्ती उद्यान का विस्तार था। वहीं रात्रि में नारी ठहर गई।

कवि की यह विशेषता है कि उसके वर्णन बहुत लम्बे नहीं हैं। ज्यों ही उसे पाठकों के ऊबने की आशंका होती है, त्यों ही आगे बढ़ जाता है। इससे कथानक के प्रवाह में अनावश्यक अवरोध उपस्थित नहीं होता है।

अलंकार योजना—मइंकलेहा चरिउ में कवि ने जानबूझकर अलंकारों का प्रयोग नहीं किया, अपितु उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार सहज रूप में आ गए हैं, इनसे काव्य की शोभा वृद्धिंगत हुई है।

रूपक—उपमान और उपमेय के अभेद सम्बन्ध की स्थापना करने को रूपक कहते हैं। जैसे—

वयणारविंद वियसंति णिच्च। (पृ. १)

(शीलवान् का) मुखकमल नित्य विकसित रहता है। यहाँ वयणारविन्द में रूपक अलंकार है। अन्य उदाहरण—

जो चुक्का **गुणसम्पदा**॥ (पृ. ३)

तिंह णारि जयावइ **हरिणणेत्त**॥ (पृ. ३)

भत्तार **भत्ति वच्छलि** अतित्त॥ (पृ. ३)

उपमा—प्रस्फुट सुन्दर साम्य को उपमा कहते हैं। जैसे—

दिगमिग ससि, वत्तु मराल चाल॥ (पृ. ५)

उसके नेत्र मृग जैसे थे, मुख चन्द्र जैसा था, चाल हंस जैसी थी।

उत्प्रेक्षा—'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' जहाँ उपमेय की उपमान की रूप में सम्भावना होती है, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवतीदास को उत्प्रेक्षा विशेष प्रिय है। जैसे—

उज्जयणि णयरि णं तिलउदीव॥ (पृ. ३)

उज्जयिनी नगरी ऐसी लगती थी, मानों उस द्वीप का तिलक हो।

जह णारि मणोहर रूवसार॥ (पृ. ३)

जहाँ की नारियाँ ऐसी लगती थीं, मानों रूप का ही सार हो।

सुउवण्ण कण्ण णं काम थत्ति॥ (पृ. ५)

वह कन्या ऐसी लगती थी मानों काम की विश्रामस्थली हो।

अवलोइणयणि संतोसु जाउ। चिरु पुव्वपुण्ण हल लद्धु साउ॥ (पृ. १५)

अपने नयनों से मृगांकलेखा को देखकर उसे ऐसा संतोष हुआ मानों पूर्व संचित पुण्य का सारा फल प्राप्त हो गया हो।

अतिशयोक्ति—अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति कही जाती है। जैसे—

रूवे रइ दासिव णियडि तासु, किं वण्णमि अमरी खयरि जासु।
लच्छी सुविलच्छी सोह दित्ति, तिहं तुल्लि ण छज्जइ बुद्धि कित्ति॥ (पृ. ५-६)

रूप में तो उसके समक्ष कामदेव की पत्नी भी दासवत् प्रतिभासित होती थी। उसके शारीरिक सौन्दर्य और देहदीप्ति के समक्ष लक्ष्मी भी लज्जित होती थी। उसकी तुलना में बुद्धि और कीर्ति भी सुशोभित नहीं होती थी।

णारि सयलविहि विहिया खेयरि किंणरिसु णायकण्णाए।
सा कणा जिणि णिम्मिय सा विहणा अण्ण कोवि सावडए॥
रंभ-तिलोत्तम भणिया समरुवे णत्थि-अत्थि का वाला
सरिसा मयंकरेहा को कइया बुद्धि वण्णण समत्थो॥ (पृ. ७)

अनुप्रास—स्वर की विषमता होने पर भी व्यञ्जन मात्र की समता को अनुप्रास अलंकार कहते हैं। अनुप्रासात्मक शैली अपभ्रंश काव्यों में प्रचुरता से दिखाई देती है। मइंकलेहा चरिउ से इसके सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं। जैसे—

पंडिय मंडिय जह धरय वेसु॥ (पृ: ३)

अरि करि केसरि संगाम सूरु॥ (पृ. ३)

गय **गामिणि भामिणि** अइ सलज्ज॥ (पृ. ३)

जो **चुक्का** गुण संपदा, **चुक्का** कित्ति मुहाउ।

जो जणु **चुक्का** सील तें **चुक्का** सयल सुहाउ॥ (पृ. ३)

सुउवण्ण कण्ण णं कामथत्ति॥ (पृ. ५)

कमि कमि सुपवड्ढइ सा गुणाल॥ (पृ. ५)

लच्छी सुविलच्छी सोह दित्ति॥ (पृ. ५)

यमक—यदि अर्थ हो तो पृथक् पृथक् हो, अन्यथा निरर्थक स्वर और व्यंजन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति को यमक अलंकार कहते हैं। जैसे—

लच्छी सुविलच्छी सोह दित्ति॥ (पृ. ५)

उसकी देहदीप्ति के सामने तो लक्ष्मी भी लज्जित होती थी। यहाँ काव्य में लच्छी-लच्छी की आवृत्ति हुई है। प्रथम लच्छी का अर्थ लक्ष्मी है, द्वितीय लच्छी का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि वह विलच्छी का भाग है। इस प्रकार यहाँ लच्छी लच्छी में यमक हुआ।

अर्थान्तरन्यास—जहाँ सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन हो, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। जैसे—

वुल्लिउ धणसारे अइण्णिवि, तं भासिउ साहम्मिय मण्णिवि।
जंपइ वुत्तुसु णवि किज्जइ, णिरु गुणवंतहु काइ ण दिज्जइ॥ (पृ. १३-१४)

मन्त्री की बात सुनकर धनसार बोला, आपने मुझे सधर्मी मानकर ऐसा कहा है तो आपका कहा हुआ क्यों नहीं किया जाएगा? अत्यन्त गुणवन्त के लिए क्या नहीं दिया जाता? अर्थात् सब कुछ दिया जाता है।

यहाँ विशेष कथन का सामान्य से समर्थन है।

दृष्टान्त—जहाँ दो वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। जैसे—

रिद्धी वा हाणी वा गरुयाणं णउण हीण दीणाणं।
महिमा उवरागो वा ससिसूराणं ण ताराणं॥ (पृ. ५५-५६)

अर्थात् लाभ और हानि का महत्त्व तो बड़े लोगों को ही होता है। न्यून या क्षुद्र दीन-हीनों के साथ नहीं, क्योंकि महिमा यानी उदय और उपराग अर्थात् ग्रहण सूर्य और चन्द्र का ही होता है, ताराओं का नहीं।

जणि सुह कम्म उदय सया सुह संग्गमु हुइ आइ।
गाडरविंद समूह लखि बालु पिवइ पइ माइ॥ (पृ. ४१-४२)

शुभ कर्म का उदय आने पर अनवरत शुभ पदार्थों का ही समागम होता है, अशुभ वस्तुओं का नहीं, जैसे कि बहुत सारी गाडरों के समूह को देखकर भी बालक उनमें से केवल अपनी माँ का दूध पीता है, अन्य का नहीं।

काव्यलिंग—जहाँ कोई बात कही जाए और उसका हेतु उपस्थित किया जाए, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है। जैसे—

जामिणि विराम समए, पावी पावेण जम मुहे पत्ते।
सहसा अणत्थ सत्थं लहंति पावा किमच्छरियं॥ (पृ. ६५-६६)

रात्रि में विश्राम के समय पापी सेठ पाप के फलस्वरूप यम के मुख को प्राप्त हुआ। पापी जीव सहसा ही अनर्थ समूह को प्राप्त करते हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

मइंकलेहा चरिउ की छन्दो-योजना—मइंकलेहा चरिउ में घत्ता, छप्पय, दोहा, गाथा, पद्धरि, दोहा, सोरठा, दुवई तथा खंडय छन्दों का प्रयोग हुआ है।

घत्ता—घत्ता का लक्षण प्राकृत पैंगलम् में इस प्रकार किया है—

पिंगल कइ दिट्ठउ छंद उकिट्ठउ घत्ता गत्त वासट्ठि करि।
चउ मत्त सत्त गण बे वि पाअ भण तिण्णि तिण्णि लहु अंत धरि॥ ९९॥

पिंगल कवि द्वारा देखे गए उत्कृष्ट छन्द घत्ता में बासठ मात्राएँ करो, दोनों चरणों में चतुर्मात्रिक सात गण तथा अन्त में तीन-तीन लघु धरो।

पढमं दह बीसामो बीए मत्ताइँ अट्ठाइँ।
तीए तेरह विरई घत्ता मत्ताइँ बासट्ठि॥ १००॥

घत्ता में पहले दस मात्रा पर विश्राम (यति) होता है, दूसरा विश्राम आठ मात्रा पर तथा तीसरा तेरह मात्रा पर होता है। इस तरह घत्ता के एक दल अर्धाली में १० + ८ + १३ = ३१ मात्रा होती है। पूरे घत्ता छन्द में ६२ मात्रा होती हैं।

उदाहरण—

आइण्णि गिरा तिय ताम सया, णिय वइयरु पुव्वुत्तओ।
खणि हरिस विसाय गमंत मणो कुमरु तहाँ तिह जुत्तओ॥ ७॥ (पृ. १३६)

—मइंकलेहा

छप्पय—

छप्पअ छंद छइल्ल सुणहु अक्खर संजुत्तउ।
एआरह तसु विरइ त पुणु तेरह णिब्भंतउ॥
बे मत्ता धरि पढम त पुणु चउ चउकल किज्जइ।
मज्झट्ठिअ गण पंच हेट्ठ बिण्ण वि लहु दिज्जइ॥
उल्लाल विरइ बे पण्णरह मत्ता अट्ठाइस सोइ।
एम भणह मुणह छप्पअ पअ अणहा इत्थि ण किंपि होइ॥ १०५॥

हे चतुर व्यक्ति (छैला) छप्पय छन्द सुनो। इसमें ग्यारह मात्रा पर, फिर तेरह मात्रा पर प्रत्येक चरण में विराम का निर्वाह करो, आरम्भ में दो मात्रा देकर फिर चतुष्कल गणों की रचना की जानी चाहिए। ये मध्यस्थित चतुष्कल पाँच हों तथा अन्त में फिर दो लघु दिए जाएँ। (इस क्रम से चार चरण करने पर) फिर दो चरण उल्लाला के हों, जिनमें पन्द्रह मात्रा पर यति हो तथा प्रत्येक चरण में अठाईस मात्रा हों। इस प्रकार छप्पय में छह चरणों को समझो। अन्यथा वहाँ कुछ भी नहीं होता।

(छप्पय ११, १३ : ११, १३ : : ११, १३ : ११, १३ : : १५, १३ : १५, १३ = १५२ मात्रा)

(छप्पय गणों का नियम आरम्भ में दो मात्रा, ५ चतुर्मात्रिक गण, २ लघु)

उदाहरण—

जिण णामु लिंति सिठाणि पहाइ, उट्ठिवि पुच्छइ णिय णाह आइ॥ १॥
सामिय सिविणइं फल कहहु जुत्ति, सो जंपइ पिय तव गब्भि पुत्ति॥ २॥
संभवइ सलक्खणि मइ विसाल, धम्मे पवीण रूवे रसाल॥ ३॥
गब्भे दोहलु जाइउ मणोज्जु, चउ संघह दिण्णउ सुद्ध भोज्जु॥ ४॥ इत्यादि

—मइंकलेहा चरिउ (पृ. ५)

दोहा—

तेरह मत्ता पढम पअ पुणु एआरह देह।
पुणु तेरह एआरहइ दोहा लक्खण एह॥ ७८॥ प्राकृत पैंगलम्

प्रथम चरण में तेरह मात्रा, फिर (द्वितीय चरण में) ग्यारह मात्रा दे, फिर (तीसरे चौथे चरणों में) क्रमशः तेरह और ग्यारह मात्रा दे। यह दोहा छन्द का लक्षण है। (दोहा विषम मात्रिक छन्द है। इसकी मात्राएँ १३, ११, १३, ११ हैं)

उदाहरण—

जो चुक्का गुण संपदा चुक्का कित्ति मुहाउ।
जो जणु चुक्का सीलतें चुक्का सयल सुहाउ॥

—मइंकलेहा चरिउ (पृ. ३)

गाथा—

पढमं बारह मत्ता वीए अट्ठारहेहिं संजुत्ता।
जह पढमं तह तीअं दहपंच विहूसिआ गाहा॥ ५४। प्राकृत पैंगलम्

गाथा के प्रथम चरण में बारह मात्रा होती हैं, दूसरे में यह अठारह मात्राओं से युक्त होती हैं, तीसरे चरण में प्रथम चरण की ही तरह तेरह मात्रायें होती हैं। बाकी (चतुर्थ) चरण में गाथा पन्द्रह मात्रा से विभूषित होती है।

गाथा छन्द को ही संस्कृत में आर्या कहते हैं। उनका लक्षणोदाहरण यह है—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रस्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पंचदश सार्या॥

उदाहरण—

वणि सुय अणंगरुइणा संसग्गेण जिणंद धम्मम्मि।
णिच्चल चित्ता जाया, जीवाणं गई अहो विविहा॥ १३॥

—मइंकलेहा चरिउ (पृ. १७४)

पद्धरी—इसे पज्झडिया भी कहते हैं। प्राकृत पैंगलम् में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—

चउमत्त करह गण चारि ठाइँ, ठवि अंत पओहर पाइँ पाइँ।
चउसट्ठि मत्र पज्झरइ इंदु, सम चारि पाअ पज्झडिय छंदु॥ १२५॥

प्रत्येक चरण के अन्त में जगण की रचना कर चार स्थान पर चतुर्मात्रिक गण की रचना करो। इस पज्झटिका छन्द में चारों चरण समान होते हैं तथा ६४ मात्रा होती हैं। (इसे सुनकर) चन्द्रमा प्रस्रवित होता है।

उदाहरण—

पुणु खित्तमूढ़ गुरु गणि पवुत्तु, अप्पणु थिर थाइ सणेहि भुत्तु॥ १॥
पुरगामि णयरि चेई अवासि थिरु थाइ सया जम धम्मु भासि॥ २॥

—मइंकलेहा (पृ. ९०)

सोरठा—

सो सोरट्ठउ जाण, जं दोहा विपरीअ ठिअ।
पअ पअ जमक वखाण, णाअराअ पिंगल कहिअ॥ १७०॥ (प्राकृत पैंगलम्)

जहाँ दोहा विपरीत (उलटा) स्थित हो तथा प्रत्येक चरण में यमक (तुक) हो, उसे सोरठा छन्द समझो, ऐसा नागराज पिंगल कहते हैं।

(दोहा—१३ : ११, १३ : ११/सोरठा—११ : १३, ११ : १३ मात्रा)

जैसे—

पुण भासमि लोइ ससिलेहा वइराय विही।
सायर सम सोइ जिम पाविय तवलच्छि णिही॥ १॥ (मइंकलेहा, पृ. १४९)

दुवई—

आइग इंदु जत्थ हो पढमहि दिज्जइ तिणि धणुहरं,
तह पाइक्कजुअल परिसंठवहु विविहचित्त सुंदरं॥ १५२॥
सरसइ लइअ पसाउ तहँ पुहवी करहि कइत्त कइ अण्ण,
महुअरचरण अंत लइ दिज्जहु दोअइ मुणहु बुहअण्ण॥ १५३॥

हे विद्वज्जनो! प्रथम चरण में आरम्भ में जहाँ इन्दु (षट्कल गण) हो, उसके वाद दो धनुर्धर (चतुष्कल) हो तथा फिर दो पदाति (चतुष्कल) स्थापित करो, अन्त में मधुकर चरण (षट्कल) दो। इसे द्विपदी कहो। हे कविजनों! सरस्वती से प्रसाद लेकर पृथ्वी में नाना प्रकार के चित्रों को सुन्दर लगने वाले कवित्त की रचना करो।

उदाहरण—

अद्धरयणि कड्ढिसु णिय मंदिरि सुंदरि गहणि घल्लिया।
एगाणिणि धारि मणि साहसु, जिणु सुमरति चल्लिया॥ ९॥

—मइंकलेहा, पृ. ६५

अपभ्रंश में द्विपदी शब्द छन्दों की सामान्य संज्ञा का संकेत करता है। यह कोई निश्चित लक्षण का खास छन्द न होकर उन समस्त छन्दों के लिए प्रयुक्त देखा जाता है, जिनके दोनों पादों में समान मात्राएँ हों, तथा पादों में 'क-ख' क्रम से तुक (अन्त्यानुप्रास) पायी जाय। स्वयंभू तथा हेमचन्द्र ने अनेक द्विपदियों का संकेत किया है. जिनमें चार मात्रा वाली विजया जैसी छोटी द्विपदियों से लेकर तीस मात्रा तक की अनेक द्विपदियों की गणना है तथा आगे चलकर तीस मात्रा से अधिक समद्विपदियों का उल्लेख किया है। इस तरह दोनों आचार्यों ने छियहत्तर द्विपदी भेदों का विवरण दिया है। डॉ. वेलणकर ने सभी द्विपदियों की समान विशेषताएँ ये मानी हैं—

१. द्विपदी का प्रत्येक चरण प्रायः चतुर्मात्रिक गणों से बना होता है, कभी-कभी द्विमात्रिक या षण्मात्रिक गणों का प्रयोग भी हो सकता है।
२. त्रिमात्रिक अथवा पंचमात्रिक गणों का प्रयोग केवल उन्हीं द्विपदियों में होता है, जिनमें विषमसंख्यक मात्राएँ प्रत्येक चरण में होती हैं तथा यहाँ भी यह मात्रिक गण प्रायः पदान्त में रखा जाता है।
३. प्रत्येक चरण में द्वितीय यति प्रथम यति के आठ मात्रा बाद पाई जाती है।
४. प्रथम यति दसवीं, बारहवीं, चौदहवीं या सोलहवीं मात्रा के बीच कहीं न कहीं स्थान बदलती रहती है।
५. जहाँ यदि का खास संकेत नहीं किया जाता, यह प्रायः आठवीं तथा सोलहवीं मात्रा के बाद पड़ती है।
६. द्विपदी की संज्ञा प्रथम यति तथा द्वितीय यति के स्थान भेद अथवा मूल चतुर्मात्रिक गणों के स्थान पर द्विमात्रिक या षड्मात्रिक गण के परिवर्तन से बदल जाती हैं।

उक्त सभी विशेषताएँ इस बात का संकेत करती हैं कि अधिकांश द्विपदियाँ मूलतः गेय छन्द के रूप में निबद्ध की जाती रही हैं तथा मृदंगादि तालवाद्यों के साथ गाई जाती रही हैं।[१]

खंडया—इसे प्राकृत में खंधसा (स्कन्धक) कहते हैं। इसका लक्षण प्राकृत पैंगलम् में इस प्रकार है—

चउमत्ता अट्ठगणा पुव्वद्धे आरद्ध होइ समरूआ।
सा खंधआ विआणहु पिंगल पभणेइ मुद्धि वहुसंभेआ॥ ७३॥

---

१. डॉ. भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम्-व्याख्या (भाग १), पृ. ४२०-४२१।

हे मुग्धे! जहाँ पूर्वार्द्ध में चतुर्मात्रिक आठ गण हों तथा उत्तरार्द्ध में भी समरूप (उतने ही) गण हों, उसे बहुत भेद वाला स्कन्धक छन्द समझना चाहिए, ऐसा पिंगल कहते हैं।

स्कन्धक के सत्ताइस भेद होते हैं—नन्द, भद्र, शेष, सारंग, शिव, ब्रह्मा, वारण, वरुण, नील, मदनताटंक, शेखर, शर, गगन, शरभ, विमति, क्षीर नगर, नर, स्निग्ध, स्नेह, मद्‌कल, भूपाल, शुद्ध, सरित, कुम्भ, कलस, ससि।

उदाहरण—

> **हुव पहाइ सुरुग्गइ दित्तिए, सिट्ठि जाउ जिण वंदणहत्तिए।**
> **तेण वि काऊसग्गु वि सज्जिउ, णाणा थुइ सुमणसि जिणु पुज्जिउ॥**

—मइंकलेहा (पृ. १३)

मइंकलेहा चरिउ का व्याकरणात्मक वैशिष्ट्य

१. संस्कृत की 'अ' ध्वनि 'आ' तथा 'इ' में परिवर्तित हो जाती है। यथा—जासु < यस्य (पृ. १), कलइंट्ठि < कलकंठि (पृ. ३३), भिच्च < भृत्य, आइण्ण < आकर्ण्य (पृ. ७९), अंबि < अम्ब, खलि < खल (पृ. ४५), आइण्णिवि < आकर्ण्य (पृ. ११)।

२. 'आ' ध्वनि का परिवर्तन 'अ' तथा 'इ' के रूप में। यथा—दाणंतराउ < दानान्तराय (पृ. २१), भज्ज < भार्या (पृ. ३), पभणमि < प्रभणामि (पृ. १), अप्प < आत्मा (पृ. १), चंदलेह < चन्द्रलेखा (पृ. ६७), पूय < पूजा (पृ. २५), मइंकलेह < मृगांकलेखा (पृ. २१)।

३. 'इ' ध्वनि का परिवर्तन 'ई'। यथा—जई < यति, वंदी < बन्दि (पृ. ६७), एक्कवीसं < एकविंशति (पृ. १७)।

४. 'ई' के स्थान में 'इ'। यथा—गहिए < गृहीते (पृ. ९५), कित्ति < कीर्ति (पृ. १), सिग्घ < शीघ्र (पृ. १), रसवाइ < रसवादी (पृ. १२३)।

५. 'ऊ' के स्थान में 'उ'। यथा—रुव < रूप (पृ. १९), कुलवहु < कुलवधू (पृ. २३), उणवीस < ऊनविंशति (पृ. ६९), पुव्वसु < पूर्वे (पृ. १५), मुच्छ < मूर्च्छा (पृ. १२५)।

६. 'अ' के स्थान पर उ। जैसे—कलेवरु < कलेवर, अणुरत्तु < अनुरक्त (पृ. १३), मयणदेहु < मदनदेह।

७. 'ऋ' के स्थान में 'अ' 'इ' एवं 'रि'। यथा—मय < मृग (पृ. १०७), भिच्च < भृत्य (पृ. १), रिसि < ऋषि (पृ. १), सारिच्छी < सादृश्या (पृ. ७१)।

८. 'ऊ' के स्थान पर 'ओ' का उदाहरण—उवगोहण < उपगूहन (पृ. ९५)।

९. आदि स्वर का लोप। जैसे—रण्णे < अरण्ये। स्वर विपर्यय—जैसे—तणजु < तनुज (पृ. १२५), मध्य स्वरागम—मज्झिम < मध्यम (पृ. १०५)

१०. 'ङ' के स्थान में अनुस्वार का प्रयोग होता है। जैसे लंकियाउ < अलंकृता। (पृ. ३)

११. 'ओ' के स्थान में 'उ'। जैसे—महुच्छउ < महोत्सव (पृ. ५)।

१२. 'ए' के स्थान पर 'इ' का प्रयोग—सिट्ठु < श्रेष्ठ (पृ. १)।

१३. 'औ' के स्थान पर 'ऊ' का प्रयोग हुआ है। जैसे—औषध < ऊसह (पृ. १०७)।

१४. 'औ' के स्थान पर 'ओ' का प्रयोग। जैसे—अखोहणि < अक्षौहिणी (पृ. १), सोक्ख < सौख्य (पृ. १०१), मध्य स्वर का लोप। जैसे—कुमरो < कुमारः (पृ. १२५)।

व्यञ्जन परिवर्तन

१. मइंकलेहा चरिउ में 'क' ध्वनि के स्थान पर 'य' ध्वनि का प्रयोग किया गया है। जैसे—सयल < सकल (पृ. ७), णियडि < निकटे (पृ. १०७), वइयरु < व्यतिकर (पृ. ६३), गोउलु < गोकुल (पृ. ६३), णरय < नरक (पृ. २)।

२. 'ग' के स्थान में 'य' का प्रयोग होता है—मइसायरु < मतिसागर (पृ. ३)।

३. 'च' के स्थान में 'य' का प्रयोग किया गया है—आयार < आचार (पृ. १०७), मोयणु < मोचन (पृ. ११)।

४. 'थ' के स्थान में 'ह' का प्रयोग हुआ है—कहा < कथा, (पृ. १)।

५. 'द' के स्थान में 'य' का प्रयोग—वयण < वदन (पृ. १)

६. 'श' के स्थान में 'स' का प्रयोग—पसत्थ < प्रशस्त (पृ. १), सलहिज्जइ < श्लाघ्यते।

७. 'न' के स्थान पर सर्वत्र 'ण' का प्रयोग—जिणवीरं < जिनवीरं (पृ. १), तिहुअण < त्रिभुवन (पृ. १), पुणु < पुनः (पृ. १), ण < न (पृ. १), णिच्च < नित्य (पृ. १), णरय < नरक (पृ. १), णारि < नारि (पृ. १), णियाणि < निदान (पृ. १), मोहणि < मोहनीय (पृ. १)।

८. 'ष' के स्थान में 'स' का प्रयोग—हरिस < हर्ष (पृ. १)।

९. 'ट' के स्थान में 'ड' का प्रयोग—संकडि < संकटे (पृ. १), उच्चोडण < उच्चोटन (पृ. १७)।

१०. 'ख' के स्थान में 'ह' का प्रयोग—दुह < दुःख, सिहि < शिखि (पृ. १), सुह < सुख (पृ. ७९), ससिलेहा < शशिलेहा (पृ. १२३)।

११. 'त' के स्थान पर 'उ' का प्रयोग—वउ < व्रत (पृ. १)।

१२. 'क्ष' के स्थान पर 'क्ख' का प्रयोग—दक्खण < दक्षिण (पृ. २), अक्ख < अक्ष, अखोहणि < अक्षौहिणी (पृ. १), णखत्ति < नक्षत्रे (पृ. ५)

१३. 'त' के स्थान पर 'य' का प्रयोग—तुरियं < त्वरित (पृ. १)।

१४. 'स्थ' के स्थान पर 'थ' का प्रयोग—थाइ < स्थास्यति (पृ. १), गिहत्थ < गृहस्थ (पृ. २१)।

१५. 'प्त' के स्थान पर 'त्त'—तिगुत्ति < त्रिगुप्ति (पृ. १), अतित्त < अतृप्त (पृ. ३)।

१६. 'क्त' के 'त्त' का प्रयोग—उत्त < उक्त (पृ. ७९)।

१७. जुत्ता < युक्ता (पृ. ३), अणुरत्तु < अनुरक्तः (पृ. १३)।

१८. 'ध' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग—पहाणउ < प्रधान (पृ. २)।

'ण्' के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग—पंडिय < पण्डित (पृ. ३), मंडिय < मण्डित (पृ. ३)।

१९. 'न्' के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग—मन्दिर < मन्दिर (पृ. ३), अवंती < अवन्ती (पृ. ३), अंतरंग < अन्तरंग (पृ. १७)।

२०. 'क' के स्थान में 'ग' का प्रयोग—विपाग < विपाक (पृ. ५१)।

२१. 'प' के स्थान पर 'व' का प्रयोग—उवण्ण < उत्पन्न, दीव < द्वीप (पृ. ३), अलावे < आलापे (पृ. १७)।

२२. 'द' के स्थान पर 'उ' का प्रयोग—पउम < पद्म (पृ. ५)।

२३. 'श्र' के स्थान पर 'सि' का प्रयोग—सिठाणि < श्रेष्ठिनि (पृ. ५)।

२४. 'त्र' के स्थान पर 'त्थ' का प्रयोग—यत्र < जत्थ, तत्र < तत्थ।

२५. 'ष्ट' के स्थान पर 'ठ' का प्रयोग—तिट्ठहिं < तिष्ठन्ति (पृ. ३), दिट्ठ < दृष्टा (पृ. ७)।

२६. 'र्य' के स्थान पर 'ज्ज' का प्रयोग—भज्ज < भार्या (पृ. ३)।

२७. 'ज्ञ' के स्थान पर 'ज्ज' का प्रयोग—मणोज्जु < मनोज्ञ।

२८. 'त्स' के स्थान पर 'च्छ' का प्रयोग—महुच्छउ < महोत्सव (पृ. ५)।

२९. 'स्न' के स्थान पर 'ण्ह'—जुण्ह < ज्योत्सना (पृ. ७)।

३०. 'त्र' के स्थान पर 'त्त' का प्रयोग—मित्तेण < मित्रेण (पृ. ७)।

३१. 'न्य' के स्थान पर 'ण्ण' का प्रयोग—अण्णारिसु < अन्यादृश (पृ. ९)।

३२. 'ष्म' के स्थान पर 'म्ह' का प्रयोग—अम्ह > अस्माकं (पृ. ९)।

३३. 'द्ग' के स्थान पर 'ग्ग' का प्रयोग—सुगग्गिर < सुगद्गद (पृ. ९)।

३४. 'त' के स्थान पर 'ड' का प्रयोग—णिवडंताण < निपतन्तान् (पृ.९)।

३५. 'ष' के स्थान पर 'ख' का प्रयोग—खडरस < षड्रस (पृ. ११)।

३६. 'क्ष' के स्थान पर 'ख' का प्रयोग—णखत्तु < नक्षत्र (पृ. १३), खुद्द < क्षुद्र (पृ. १७)।

३७. 'त्स' के स्थान पर 'छ' का प्रयोग—उछाह < उत्साह (पृ. १३)।

३८. 'त्य' के स्थान पर 'च्च' का प्रयोग—णच्चिज्जइ < नृत्यते (पृ. १३), मुनित्य < सुणिच्च (पृ. १३), चत्त < त्यक्त (पृ. १७)।

३९. 'ध्य' के स्थान पर 'ज्झ' का प्रयोग—मज्झु < मध्य (पृ. १३), मज्झिम < मध्यम (पृ. १०५)।

४०. 'त्र' के स्थान पर 'त्थ' का प्रयोग—एत्थंतरि < अत्रान्तरे (पृ. १३), जत्थ < यत्र (पृ. १३)।

४१. 'द्म' के स्थान पर 'म्म' का प्रयोग—छम्म < छद्म (पृ. १३)।

४२. 'म्' के स्थान पर अनुस्वार—संपुण्ण < सम्पूर्ण (पृ. १७)।

४३. 'ध्य' के स्थान पर 'झ' का प्रयोग—झाण < ध्यान (पृ. १७)।

४४. 'स्थ' के स्थान पर 'त्थ' का प्रयोग—दुत्थावत्थो < दु:स्थावस्था।

४५. 'ध' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग—अहुण्ण < अधुन्न (पृ. ९३)।

४६. 'ध' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग—णिहीस < निधीश (पृ. १०५), अवराहु < अपराध (पृ. १७), कुलबहु < कुलवधू (पृ. २३)।

४७. 'थ' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग—णाह < नाथ (पृ. १७)।

४८. 'व्या' के स्थान पर 'वा' का प्रयोग—वावार < व्यापार (पृ. १७), वाउलो < व्यापृत: (पृ. १७)।

४९. 'क्ष' के स्थान पर 'झ' का प्रयोग—झिज्जंतो < क्षीण: सन्।

५०. 'त' के स्थान पर 'ड' का प्रयोग—पडिभासइ < प्रतिभापति।

५१. 'स्थ' के स्थान पर 'ठ' का प्रयोग—ठाइ < स्थास्यति (पृ. १९)।

५२. 'द्य' के स्थान पर 'ज्ज' का प्रयोग—विज्जा < विद्या (पृ. १९), उज्जमु < उद्यम (पृ. १९), पडिवज्जउ < प्रतिपद्यत (पृ. १९)।

५३. 'क्ष' के स्थान पर 'ख' का प्रयोग—सीख < शिक्षा (पृ. २१)।

५४. 'श्व' के स्थान पर 'स' का प्रयोग—श्वसुर < ससुर (पृ. २१)।

५५. 'त्स' के स्थान पर 'च्छ' का प्रयोग—णिब्भच्छ < निर्भर्त्स्य।

५६. 'स्न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग—णेहु < स्नेह (पृ. ७९)।

५७. 'भ' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग—विहूसण < विभूपण (पृ. ७९)।

५८. आदि के 'य' को 'ज' होता है—जुत्तु < युक्त (पृ. ७९), जाणइ < जानाति (पृ. ७९)।

५९. 'फ' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग—सहलु < सफल (पृ. ७९), हलु < फूल (पृ. ७९)।

६०. कहीं-कहीं अन्तिम अक्षर के लोप की प्रवृत्ति—इंदि < इन्द्रिय (पृ. ७९), किंचि् < किञ्चित् (पृ. १२३)।

६१. कहीं-कहीं अन्तिम पद का लोप होता है—रूवा < रूपाजीवी (पृ. ७९)

६२ 'श्य' के स्थान पर 'स्स'—वेस्सा < वेश्या (पृ. ७९)।

६३. आदि व्यञ्जन का लोप—थाइ < स्थायी (पृ. ७९), वारह < द्वादश (पृ. १०५)।

६४. मध्य व्यञ्जन का लोप—चुओ < च्युत: (पृ. ९७), उज्जल < उज्ज्वल (पृ. ७९), पवंग < प्लवंग (पृ. १०१), झत्ति < झटिति (पृ. १२३), विंतर < व्यन्तर (पृ. १२३)।

६५. प्रारम्भ में अनेक अक्षरों का लोप—अस्मिन् < इणि (पृ. ७९)।

६६. 'त' के स्थान पर 'ड' का प्रयोग—पडौसी < प्रतिवेशिन: (पृ. ७९)।

६७. अनादि असंयुक्त क, ग, च, ज. त, द का प्राय: लोप—

तुझ < तुज्झ (प्राकृत, पृ. ७९),	आइण्णि < आकर्ण्य, उत्तु < उक्त (पृ. ७९),
उछाहु < उत्साह (पृ. ७९),	हयास < हताशे! (पृ. ७९),
सया < सदा (पृ. ७९),	उवण्ण < उत्पन्न (पृ. ७९),
वंछिउ < वाञ्छित (पृ. ७९),	अयाण < अजान (पृ. ८१),
मयचारी < मृगचारी (पृ. ९३),	वियाणइ < विजान्नाति (पृ. ९३),
गोयर < गोचर (पृ. ९३),	वयण < वचन (पृ. ९५),
गुणवउ < गुणव्रत (पृ. १०१),	मयच्छि < मृगाक्षी (पृ. १२५)।

६८. 'त्म' के स्थान पर 'प्प' का प्रयोग—अप्पा < आत्मा (पृ. ९३)।

६९. मध्य व्यञ्जन का आगमन—मुक्खु < मूर्ख (पृ. ९३), लिंग्ग < लिंग (पृ. १०५)।

७०. 'थ' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग— अहवा < अथवा (पृ. ९३)।

७१. 'स्त्र' के स्थान पर 'त्थ' का प्रयोग—सत्थ < शास्त्र (पृ. ९३)।

७२. 'य' लोप का उदाहरण—अझ्वसाण < अध्यवसान।

७३. 'व' लोप का उदाहरण—सच्छन्द < स्वच्छन्द (पृ. ९५), जिणेसर < जिनेश्वर (पृ. ९३), देउ < देव (पृ. ९३)।

७४. 'म' के स्थान पर 'व' का प्रयोग—सवण < श्रमण (पृ. ९५)।

७५. 'त' के स्थान पर 'द' का प्रयोग—सुद < श्रुत (पृ. ९३), भावादो < भावत: (पृ. ९५)।

३५. 'प' के स्थान पर 'ख' का प्रयोग—खडरस < पड्रस (पृ. ११)।

३६. 'क्ष' के स्थान पर 'ख' का प्रयोग—णखत्तु < नक्षत्र (पृ. १३), खुद्द < क्षुद्र (पृ. १७)।

३७. 'त्स' के स्थान पर 'छ' का प्रयोग—उछाह < उत्साह (पृ. १३)।

३८. 'त्य' के स्थान पर 'च्च' का प्रयोग—णच्चिज्जइ < नृत्यते (पृ. १३), मुनित्य < सुणिच्च (पृ. १३), चत्त < त्यक्त (पृ. १७)।

३९. 'ध्य' के स्थान पर 'ज्झ' का प्रयोग—मज्झु < मध्य (पृ. १३), मज्झिम < मध्यम (पृ. १०५)।

४०. 'त्र' के स्थान पर 'त्थ' का प्रयोग—एत्थंतरि < अत्रान्तरे (पृ. १३), जत्थ < यत्र (पृ. १३)।

४१. 'द्म' के स्थान पर 'म्म' का प्रयोग—छम्म < छद्म (पृ. १३)।

४२. 'म्' के स्थान पर अनुस्वार—संपुण्ण < सम्पूर्ण (पृ. १७)।

४३. 'ध्य' के स्थान पर 'झ' का प्रयोग—झाण < ध्यान (पृ. १७)।

४४. 'स्थ' के स्थान पर 'त्थ' का प्रयोग—दुत्थावत्थो < दु:स्थावस्था।

४५. 'ध' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग—अहुण्ण < अधुन्न (पृ. ९३)।

४६. 'ध' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग—णिहीस < निधीश (पृ. १०५), अवराहु < अपराध (पृ. १७), कुलबहु < कुलवधू (पृ. २३)।

४७. 'थ' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग—णाह < नाथ (पृ. १७)।

४८. 'व्या' के स्थान पर 'वा' का प्रयोग—वावार < व्यापार (पृ. १७), वाउलो < व्यापृत: (पृ. १७)।

४९. 'क्ष' के स्थान पर 'झ' का प्रयोग—झिज्जंतो < क्षीण: सन्।

५०. 'त' के स्थान पर 'ड' का प्रयोग—पडिभासइ < प्रतिभापति।

५१. 'स्थ' के स्थान पर 'ठ' का प्रयोग—ठाइ < स्थास्यति (पृ. १९)।

५२. 'द्य' के स्थान पर 'ज्ज' का प्रयोग—विज्जा < विद्या (पृ. १९), उज्जमु < उद्यम (पृ. १९), पडिवज्जउ < प्रतिपद्यत (पृ. १९)।

५३. 'क्ष' के स्थान पर 'ख' का प्रयोग—सीख < शिक्षा (पृ. २१)।

५४. 'श्व' के स्थान पर 'स' का प्रयोग—श्वसुर < ससुर (पृ. २१)।

५५. 'त्स' के स्थान पर 'च्छ' का प्रयोग—णिब्भच्छ < निर्भर्त्स्य।

५६. 'स्न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग—णेहु < स्नेह (पृ. ७९)।

५७. 'भ' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग—विहूसण < विभूषण (पृ. ७९)।

५८. आदि के 'य' को 'ज' होता है—जुत्तु < युक्त (पृ. ७९), जागइ < जागर्ति (पृ. ७९)।

५९. 'फ' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग—सहलु < सफल (पृ. ७९), हलु < फूल (पृ. ७९)।

६०. कहीं-कहीं अन्तिम अक्षर के लोप की प्रवृत्ति—इंदि < इन्द्रिय (पृ. ७९), किंचि् < किञ्चित् (पृ. १२३)।

६१. कहीं-कहीं अन्तिम पद का लोप होता है—रूवा < रूपाजीवी (पृ. ७९)

६२. 'श्य' के स्थान पर 'स्स'—वेस्सा < वेश्या (पृ. ७९)।

६३. आदि व्यञ्जन का लोप—थाइ < स्थायी (पृ. ७९), वारह < द्वादश (पृ. १०५)।

६४. मध्य व्यञ्जन का लोप—चुओ < च्युतः (पृ. ९७), उज्जल < उज्ज्वल (पृ. ७९), पवंग < प्लवंग (पृ. १०१), झत्ति < झटिति (पृ. १२३), विंतर < व्यन्तर (पृ. १२३)।

६५. प्रारम्भ में अनेक अक्षरों का लोप—अस्मिन् < इणि (पृ. ७९)।

६६. 'त' के स्थान पर 'ड' का प्रयोग—पडौसी < प्रतिवेशिनः (पृ. ७९)।

६७. अनादि असंयुक्त क, ग, च, ज. त, द का प्रायः लोप—

तुझ < तुज्झ (प्राकृत, पृ. ७९), आइण्णि < आकर्ण्य, उत्तु < उक्त (पृ. ७९),
उछाहु < उत्साह (पृ. ७९), हयास < हताशे! (पृ. ७९),
सया < सदा (पृ. ७९), उवण्ण < उत्पन्न (पृ. ७९),
वंछिउ < वाञ्छित (पृ. ७९), अयाण < अजान (पृ. ८१),
मयचारी < मृगचारी (पृ. ९३), वियाणइ < विजान्नाति (पृ. ९३),
गोयर < गोचर (पृ. ९३), वयण < वचन (पृ. ९५),
गुणवउ < गुणव्रत (पृ. १०१), मयच्छि < मृगाक्षी (पृ. १२५)।

६८. 'त्म' के स्थान पर 'प्प' का प्रयोग—अप्पा < आत्मा (पृ. ९३)।

६९. मध्य व्यञ्जन का आगमन—मुक्खु < मूर्ख (पृ. ९३), लिंग्ग < लिंग (पृ. १०५)।

७०. 'थ' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग— अहवा < अथवा (पृ. ९३)।

७१. 'स्त्र' के स्थान पर 'त्थ' का प्रयोग—सत्थ < शास्त्र (पृ. ९३)।

७२. 'य' लोप का उदाहरण—अद्धवसाण < अध्यवसान।

७३. 'व' लोप का उदाहरण—सच्छन्द < स्वच्छन्द (पृ. ९५), जिणेसर < जिनेश्वर (पृ. ९३), देउ < देव (पृ. ९३)।

७४. 'म' के स्थान पर 'व' का प्रयोग—सवण < श्रमण (पृ. ९५)।

७५. 'त' के स्थान पर 'द' का प्रयोग—सुद < श्रुत (पृ. ९३), भावादो < भावतः (पृ. ९५)।

७६. 'त्र' के स्थान पर 'त' का प्रयोग—मंतेण < मन्त्रेण (पृ. ९५), पंचपत < पञ्चपात्र (पृ. १०५)।

७७. आदि और अन्तिम अक्षर का लोप—हंढइ < आहिण्ड्येत (पृ. ९५)।

७८. जिन अक्षरों के ऊपर रेफ होती है, उनका प्राय: द्वित्व हो जाता है। जैसे—
अत्ति < आर्त (पृ. १२५), धम्मु < धर्म (पृ. ९९), कव्वड < कर्वट (पृ. ९९)।

७९. कहीं-कहीं रेफ वाले अक्षर का द्वित्व नहीं भी होता है। जैसे—
दंसण < दर्शन (पृ. १५), हर्ष < हरिस (पृ. १२३)।

८०. 'प' लोप का उदाहरण—णउ < नापि (पृ. १०१)।

८१. 'घ' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग—जहण्ण < जघन्य (पृ. १०५)।

८२. अनुस्वार का आगमन—णिहाणु < निधान (पृ. १०५), दंसण < दर्शन।

८३. 'द' के स्थान पर 'र' का प्रयोग—वारह < द्वादश (पृ. १०५)।

विभक्तियाँ—प्रथम विभक्ति के एक वचन में महाराष्ट्री शैली के समान ओकार का प्रयोग नहीं पाया जाता है। जैसे—

मंदिर < मन्दिर (पृ. ३), मणोहर < मनोहर (पृ. ३), राउ < राजा (पृ. ३),
सूरु < शूर (पृ. ३), पवीणु < प्रवीण (पृ. ३), णेत्त < नेत्र (पृ. ३),
सायरु < सागर (पृ. ३), रवि < रवि (पृ. ३), मणुव < मनुज (पृ. ३),
दीणु < दीन (पृ. ३), भालु < भाल (पृ. ३), चन्दु < चन्द्र (पृ. ३),
सुक्क < शुक्ल (पृ. ३), कलस < कलश (पृ. ३), वेसु < वेष (पृ. ३),
धर्म < धम्म (पृ. ३), धय < ध्वज (पृ. ३), लेसु < लेश्या (पृ. ३),
पूरु < पुर (पृ. ३), हीणु < हीण (पृ. ३)।

प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अन्त में उकार बहुला प्रवृत्ति पाई जाती है।

पञ्चमी के एकवचन में आउ प्रत्यय पाया जाता है। जैसे—गिहाउ < गृहात् (पृ. ४७)

सप्तमी के एकवचन में अन्त में एकार अथवा इकार का प्रयोग होता है। जैसे—

सीले < शीले (पृ. १), दाणे < दाने (पृ. ५), गब्भ < गर्भे (पृ. ५),
णखत्ति < नक्षत्रे (पृ. ५), रुवें < रूपे (पृ. ५), सायरि < सागरे (पृ. ९),
देवलि < देवालये (पृ. ९), तिभुवणि < त्रिभुवने (पृ. ९), णियडि < निकटे (पृ. ५),
रंगि < रंगे (पृ. ५), धम्मे < धर्मे (पृ. ५), उनमंगि < उनमार्गे (पृ. ३९),
भिंतरि < आभ्यन्तरे (पृ. ७७)।

तृतीया विभक्ति के एकवचन में एण प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। जैसे—

दव्वेण < द्रव्येण (पृ. ९८), विद्यया < विज्जेण (पृ. ९५),
मंतेण < मन्त्रेण (पृ. ९५), कुसलत्तणेण < कुशलत्वेन (पृ. ९५),
दाणेण < दानेन (पृ. ९५), विहवेण < विभवेन (पृ. ३),
णामेण < नाम्ना (पृ. ३), मित्तेण < मित्रेण (पृ. ७)

सप्तमी के बहुवचन में आणं (पुल्लिंग में) अथवा ईणं (स्त्रीलिंग में) प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसे—तित्थयराणं < तीर्थंकराणाम्, केसवाणं < केशवानाम्, सवत्तीणं < सपत्नीनाम् (पृ. १३)।

धातु एवं कृदन्त रूप

क्रिया रूपों के प्रयोग प्राकृत के समान ही उपलब्ध होते हैं। यथा—

होइ < भवति—होता है (पृ. १), चयंति < चयन्ति—च्युत होते हैं (पृ. ३),
आइ < आयति—आती है (पृ. ५), दिज्जइ < दीयते—दिया जाता है (पृ. ११),
पुज्जिउ < पूजिता:—पूजा की गई (पृ. ११), भिज्जइ < भिद्यते—टूटता है (पृ. ११),
आसासिउ < आश्रमित:—ठहर गया (पृ. ११), होई < भवन्ति—होती है (पृ. १३),
भमेइ < भ्राम्यति—घूमता है (पृ. १३), हिज्जइ < हीयते—त्यागा जाता है (पृ. १५),
कहसु < कथ्यताम्—कहिए (पृ. १५), पुज्जइ < पूर्यते—पूरित होता है (पृ. १५),
कंपइ < कंपति—काँपता है (पृ. १७), चिट्ठए < तिष्ठति—बैठती है (पृ. १७),
गिहंति < गृहणान्ति—गृहण करते हैं (पृ. १७), मग्गंती < मार्गयन्ती—खोजती हुई (पृ. १७),
मण्णइ < मन्यते—मानता है (पृ. १७), करइ < करोति—करता है (पृ. १७) (कृञ् के स्थान पर प्राय: कर का प्रयोग होता है)।

गमइ < गच्छत:—जाते हैं (पृ. १७), झरहि—झर रहे हैं (पृ. १७),
चितंती < चिन्तयन्ती—विचार करती हुई (पृ. १७), रक्खई < रक्षति—रखता है (पृ. १९),
अक्खइ < आख्याति—कहता है (पृ. १९), सकइ < शक्नोति—समर्थ होता है (पृ. १९),
दरसावहि < दर्शय—दिखलाओ (पृ. १९), छुट्टइ < छूटता है (पृ. १९),
गच्छइ < जाता है (पृ. २१), चिंतइ < चिन्तयति—सोचती है (पृ. २९),
देइ < ददाति—देता है (पृ. २३)।

पूर्वकालिक क्रिया या सम्बन्धसूचक कृदन्त के लिए संस्कृत में क्त्वा और ल्यप् प्रत्यय आते हैं। मइंकलेहा चरिउ में उनके स्थान पर 'इय', 'इवि', 'इउ' 'एवि', 'इ', 'ऊणं' का प्रयोग किया है। जैसे—

सिक्खिय—सीखकर (पृ. ५), चलिय—चलकर (पृ. ७),
करि—कर (पृ. ९), णवेवि—नमस्कारकर (पृ. ९),

७६. 'त्र' के स्थान पर 'त' का प्रयोग—मंतेण < मन्त्रेण (पृ. ९५), पंचपत < पञ्चपात्र (पृ. १०५)।

७७. आदि और अन्तिम अक्षर का लोप—हंढड़ < आहिण्ड्येत (पृ. ९५)।

७८. जिन अक्षरों के ऊपर रेफ होती है, उनका प्राय: द्वित्व हो जाता है। जैसे—
अत्ति < आर्त (पृ. १२५), धम्मु < धर्म (पृ. ९९), कव्वड < कर्वट (पृ. ९९)।

७९. कहीं-कहीं रेफ वाले अक्षर का द्वित्व नहीं भी होता है। जैसे—
दंसण < दर्शन (पृ. १५), हर्ष < हरिस (पृ. १२३)।

८०. 'प' लोप का उदाहरण—णउ < नापि (पृ. १०१)।

८१. 'घ' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग—जहण्ण < जघन्य (पृ. १०५)।

८२. अनुस्वार का आगमन—णिहांणु < निधान (पृ. १०५), दंसण < दर्शन।

८३. 'द' के स्थान पर 'र' का प्रयोग—वारह < द्वादश (पृ. १०५)।

विभक्तियाँ—प्रथम विभक्ति के एक वचन में महाराष्ट्री शैली के समान ओकार का प्रयोग नहीं पाया जाता है। जैसे—

मंदिर < मन्दिर (पृ. ३), मणोहर < मनोहर (पृ. ३), राउ < राजा (पृ. ३),
सूरु < शूर (पृ. ३), पवीणु < प्रवीण (पृ. ३),. णेत्त < नेत्र (पृ. ३),
सायरु < सागर (पृ. ३), रवि < रवि (पृ. ३), मणुव < मनुज (पृ. ३),
दीणु < दीन (पृ. ३), भालु < भाल (पृ. ३), चन्दु < चन्द्र (पृ. ३),
सुक्क < शुक्ल (पृ. ३), कलस < कलश (पृ. ३), वेसु < वेष (पृ. ३),
धर्म < धम्म (पृ. ३), धय < ध्वज (पृ. ३), लेसु < लेश्या (पृ. ३),
पूरु < पुर (पृ. ३), हीणु < हीण (पृ. ३)।

प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अन्त में उकार बहुला प्रवृत्ति पाई जाती है।

पञ्चमी के एकवचन में आउ प्रत्यय पाया जाता है। जैसे—गिहाउ < गृहात् (पृ. ४७)

सप्तमी के एकवचन में अन्त में एकार अथवा इकार का प्रयोग होता है। जैसे—

सीले < शीले (पृ. १), दाणे < दाने (पृ. ५), गब्भ < गर्भे (पृ. ५),
णखत्ति < नक्षत्रे (पृ. ५), रुवे < रूपे (पृ. ५), साइरि < सागरे (पृ. ९),
देवलि < देवालये (पृ. ९), तिभुवणि < त्रिभुवने (पृ. १), णियडि < निकटे (पृ. ५),
रंगि < रंगे (पृ. ५), धम्मे < धर्मे (पृ. ५), उत्तमंगि < उत्तमाङ्गे (पृ. ३९),
भिंतरि < आभ्यन्तरे (पृ. ७७)।

तृतीया विभक्ति के एकवचन में एण प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। जैसे—

दव्वेण < द्रव्येण (पृ. ९५), विज्जया < विज्जेण (पृ. ९५),
मंतेण < मन्त्रेण (पृ. ९५), कुसलत्तणेण < कुशलत्वेन (पृ. ९५),
दाणेण < दानेन (पृ. ९५), विहवेण < विभवेन (पृ. ३),
णामेण < नाम्ना (पृ. ३), मित्तेण < मित्रेण (पृ. ७)

सप्तमी के बहुवचन में आणं (पुल्लिंग में) अथवा ईणं (स्त्रीलिंग में) प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसे—तित्थयराणं < तीर्थंकराणाम्, केसवाणं < केशवानाम्, सवत्तीणं < सपत्नीनाम् (पृ. १३)।

धातु एवं कृदन्त रूप

क्रिया रूपों के प्रयोग प्राकृत के समान ही उपलब्ध होते हैं। यथा—

होइ < भवति—होता है (पृ. १), चयंति < चयन्ति—च्युत होते हैं (पृ. ३),
आइ < आयति—आती है (पृ. ५), दिज्जइ < दीयते—दिया जाता है (पृ. ११),
पुज्जिउ < पूजिता:—पूजा की गई (पृ. ११), भिज्जइ < भिद्यते—टूटता है (पृ. ११),
आसासिउ < आश्रमित:—ठहर गया (पृ. ११), होई < भवन्ति—होती है (पृ. १३),
भमेइ < भ्राम्यति—घूमता है (पृ. १३), हिज्जइ < हीयते—त्यागा जाता है (पृ. १५),
कहसु < कथ्यताम्—कहिए (पृ. १५), पुज्जइ < पूर्यते—पूरित होता है (पृ. १५),
कंपइ < कंपति—काँपता है (पृ. १७), चिट्ठए < तिष्ठति—बैठती है (पृ. १७),
गिहंति < गृहणान्ति—गृहण करते हैं (पृ. १७), मग्गंती < मार्गयन्ती—खोजती हुई (पृ. १७),
मण्णइ < मन्यते—मानता है (पृ. १७), करइ < करोति—करता है (पृ. १७) (कृञ् के स्थान पर प्राय: कर का प्रयोग होता है)।
गमइ < गच्छत:—जाते हैं (पृ. १७), झरहि—झर रहे हैं (पृ. १७),
चितंती < चिन्तयन्ती—विचार करती हुई (पृ. १७), रक्खई < रक्षति—रखता है (पृ. १९),
अक्खइ < आख्याति—कहता है (पृ. १९), सकइ < शक्नोति—समर्थ होता है (पृ. १९),
दरसावहि < दर्शय—दिखलाओ (पृ. १९), छुट्टइ < छूटता है (पृ. १९),
गच्छइ < जाता है (पृ. २१), चिंतइ < चिन्तयति—सोचती है (पृ. २९),
देइ < ददाति—देता है (पृ. २३)।

पूर्वकालिक क्रिया या सम्बन्धसूचक कृदन्त के लिए संस्कृत में क्त्वा और ल्यप् प्रत्यय आते हैं। मइंकलेहा चरिउ में उनके स्थान पर 'इय', 'इवि', 'इउ' 'एवि', 'इ', 'ऊणं' का प्रयोग किया है। जैसे—

सिक्खिय—सीखकर (पृ. ५), चलिय—चलकर (पृ. ७),
करि—कर (पृ. ९), णवेवि—नमस्कारकर (पृ. ९),

भणिवि—कहकर (पृ. ९), ठिउ—ठहरकर (पृ. ९),
वियणिय—जानकर (पृ. ११), परियाणिवि—विचारकर (पृ. ११),
करेवि—करके (पृ. ११), आइण्णिवि—सुनकर (पृ. ११),
हरसिय—हर्षित होकर (पृ. ११), वियप्पि—विकल्प कर (पृ. २१),
परिहरिय—परिहार कर (पृ. २१), करिवि—करके (पृ. २५),
आदरिउ—आदर करके (पृ. ४७), परिक्खिऊणं—परीक्षा कर (पृ. ४७),
रक्खिय—रखकर (पृ. ५१), णिम्माणिय—नियमित कर (पृ. ५१)।

महाकवि भगौतिदास की मइंकलेहा चरिउ में सैकड़ों ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनका व्यवहार आधुनिक हिन्दी में प्रान्तीय भाषाओं में सीधे रूप में या कुछ हेरफेर कर होता है। जैसे—रिसि, सील, डसइ (डसता है), सप्पु (सर्प), सिग्घ (शीघ्र), विग्घ (विघ्न), मंगल, जसु (यश), अडिग्ग (अडिग), णरय (नरक), जोणि (योनि), अखोहणि (अक्षौहिणी), तुरिय (त्वरित)—(पृ. १)।

कित्ती (कीर्ति), चुक्का (चूका), दक्खण, तिलउ (तिलक), मन्दिर, मनोहर (मनोहर), सव्व (सब), भत्ति (भक्ति), पंडिय (पंडित), भालु (भाल)—(पृ. ३)।

घरणी, दाण, सिठाणि (सेठानी), विसाल, णखत्त (नखत), देह, चाल, धरिउ (धरे)—(पृ. ५)।

वण्णण (वर्णन), मण (मन), कण्ण (कन्या), विहलु (विफल), मुच्छा (मूर्च्छा), अचुक्कु (अचूक), संसारु (संसार), असारु (असार), जर, मरण, पोसह (प्रोषध), जर—(पृ. ९)।

मंती (मन्त्री), भोयणु (भोजन), पुत्त (पुत्र), णिरु (निरा), ठिउ (स्थित), णाणा (नाना), सोहण (शोभन), गुणवंत, महंत, सरि, सूर (सूर्य), सायर (सागर) वयण (वचन)—(पृ. ११)

उछाह, जीविय (जीवित), कलेवरु (कलेवर), गुणु (गुण), लग्गु (लगा), अणुरत्तु (अनुरक्त), णेह, वसंतु (वसन्त)—(पृ. १३)।

रुइ (रुचि), अणेक (अनेक), चल्लइ (चलता है), विदेसि (विदेश)—(पृ. १५)।

कंपइ (काँपता है), झरहि (झरते हैं), विलेवण (विलेपन), मलिण (मलिन), मुद्धा (मुग्धा), वासा (वर्ष)—(पृ. १७)।

रुदनु, पिय, अवासि (आवास), छुट्टइ (छूटता है), चल्ली (चली)—(पृ. १९)।

दाहिणु, सिंगारु, सज्जु, हक्कारि, वल्लहु (वल्लभ), अंगु, कला, भीम, णरिंद, फरिक्किओ (फड़का)—पृ. २५ इत्यादि। इस प्रकार भगौतीदास की अपभ्रंश पुरानी अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं को जोड़ने की कड़ी है।

अभिज्ञान शाकुन्तल और मइंकलेहा चरिउ—कालिदास कृत अभिज्ञान शाकुन्तल में शार्ङ्गरव कहता है—

सतीमपि ज्ञातिकुलैक संश्रया, जनोऽन्यथा भर्तृमती विशङ्कते॥
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते, प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः॥
—अभि. ५। १७॥

सधवा के स्त्री के निरन्तर पिता के घर रहने पर लोग उसके विषय में उल्टे प्रकार से आशंका करने लगते हैं। अत: स्त्री का उसके पति के यहाँ ही रहना उचित है, चाहे स्त्री अपने पति को प्रिय हो या अप्रिय।

आगे वह शकुन्तला से कहता है—

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा, त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तुवेत्सि शुचि व्रतमात्मनः, पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्॥
—अभि. ५। २७॥

अर्थात् जैसा जैसा कहते हैं, यदि तू वैसी ही है तो कुल को कलंक लगाने वाली तुझसे पिता को क्या? और यदि अपने व्रत को निर्मल मानती हो तो पति के कुल में तुम्हें दासी बनकर रहना भी योग्य है।

मइंकलेहा चरिउ में भी कहा गया है—

बुच्चइ कावि णियडि घरि भामिणि पिय परिहव दुहासिया।
पीहरि वासु ण सुकुल केरओ, वर घरि ससुर दासिया॥ पृ. २१-२२॥

किसी दिन मृगांकलेखा के निकट के महल कोई स्त्री आकर बोली, कुलवती स्त्रियों का पिता के घर रहना श्रेष्ठ नहीं है। श्वसुर गृह में दासी बनकर रहना श्रेष्ठ है।

शाकुन्तल में कहा गया है कि भवितव्यता के द्वार सब जगह होते हैं।[१] मृगांकलेखा चरित में कहा गया है कि जो कुछ विधाता की कर्मविधि है, उसे कौन टाल सकता है।[२]

मेघदूत और मइंकलेहा चरिउ—मेघदूत में कहा गया है—

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखेमकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥ उत्तरमेघ ४६॥

अर्थात् अत्यन्त रूप से सुख अथवा दु:ख किसे प्राप्त हुआ है? सुख और दुख चक्र की नेमि के समान ऊपर नीचे होता रहता है अर्थात् कभी सुख आता है, कभी दुख आता है।

मइंकलेहा चरिउ में यही बात इस प्रकार कही गई है—

संपति विपति विजोगु रोग भोगु भावी उदइ।
हरिसु विसादु रु सोगु समा न चलई तिहं तणउ॥ १॥ (पृ. १९-२०)

---

१. अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥ अभि. १। १६।
२. जो कुछ विधि विधिनाथ की कौन सकई तिंह टालि॥ मइंक. पृ. १९॥

हे पुत्र! सम्पत्ति, विपत्ति, वियोग-रोग-भोग, भवितव्यता, उदय, हर्ष, विषाद और शोक सदैव एक से नहीं रहते।

स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा और मइंकलेहा चरिउ— स्वामिकात्तिकेयानुप्रेक्षा में ये गाथाएँ कहीं गईं हैं—

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा॥ ३२१॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि,
को ससक्कादि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा॥ ३२२॥

जिस जीव के जिस देश में जिस काल में, जिस विधान से जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियत रूप से जाना है, उस देव के उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है। उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने से समर्थ है?

इससे पूर्व की गाथा कही है—

भत्तीए पुज्जमाणो विंतर देवो वि देदि जदिलच्छी।
तो किं धम्मे कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी॥ ३२०॥

यदि भक्ति से पूजे जाने पर व्यन्तर देव लक्ष्मी देते हैं तो फिर धर्माचरण करना व्यर्थ है।

मइंकलेहा चरिउ में इसी बात को इस प्रकार कहा है—

जय देवया वि रक्खइ, मंतो तंतो य खित्तवालो य।
मियमाणं पि मणुस्स णर णियरा अक्खरा होंति॥ १८॥
पूयंतो णरु मूढ़ो गह भूय पिसाय जोइणी जक्खं।
आउक्खएण मरणं चक्की हरि रुद्द इंद्द अहमिंदा॥ १९॥
अप्पाणं पि चवंतो जइ सक्कदि रक्खिदुं सुरिंदो वि।
तो किं छंडदि सग्गं सव्वुत्तुम भोय संजुत्तं॥ २०॥

अर्थात् यदि देवता, मन्त्र-तन्त्र क्षेत्रपाल भी रक्षा कर सकते होते तो करते हुए उनके आत्मीय जन निश्चित ही अक्षय हो जाते। ग्रह, भूत-पिशाच, योगिनी और यक्ष की पूजा करता हुआ यह मूढ़ मनुष्य आयु क्षय हो जाने पर निश्चित ही मरण को प्राप्त होता है, चाहे वह चक्रवर्ती हो, नारायण, रुद्र, इन्द्र व अहमिन्द्र की क्यों न हो? यदि सुरेन्द्र भी स्वर्ग से च्युत होते हुए अपने आपको रक्षित करने में समर्थ होता तो सर्वोत्तम भोगों से संयुक्त स्वर्ग को क्यों छोड़ता?

इंद णरिदंचंद विज्जाहरे चक्की जिण हरि हलहरा।
कम्म विवाउ उदय णिरु भुंजइ सो यहु कम्मुधरा वरा॥ मइंक., पृ. २९॥

इन्द्र, नरेन्द्र, चन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती, जिनेन्द्र, नारायण, हलधर सभी अपने कर्मफल को भोगते हैं। कर्म ही इस धरती पर श्रेष्ठ है।

सामाजिक जीवन

परिवार—माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन आदि के घटक से परिवार बनता है। पिता के रूप में धनसार नामक श्रेष्ठी में निम्नलिखित गुण प्राप्त होते हैं—

१. पवित्र धन का सप्त स्थानों (जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, जिनयात्रा, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, दान-पूजा और सिद्धान्त शास्त्रों के लेखन) में व्यय।

२. शील ३. परद्रव्य से पराङ्मुख होना।

माता के रूप में रम्भा के निम्नलिखि गुण प्राप्त होते हैं—

१. धर्म में नि:शंक थी २. पाप से डरती थी।

३. सीता के समान शीलवती थी ४. उसके भाव शास्त्रदान में प्रवीण थे।

५. वह गुरु के पादपङ्कजों में भौंरें की तरह लिप्त रहती थी।

६. प्रात:काल जिनेन्द्र प्रभु के नाम का स्मरण करती हुई शय्या से उठती थी।

७. चतुर्विध संघ को आहार देने का भाव[१] रखती थी।

पिता ने जब उनके यहाँ पुत्र के समान पुत्री हुई तो बहुत ही सुन्दर उत्साहपूर्वक जन्म महोत्सव कराया। उसने सम्पूर्ण कला और विज्ञान की शिक्षा ग्रहण की और वह अपरिमित जिन धर्म के रंग में रंग गई।[२] पुत्री के समान पुत्रों के होने पर भी उत्सव कराया जाता था। मृगांकलेखा के जब पुत्रोत्पत्ति हुई तो वह विचार करने लगी—हे पुत्र! यदि तेरे पिता आज यहाँ होते तो निश्चित ही नगर परिजनों के साथ देव, मनुष्य, विद्याधर तथा सज्जनों के मन को हरण करने वाला उत्सव करते।[३]

शिशु के जन्म पर युवतियाँ जन्म सम्बन्धी गीत गाती थीं।[४]

सुपुत्र—सुपुत्र ही गृहस्थ की धुरा को धारण करते हैं। सिंह जैसे शिशु को जनकर सिंहनी निर्भय और निरुत्तर होकर शयन करती है। गर्दभ जैसे पुत्रों को प्रसूत करने से क्या प्रयोजन? जो नित्य ही अपनी पीठ पर बोझा ढोता फिरता है। लोक में सुपुत्र की प्राप्ति गहन वन में चन्दन के समान दुर्लभ है। क्या वंश की वृद्धि विट पुरुषों से होती है अथवा ऊसर भूमि में क्या बीज वंश की वृद्धि हो सकती है? क्या नक्षत्रों का समूह ज्योतिषी चन्द्र हो सकता है? अथवा क्या बहुत से दीपों से चन्द्रमा का उदय हो सकता है अथवा बहुत से दीप क्या चन्द्र की बराबरी कर सकते हैं? क्या खद्योतपति की प्रभा सूर्य के समान हो सकती है? क्या बहुत से सर्प पक्षिराज गरुड़ की समानता कर सकते हैं? वन में सिंह ही पर्याप्त है, अनेक मृगों की क्या आवश्यकता? क्या नाना केंचुए मिलकर काले नाग समान हो सकते हैं? क्या अग्नि के एक कण

---

१. मइंकलेहा चरिउ, पृ. ५। २. वही, पृ. ५। ३. वही, पृ. ५६। ४. वही, पृ. ५९।

सहित तृण समूह स्थिर रह सकता है ? अथवा कर्म समूह विद्यमान रहने पर भी क्या कभी सिद्धत्व उत्पन्न हो सकता है ? अर्थात् जैसे ये समस्त असमानताएँ परस्पर असम्भावित हैं, उसी प्रकार वह एक अकेला मृगांकलेखा का विशुद्ध पुत्र ही पर्याप्त था, सुखप्रद था; क्योंकि असन्तुष्ट रखने वाले अनेक पुत्रों से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है। मृगांकलेखा का पुत्र अत्यन्त विनीत था। मन में मान को स्थान नहीं देता था। जो सुभट धन सम्पदा को पाकर दूसरों का सम्मान नहीं करते, मन में अभिमान रखते हैं, वे निश्चित ही अज्ञानी हैं, मूर्ख हैं। जो संवर सम्पदा से संयुक्त हैं, उनके पास दरिद्रता नहीं आती है। लोक में पुरुषों में जो उत्तम गुण कहे जाते हैं, वे सब सागरचन्द्र के पुत्र में विद्यमान थे।[१]

पुरुषों के प्रति आक्रोश—पति के द्वारा तिरस्कृत किए जाने पर मृगांकलेखा इन शब्दों में आक्रोश व्यक्त करती है ?

'हो! पुरुप हृदय, शरीर, मुख, हाथ और पैर इन पाँचों से सुन्दर होते हुए भी निष्ठुर एवं ठगिया होते हैं। हाय विधाता ने पुरुषों को तो श्रेष्ठ और सयाना बनाया है तथा नारी को अबला एवं अज्ञानी। सारे चतुर पुरुष-स्त्रियों को मुग्धा/भोली-भाली कहते हैं, जबकि स्वयं निर्दय और निष्ठुर होते हुए भी सारे पुरुष भव्य कहलाते हैं। उप:कालीन बाल सूर्य दूर से ही वन्दनीय होता है; क्योंकि जब वह आकाश क्षितिज पर उदित होता है, तब प्रारम्भ में अत्यन्त अरुण-लाल सुन्दर लगता है, किन्तु कुछ समय पश्चात् उसका प्रताप उग्र होते-होते महाप्रचण्ड हो जाता है, जिससे वह दर्शनीय नहीं होता अर्थात् उसकी ओर देखना असम्भव हो जाता है। उसी प्रकार पुरुष प्रारम्भ में तो अतीव अनुराग युक्त सुन्दर लगते हैं, पश्चात् वे ही पुरुष सयाने हो जाने से प्रचण्ड प्रभाकर ही तरह अदर्शनीय हो जाते हैं। अस्त्र-शस्त्रों से प्रहार करते समय ये पुरुष काल स्वरूप होते हैं; क्योंकि वे सुन्दर स्वरूपवानों के प्राणों का भी हरण कर लेते हैं। समस्त वीर पुरुष पाप कर्म में वीर होते हैं तथा धैर्यशील, विश्वासकारी प्राणियों को दुर्गति में ले जाते हैं। वीर पुरुष अधिकारी होते हैं। अपने अधिकार बल से धैर्यशील विश्वासकारी की दुर्गति/दुर्दशा करते हैं। इन अधर्मियों के विषय में अधिक कहने से क्या[२] ?'

सभी पुरुष एक समान नहीं होते—उपर्युक्त आक्रोश के उत्तर में सागरचन्द्र कहता है—सभी स्त्री-पुरुष एक समान नहीं होते ? हे भद्र! क्या पत्थर और मणि को एक जैसा कहोगी ? क्या खील और कस्तूरी इनके भिन्न-भिन्न गुण नहीं हैं ? क्या बगुला और हंस, काक और कोयल एक समान, एक वर्ण, एक संज्ञा के होते हुए मधुर-मधुर ध्वनि किए जाने पर पृथक-पृथक नहीं जाने जाते ? क्या सोना और धतूरा एक ही 'कंचन' शब्द से नहीं कहे जाते, परन्तु क्या वे एक जैसे हो जाते हैं ? क्या उनके पोषण और प्राणहरण जैसे गुणों को नहीं जानती ? कंचन प्राणों का पोषण करता है और धतूरा प्राणों को हर लेता है। सभी स्त्री-पुरुषों को एक जैसा क्यों कहती हो ? कर साधन/हस्तरेखा अर्थात् सामुद्रिक लक्षणों के द्वारा राजा और रंक की पहचान होती है।[३]

---

१. मइंकलेहा चरिउ, पृ. १४९। २. मइंकलेहा चरिउ, पृ. ३३। ३. वही पृ. ३३-३५।

स्त्रियों की स्थिति—स्त्रियों की दो गतियाँ होती हैं। यदि वे प्रसन्न या अनुरक्त रहती हैं तो ही श्रेष्ठ हैं और यदि वे विरक्त अर्थात् रुष्ट हो जाती हैं तो उभय कुलों के लिए मारि स्वरूप हो जाती हैं। ये रुदनशील भामनियाँ स्वयं रुदन करती हैं तथा दूसरों को भी रुलाती हैं। यश और कीर्ति का विनाश करती हैं। पुरुषों को अयश में क्रीड़ा कराती हैं। अपयश में पटक देती हैं। इनके साथ रति-सम्भोग नरकावास का कारण है तथा इनकी प्रतिकूलता नरपुंगवों को क्षोभित-अशान्त कर देती है।[१] श्रेष्ठ सती स्वर्ण के समान होती है, जैसे—सोना कसे-घिसे और तपाए जाने पर अधिक दीप्ति देता है, लोग उसे सुरक्षित रखते हैं। ऐसी ही स्थिति सतियों में होती है, किन्तु असतियाँ पीतल की आढ़क/आढ़की (अनाज नापने की पाँच सेर का एक पात्र विशेष) के समान होती हैं, जिन्हें नीच पुरुष भी जहाँ-तहाँ प्राप्न कर लेते हैं।[२] उत्तम सतियाँ चणक दाल सदृश होती हैं अत्यधिक रूप से सर्वांग पीत अर्थात् निर्दोष होती हैं और असतियाँ मसूर की दाल के समान रक्त होती हैं, जिनमें पुरुष सदा अनुरक्त रहते[३] हैं।

विवाह—विवाह के लिए वाग्दान शुभ मुहूर्त में दिया जाता था। धनसार श्रेष्ठी ने अतिशीघ्र शुभ मुहूर्त में सागरदत्त के पुत्र को अपनी पुत्री देना स्वीकार कर लिया।[४] ऐसे समय धार्मिक कार्य किए जाते थे। धनसार श्रेष्ठी ने नगर में चौबीस तीर्थंकरों की महान् पूजा/प्रभावना करके सुपात्रों को दान दिया।[५] विवाह हेतु शुभ मुहूर्त की खोज की जाती थी। मृगांकलेखा सम्बन्धी विवाह प्रस्ताव को जानकार चन्द्रसूरि ने एकान्त में संकेत कर सागरदत्त से कहा—तुम्हारे लिए यह योग अत्यन्त शुभ नहीं है। अत: हे आर्य! आज ही पर्व के दिन शुभ मुहूर्त है, लग्न भी श्रेष्ठ है, इसलिए आप मेरे वचनानुसार आज की कार्य करो, जिससे यह सम्बन्ध मन के लिए इष्टकर हो।[६] निमित्त ज्ञानी के वचनों के अनुसार शुभ लग्न देखी गई। दोनों गृहों में विवाह की सामग्रियाँ तैयार होने लगीं। उभयगृहों में मनोज्ञ उत्साह छा गया एवं भंभा, भेरी के उच्च स्वर गूँजने लगे। नित्य ही सुन्दर गीत गाए जाने लगे और सुन्दर मनोहर नृत्य होने लगे। भिखारियों एवं भृत्यों को समान मात्रा में द्रव्य दिया जाने लगा। परिणय विधि पर सब ओर उत्कृष्ट प्रमोद भाव बढ़ गया, किन्तु दुर्जन पुरुषों के मनरूपी कमलों में शोक उत्पन्न हो गया।[७]

सामान्यतया लोग एक विवाह करते थे, किन्तु बहु विवाह की भी प्रथा प्रचलित थी। ऐसा लगता है कि कोई-कोई धनी लोग अपने पुत्रों के एक से अधिक विवाह भी करते थे। सुरेन्द्रदत्त का वैश्रवण ने मृगनयनी, चतुरा, गजगामिनी, कञ्चनवदनी बत्तीस कन्याओं के साथ विवाह[८] किया। एक स्थान पर सखियाँ आपस में बातचीत करती हुई कहती हैं—(अधिकारी) अनेक स्त्रियों से विवाह करता है। जिनमें दुर्भाग्यशालिन् अनेक होती हैं, सौभाग्यशालिनी तो कोई एक ही होती है। व्यापारी वर सुन्दर और सुज्ञान होते हैं, उनके गमन और ठहरने से वनिता-वियोग नहीं होता। यद्यपि परस्पर विवाह की अनेक रुचियाँ होती हैं, इसलिए वे प्रणयिनी तो अनेक बना लेते हैं तथापि किसी एक को ही अपनी प्रिय पत्नी बनाते हैं।

---

१. वही, पृ. १११। २. वही, पृ. ४७। ३. वही, पृ. ४९। ४. वहीं, पृ. ११।
५. वही, पृ. ११। ६. मइंकलेहा चरिउ, पृ. ११। ७. वही, पृ. १३। ८. वही, पृ. ५९।

तुच्छ आयुवाला भी गुणवन्त प्रशंसनीय होता है। अधिक विष संचय करने से क्या कार्य सिद्ध होता है? घृत का स्वाद आदरणीय होता है, तैल का नहीं अथवा घृत के स्वाद की पूर्ति तैल नहीं करता। एक बार सुन्दर स्वादिष्ट क्षीरान्न खाना श्रेष्ठ है, किन्तु नित्य ही कोदों का भोजन करने से क्या गौरव[१] ?

परित्यक्ता स्त्री—पति के द्वारा अकारण परित्यक्ता स्त्री की स्थिति अत्यन्त कष्टपूर्ण हो जाती है। सागरचन्द्र के द्वारा अकारण परित्यक्ता मृगांकलेखा को अनेक कष्ट उठाने पड़े। वह धर्म ध्यानपूर्वक अपने पिता के घर सात माह से रह रही थी, किन्तु उसके महल के निकट की कोई स्त्री आकर उससे कहती है—कुलवती स्त्रियों का पिता के घर में रहना श्रेष्ठ नहीं है। श्वसुर गृह में दासी बनकर रहना श्रेष्ठ है; क्योंकि इससे पति का पराभव होता है एवं जग में हँसाई होती है। पड़ोसिन की बात सुनकर मृगांकलेखा ने अपने मन में विचार किया कि सुखी-दु:खी होकर निज पति गृह में निवास करूँगी और ऐसा ही उस महिला से कहकर अपने मन में दृढ़ता धारण कर मृगांकलेखा अपनी सखी के साथ अपने घर चली गई।[२] इधर पति गृह में उससे कोई स्नेह नहीं करता है। नाथ के प्रतिकूल होने पर सुख नहीं होता।

सासू—सासू प्राय: अपनी पुत्रवधू के प्रति अच्छा व्यवहार नहीं करने के कारण निन्दा की पात्र रही हैं। अञ्जना की सास ने उसका तिरस्कार कर घर से निकाल दिया था। मृगांकलेखा की सासू कहती है—हे निर्लज्ज! क्या तू मुझे किसी का विनाश दिखलाएगी? सासू के आदेश से चन्द्रकान्ति सदृश मृगांकलेखा को दासी ने हाथ पकड़कर घर से बाहर निकाल दिया। मृगांकलेखा को कठोर लाठी से पीटती हुई पद्मा सासू हँसते हुए कहती है—जा-जा! अपने पिता को अपना दु:खड़ा सुना।

श्वसुर—सासू की अपेक्षा श्वसुर प्राय: विवेक बुद्धि का प्रयोग करता है। जब मृगांकलेखा की सासू उसे पीट रही थी तो सेठ सागरदत्त उसी समय वहाँ आ पहुँचे। पुत्रवधू को ऐसी स्थिति में देखकर वे लज्जित हो गए। महल के भीतर जाकर अपनी सुन्दरी निजपत्नी से सारा वृत्तान्त पूछा तथा अत्यन्त कठोर वचनों से परिजनों की भर्त्सना करते हुए बोले—जहाँ सदैव कुल परम्परा से गृहिणियाँ एवं पुत्रवधुएँ रहती आई हैं, वहीं भवन के भीतर कुल वधू मृगांकलेखा को स्थान दो। वह पद्मा सेठानी अपने स्वामी से बोली—आपका पुत्र इसे यहाँ स्थान नहीं देना चाहता है। यह गुणवती आदर के बिना यहाँ आई है, इस कारण बाला द्वार पर बैठी है।

पत्नी के वचनों को सुनकर सुविज्ञ सागरदत्त अपनी ज्ञानवती पुत्रवधू के निकट आए और अत्यन्त विनीत एवं मधुर वाणी में कहने लगे—हे भद्रे! तुम्हारा पराभव किसने किया है? हे तात! कौन सा कारण कहूँ, जिससे मैं परित्यक्त एवं निराश्रित की गई हूँ। अब मैं अपने पिता के घर नहीं रहूँगी। आप ही दासी के समान समझकर रख लीजिए। हे तात! आप मुझे आदेश दीजिए ताकि मैं संयम ही जिसमें सारभूत है, ऐसी जिनदीक्षा को ग्रहण करूँ। जीवन को संन्यास से सफल करूँ, अन्यथा मैं अनशन करके मर जाऊँगी।

---

१. वही, पृ. १५। २. वही, पृ. २१।

वे दयानिधि श्रेष्ठी बोले—हे पुत्री! धर्म ध्यान करती हुई अपने घर पर ही रहो, अन्य स्थानों को छोड़कर एक ही स्थान पर साम्य भाव धारण करो। समस्त दासियाँ आपकी आज्ञा स्वीकार करेंगी तथा उत्तमोत्तम भोजन और वस्त्राभूषणों से आपके आवास को भर देंगी[१]।

इस प्रकार श्वसुर अपनी सदाशयता का परिचय देता है, किन्तु पुत्रवधू के गर्भवती होने पर पुन: पद्मा सेठानी उसे घर से बाहर निकाल देती है तथा पुत्रवधू के माता-पिता को भी सन्देश भेज देती है कि इसे घर पर नहीं रखना; क्योंकि यह दुश्चरित्रा है। इस प्रकार सासू की अज्ञानता के कारण एक अबला को कष्ट सहना पड़ता है, श्वसुर भी उसके सामने असहाय हो जाता है। भारतीय नारी की यह त्रासदी है कि पति के द्वारा उपेक्षित होने पर उसे सबकी उपेक्षा सहनी पड़ती है।

भाई—मइंकलेहा चरिउ में मृगांकलेखा का भाई अपनी बहिन के प्रति सहृदय और विवेक ज्ञात होता है। वह अपने माता-पिता को सलाह देता है कि सब प्रकार की छान-बीन करने के पश्चात् ही मृगांकलेखा के विषय में कोई निर्णय लिया जाए।

भोजन पान—मइंकलेहा चरिउ में प्रसंगवशात् चने तथा मसूर[२] की दाल, मोदक[३], क्षीरान्न तथा कोद्रव[४] का उल्लेख हुआ है। भोजन के बाद लोग ताम्बूल का ही सेवन करते थे।

वस्त्राभूषण

सूक्ष्म वस्त्र—समर्थ लोग सूक्ष्म वस्त्र धारण करते थे। कामसेना नामक वेश्या स्वर्ण के उत्तम आभूषण एवं सूक्ष्म वस्त्र पहने हुए थी।[५] सामान्य व्यक्ति जाड़ों में गाडरों के रोमसमूह से बना अम्बर धारण करते रहे होंगे। एक स्थान पर कहा गया है कि कहाँ गाडरों के रोमसमूह से बना अम्बर और कहाँ समूक्ष्म वस्त्र।[६]

आभूषण—स्वर्ण के उत्तमोत्तम आभूषण पहनने का चलन था। मणिभूषण[७], चन्द्रकान्त मणि (सजल जलवाह),[८] हार (पृ. ३७) नामांकित रत्नजड़ित मुद्रा (पृ. ४१), मुक्ताफल, करवलय[९] (कर कंगन), चिन्तामणि रत्न (पृ. ७५) आदि आभूपणों का भी मइंकलेहा चरिउ में उल्लेख प्राप्त होता है।

प्रसाधन—प्रसाधन हेतु कर्पूर, कुम्कुम, सिन्दूर, कस्तूरी आदि का उपयोग किया जाता था।

विभिन्न उपकरण—धातु के आयुध, ढाल, सन, जाल, पाश, पक्षियों के पिंजड़े, हल की फाल तथा लाख आदि उपकरण प्रयुक्त होते थे।

विभिन्न प्रकार की विद्याएँ—मइंकलेहा चरिउ में अनेक प्रकार की विद्याओं का उल्लेख प्राप्त होता है, जो निम्नलिखित हैं—

---

१. मइंकलेहा चरिउ, पृ. २३। २. मइंकलेहा चरिउ, पृ. ४९। ३. वही, पृ. ५७। ४. वही, पृ. १५।
५. वही, पृ. ७७। ६. वही, पृ. १०९। ७. वही, पृ. १२५। ८. वही, पृ. १२३। ९. वही, पृ. ४५।

शकुन विद्या—प्राचीन काल से ही शुभाशुभ शकुनों के विषय में मनुष्यों का विश्वास रहा है। मइंकलेहा चरिउ में धनसार श्रेष्ठी की प्रिया रम्भा एक दिन रात्रि के समय स्वप्न देखती है—मेरे गृहांगण में कोमल-कोमल पल्लवों सहित अमृत बेलि उत्पन्न हुई है तथा नभमण्डल से जलवृष्टि हो रही है। उप:काल में वह श्रेष्ठी पत्नी जिनेन्द्र प्रभु का कम स्मरण करते हुए अपने पति के निकट आई और पूछने लगी—हे स्वामिन्! स्वप्न के फल को युक्तिपूर्वक कहिए। स्वप्नों को सुनकर श्रेष्ठी कहता है—प्रिये! तुम्हारे गर्भ में पुत्री है। वह सुलक्षणा, विशाल बुद्धि वाली, धर्मनिपुणा एवं रूप में अत्यन्त सुन्दर होगी।[१]

ज्योतिष विद्या—प्राचीन काल में भारतीय ज्योतिप विद्या उत्तम थी। मइंकलेहा चरिउ में मृगांकलेखा के शुभ लग्न, शुभ योग तथा उत्तम श्रेष्ठ नक्षत्र में उत्पन्न होने का उल्लेख हुआ है।[२]

कला और विज्ञान—किसी भी कार्य को उत्तम रूप से करना कला है और विशिष्ट ज्ञान विज्ञान कहलाता है। मृगांकलेखा ने कला और विज्ञान की शिक्षा ग्रहण की थी।[३]

निमित्त विद्या—सागरचन्द्र अपनी प्रिया मृगांकलेखा से मिलने के लिए जैसे ही चलने लगा, ठीक उसी समय उसका दायाँ अंग और दायाँ नेत्र फड़कने लगा। वह मन-ही-मन सोचता है—क्या बात है? क्या आज वियोगी वल्लभ का मिलाप होगा? और इसी बात को मित्र से कह दिया। मित्र बोला—निमित्तज्ञान कहता है—'आपके भाग्य में सुख होगा।[४] एक बार सागरचन्द्र चलने लगे तो अँधेरा होना, सूखी डालियाँ गिरना, वायु चलना, बाईं आँख और भुजा फड़कना आदि खोटे निमित्त हुए। वह मन में विचार करने लगा कि मेरा मनोरथ भग्न हो[५] गया।' इसी प्रकारा सागरचन्द्र के युद्ध प्रस्थान पर मंगल-कलश ले जाती हुई मृगांकलेखा का दायां अंग फरका और उसे तड़ाक से छींक हो गई। वह भावी अपशकुन की आशंका से कांप उठी।

सामुद्रिक शास्त्र—करसाधन/हस्तरेखा अर्थात् सामुद्रिक लक्षणों द्वारा राजा और रंक की पहचान होती है।[६]

लक्षण शास्त्र—मृगांकलेखा अपने पुत्र को याद कर कहती है—हे पुत्र! तेरा शरीर मत्स्य, पद्म, श्रीवत्स आदि प्रमुख और विशाल लक्षणों से सुन्दर है। तेरी चम्पक वर्णी सुवर्ण देह ऊर्ध्व रेखाओं और व्यञ्जनों से विभूषित है।[७] बलि देने वाले राजा से वह एक बार कहती है—इन सब मनुष्यों में उत्तम लक्षणों और व्यञ्जनों से चर्चित कोई भी नहीं है। राजा कहता है—तेरे समान उत्तम लक्षण एवं बुद्धि वाला इस पृथ्वी मण्डल पर कोई दूसरा नहीं है, इसलिए हे कमललोचने तू मेरे द्वारा मुक्त की जाती है।[८]

स्वप्न विद्या—गर्भावस्था के सात माह बीत जाने पर मृगांकलेखा ने स्वप्न देखा कि उसके मुख में बाल-सूर्य प्रवेश कर रहा है। दूसरे स्वप्न में उसने देखा कि मैं देवविमान में चढ़ गई हूँ और शीघ्र ही मेरा

---

१. वही, पृ. ५। २. वही, पृ. ५। ३. वही, पृ. ५। ४. मइंकलेहा चरिउ, पृ. ३१, ३३।
५. वही, पृ. १२७। ६. वही, पृ. ३५। ७. वही, पृ. ६१। ८. वही, पृ. ७१।

पतन हो गया है अर्थात् मैं नीचे गिर गई हूँ। निद्रा भंग होते ही वह हर्ष-विषाद से भर गई। जिनेन्द्र भगवान् का नाम स्मरण कर उसने दान दिया एवं मन ही मन में कर्म के फल का स्मरण करने लगी। विमान में चढ़ना और गिरना ये दोनों ही क्रमश: सुख और दु:ख के निमित्त कारण दिखाई दे रहे हैं। सोचते ही उसका हृदय कमल काँपने लगा एवं चित्त चंचल हो गया। हा विधाता! मैं तेरे कार्य को नहीं जानती (कि तू क्या करेगा) अब इस संसार में मेरा जन्म होता है तो पुरुष का ही जन्म हो, स्त्री का नहीं। ऐसा सोचकर वह सती दुष्कर्म निवारक पञ्च परमेष्ठीवाचक, पापान्तक उत्तम मन्त्र को मन में स्थापित कर उसी का स्मरण करने लगी।[१]

मन्त्र विद्या—श्रमणों के भेद के सन्दर्भ में कहा गया है कि जो विद्या, मन्त्र एवं ज्योतिष्क कुशलता के कारण सम्यक् मार्ग से परिभ्रष्ट हैं। राजादिक की सेवा यानि चाटुकारी करते हैं, वे संसक्त नामक श्रमण कहलाते हैं।[२] मृगांकलेखा को एक बार जब व्याघ्र दिखाई दिया तो वह सती अपने मन में विघ्नविनाशक, पाप प्रहारक, पञ्च परम गुरु मन्त्र, णमोकार मन्त्र, चारों मंगल तथा चारों उत्तम शरणों का स्मरण करने लगी।[३]

कपाली विद्या—एक बार अर्द्धरात्रि बीतने पर सागरचन्द्र तन्द्रारहित हो जाग्रत हो गया। इसी बीच कोई पुरुष पुकारने लगा, विलाप करने लगा, गिरने लगा। हाय! यह पिशाच मुझे मार रहा है। हा, क्या कोई समर्थ सुभट जाग रहा है, जो वज्र शस्त्र सहित इस पंजर/योगी को शरणागत करे। यह योगी मुझ निरपराधी को भयानक कपाली विद्यासाधक मार रहा है। सागरचन्द्र उसके वचनों को श्रवण कर, हाथ में तलवार ले द्रुतगति से दौड़ पड़े और पर्वत के ऊपर उन्होंने असुरक्षित, बन्धनबद्ध, कण्ठगत प्राणवाले एक सुभट को देखा। उसी समय कापालिक ने उक्त सुभट से कहा—मैंने तुझे उपवासपूर्वक प्राप्त किया है। निश्चित ही तू इस समय मृत्यु की दाढ़ में पड़ा है, अत: मन में अपने स्वामी को धारण कर।

कापालिक कृपाण निकालकर ज्यों ही उस पुरुष को मारने लगा, त्यों ही कुमार सागरचन्द्र ने उसे ललकारा। रे-रे! ठहर! ठहर!! मुझे पाकर कौन पुरुष इसे मारने में समर्थ हो सकता है?

कुमार की वाणी सुनकर कापालिक का चित्त भयभीत हो गया। वह सोचने लगा—यह कोई कला प्रवीण देव है; क्योंकि मनुष्य की तो ऐसी चेष्टा नहीं हो सकती? कौन है, वह दक्ष पुरुष, जो मुझे नष्ट कर सके? इस प्रकार आशंकित होता हुआ क्षण भर वहीं ठहर गया। कुमार सागरचन्द्र ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—रे! रे! दीन निर्दय पापी! तू क्यों इस दीन पुरुष को मारता है? तू खोटी बुद्धि वाला, कुपात्र, दयाधर्म से रहित, अविवेकी, मूर्ख और कषायानुरक्त है। क्या तू यह भी नहीं जानता कि मनुष्य वध के समान कोई महापाप नहीं होता? यदि तुझमें शक्ति है तो रणभूमि का स्मरण कर।

कुमार के ऐसे वचन सुनकर कापालिक शीघ ही उस गृहीत पुरुष को छोड़कर 'मरूँगा या मारूँगा'

---

१. वही, पृ. ४१, ४३। २. वही, पृ. ९५। ३. वही, पृ. ७५।

ऐसे वचन बोलता हुआ पूरी शक्ति से कुमार की तरफ दौड़ा। कापालिक खड्ग लेकर कुमार के सामने आया और कुमार पर शीघ्र ही प्रहार करने लगा। वह कापालिक कुमार रूपी गरुड़राज को छलपूर्वक मारने की चेष्टा करने लगा। क्या नाग गरुड़राज पर पहले झपटता है? क्या पत्थर अचलमेरु को ध्वस्त कर सकता है? क्या तृणों का बड़ा ढेर अग्नि को त्रस्त कर सकता है? क्या कायर शूरवीर को नष्ट करने में समर्थ हो सकता है? कदापि नहीं। उस शूरवीर कुमार ने चमचमाती तलवार अपने हाथ में ली और निमिषमात्र में कापालिक की जंघा पर भरपूर प्रहार किया। उस कुबुद्धि कापालिक को व्योमस्थली पर पटक दिया।

कुमार के पूछने पर उस कापालिक ने कहा—मेरे द्वारा यह देव छह माह में सिद्ध किया गया है। मैं इसी देव के निमित्त बलि के रूप में इस सुभट को लाया हूँ। छलपूर्वक हम दोनों (देव तथा कापालिक) ने इसे बन्धनबद्ध कर रखा है। हम इसे अतिशीघ्र मारने के लिए लाए थे। मैं इसका वध कर ही रहा था। इस लोक में आप ही श्रेष्ठ उपकारी हो। मुझ मरणासन्न का उपकार कीजिए। कुमार ने कहा—मैं णमोकार मन्त्र कहता हूँ। तुम इसे मन में ध्याओ और उत्तम पद प्राप्त करो। समस्त जीवों पर दयाभाव धारण करो। जिससे अनन्त दुःख नष्ट हो जाते हैं, ऐसी अनशन विधि स्वीकार करो। कुमार के ऐसे धर्मप्रिय वचनों को सुनकर कापालिक श्रद्धा और शक्ति के अनुसार इस निर्मल अवलम्बन को ग्रहणकर शीघ्र मर गया तथा व्यन्तर हुआ।[१]

उपर्युक्त वृत्तान्त से स्पष्ट है कि कापालिक विद्या हेय विद्या थी और उसका साधन करना अच्छा नहीं माना जाता था; क्योंकि इसमें हिंसा का अवलम्बन लेना पड़ता था।

रस विद्या—कापालिक के वृत्तान्त के प्रसंग में कहा गया है कि जैसे रस विद्या का जानकार पारद का संचय कर आसक्ति मूलक स्वर्ण ही निर्मित करता है, वैसे ही कापालिक ने सम्यक् धर्म श्रवण कर भी व्यन्तर योनि में उत्पन्न होकर अणिमा, महिमा आदि आठ ऋद्धि रूपी कुधातु को प्राप्त किया अर्थात् सम्यग्दृष्टि देवों में वह उत्पन्न नहीं हुआ।[२]

यहाँ रस विद्या का उल्लेख हुआ है।

व्याकरण, छन्द, काव्य और सिद्धान्त—कौशाम्बी नगरी के जिनदास सेठ का पुत्र अनंगरुचि व्याकरण, छन्द, काव्य और सिद्धान्तसार का ज्ञाता था।[३]

अलंकार, आगम और तर्क—शतकीर्ति नामक ब्रह्मचारी तपस्वी था। वह व्याकरण विद्या, अलंकार, छन्द, आगम और तर्क का श्रेष्ठ और सुन्दर विचारक था।[४]

गीत—सिद्धार्थपुर के ऋषभ जिनालय में नगरवासियों द्वारा भव्य गीत गाए जाते थे (मइंक, पृ. १३७)।

---

१. मइंकलेहा चरिउ, पृ. १२१, १२३। २. वही, पृ. १२३। ३. वही, पृ. १६७। ४. वही, पृ. १६१।

नृत्य तथा वाद्य कला—सुरेन्द्रदत्त के विषय में कहा गया है कि उसकी पटकुटी में भंभा, भेरी इत्यादि वाद्य विशेषों की मधुर ध्वनियाँ होती थीं तथा किंकर उत्तम नृत्य करते थे।[१]

विभिन्न जातियाँ या वर्ग—मइंकलेहा चरिउ से निम्नलिखित जातियों या वर्गों की जानकारी प्राप्त होती है—

किरात—मृगांकलेखा सागरचन्द्र से अपना वृत्तान्त सुनाती हुई कहती है कि हम दोनों (चित्रलेखा और मैं) सार्थवाह के साथ आ रहे थे। मैं मार्ग भूल गई। मुझे अकेला देख किरात ने पकड़ लिया। वह मुझे अपने स्वामी पल्लीपति के पास ले गया। जहाँ मूल से उखाड़ी गई लताओं के समान किरातों की पल्ली का गहन स्थान था। एक दिन श्रीविजय नामक राजा ने उन चोरों को बन्दी बना दिया और तभी उन्होंने मेरी दुःख की केलि क्षण भर में नष्ट कर दी।[२]

भील—काललब्धि के विषय में कहा गया है कि काललब्धिवश भील भी दयावान् हो जाता है।[३]

वेश्या—मइंकलेहा चरिउ में कामसेना नामक वेश्या का उल्लेख आता है। वह अन्य वेश्याओं के समान कपट में निपुण थी। शयन करती हुई मृगांकलेखा के जागृत होने पर वह उसके कण्ठ से लिपट गई और कहने लगी—क्या तू मुझे नहीं जानती है? मैं तेरे विवाह के समय असाध्य (रोगी) थी। हे बाले! मैं विवाह के समय तेरे पिता के घर गई थी। लगातार रुदन करता हुआ तेरा मुख लज्जायुक्त था। उस समय तेरा-मेरा समागम बहुत अल्प दिनों के लिए हुआ था, ऐसा कहती हुई छलपूर्वक वह वेश्या मृगांकलेखा को अपने घर ले गई।[४]

दासी और नटी—एक स्थान पर कहा गया है कि धन प्राप्ति की इच्छा से ही आश्रित होकर असती, वेश्या, दासी और नटी-नर्तकी राजमन्दिर जाती है।[५]

प्रतीहारी—मृगांकलेखा के निर्णीत वाक्यों को सुनकर प्रतीहारी[६] राजा के पास गई थी।

गोपिका—एक बार जब मृगांकलेखा उच्च स्वर में विलाप कर रही थी तो उस सती के आक्रन्दन को गोप पत्नी ललिता ने सुना। वह उसे अपने घर ले गई।[७]

वनजारिन—मृगांकलेखा गोपवधू के यहाँ वनजारिन के वेष में प्रच्छन्न रूप से रही।[८]

श्रेष्ठी—मइंकलेहा चरिउ में श्रेष्ठियों के अनेक स्थानों पर उल्लेख हैं। जैसे भद्दलपुर नगरी का वसन्त सेठ[९], उज्जयिनी का धनसार[१०] नामक सेठ इत्यादि।

---

१. वही, पृ. ११५। २. मइंकलेखा चरिउ, पृ. १३३।

३. काललब्धि पाणी परसि, होइ सदउ गिणरु भीलु। वही पृ. १६८।

४. वही, पृ. ७७। ५. वही, पृ. ८३। असई दासि णडीणिव मंदिरि वच्चइ सिय लाहे लाहो।

६. वही, पृ. ८३। ७. वही, पृ. ६१। ८. वही, पृ. ६३।

९. वही, पृ. ६३। १०. वही, पृ. ५।

तस्कर—मृगांकलेखा को वन में जाते हुए देखकर एक सार्थवाह की पत्नी कहती है—कहाँ जा रही हो ? इस जंगल में सिंह, हाथी, जंगली सूअर एवं तस्करों का समूह भरा पड़ा है।[१]

सार्थवाह—प्राचीन काल में व्यापारियों के समूह एक स्थान से दूसरे स्थान पर व्यापार हेतु जाया करता था। इन व्यापारियों में एक मुख्य होता था, जिसे सार्थवाह कहते थे। एक बार वन में मृगांकलेखा को चित्रगुप्त नामक सार्थवाह मिला था।[२]

कौलिक—पति द्वारा परित्यक्त मृगांकलेखा का चंचल शरीर ऐसा काँप रहा था जैसे छिन्न-भिन्न हुई छिपकली की पूँछ हो।[३]

तलारु—मृगांकलेखा जब सास द्वारा घर से निकाली जाकर अपने माता-पिता के घर गई, तभी पद्मा सेठानी के द्वारा भेजा हुआ तलारु (कोतवाल) आ गया और उसने धनसार सेठ से मृगांकलेखा को अपने घर न रखने के लिए कहा।[४]

दासी—पद्मा सेठानी ने मृगांकलेखा के माता-पिता के निकट दासी भेजकर बीती हुई घटना कहला दी थी।[५]

भिक्षुक—सेठ धनसार ने दासी की बातों का विश्वास कर मृगांकलेखा को खोटे भिक्षुओं की भाँति निकालकर शीघ्र ही कपाटों को ढक लिया।[६]

मन्त्रवादी—मृगांकलेखा को भूताविष्ट जानकर कनकध्वज राजा ने मन्त्रवादी बुलावाए।[७] कनकबाहु नामक मन्त्रवादी ने ज्वालामालिनी देवी को आहूत कर यथार्थ बात जान ली।

मुनि—सिद्धार्थ नगर के समीप वन में एक मुनि के आने का वृत्तान्त मइंकलेहा चरिउ में है। वे परमावधि ज्ञान के धारक, संसार समुद्र के तारक तथा परम तपोधन थे।[८] उन्होंने राजा तथा अन्य श्रोताओं को विस्तृत धर्मोपदेश दिया तथा मृगांकलेखा का पति एवं पुत्र से मिलन कहाँ होगा, यह भी बतलाया।

कापालिक—मइंकलेहा चरिउ में एक कापालिक के साथ सागरचन्द्र के युद्ध का वर्णन है—

कड्ढि किवणु हणइ कावालिउ तं खणि कुमरु हक्कए।
रे रे थाहि थाहि मह पाविय इह को हणितिं सक्कए॥ पृ. १२१॥

सूत्रकण्ठ (ब्राह्मण)—सिंहपुर नामक नगर में काम नामक सूत्रकण्ठ—ब्राह्मण था, उसकी ब्राह्मणी रतिषेणा नामक सुन्दर पत्नी थी। इन दोनों के अत्यन्त गर्वीला पुत्र उत्पन्न हुआ। हृदय में दर्पवान्

---

१. वही, पृ. ५३। २. वही, पृ. ५१।
३. चल चल चलंत गत्ता छिण्णां घर कोलियाए पुच्छंवा॥ मइंकलेहा चरिउ, पृ. १६१।
४. वही, पृ. ४७, ४९। ५. रंभा धणसारणो पेसिवि दासी कहा वियंतीए। वही, पृ. ४७।
६. दुभिक्खु रंक इव सुव णिसारि। सिग्घं सुढक्कणु णियदिण्ण दारि॥ वही, पृ. ४९।
७. वही, पृ. ८५। ८. वही, पृ. ८७।

होने के कारण बाहर से भी उसका नाम कन्दर्प रखा गया।[1]

नाविक—नाव चलाने वाला नाविक कहलाता है। कमला नामक विप्रसुता और रुद्रदत्त नामक ब्राह्मण के वर्णन में मइंकलेहा चरिउ में कहा गया है कि उन दोनों का मन ऐसा डोल गया, जैसे भार युक्त नाविक की नौका डोल जाती है।[2]

तापस—सिंहपुरी नगरी में एक तापस आया था, जो अति कृशकाय, उत्कृष्ट परिणामी एवं राग से अतिदूर था—

मणु डुल्लइ णावइ सभर णाव।
तदणंतरि तावसु इक्कु आउ, किस कायु अराउ महाणु भाउ। (मइंक., पृ. १६१)

वैश्य—दूसरों के दोष विचारने वाला पुरुष मूर्ख होता है, वह भले ही श्रेष्ठ वैश्य का गृहमण्डन तिलक भी क्यों न हो—

परदोस वियारणि मुक्ख गोहु, वणिवर गिण मंडणु हीण कोहु॥ पृ. १६७॥

नाग—नाग प्राचीन काल की भारत की एक शक्तिशाली जाति थे। इसमें अनेक शक्तिशाली राजा हुए। पार्श्वनाथ के पिता अश्वसेन उरगवंशी या नागवंशी थे। भगवान् महावीर को प्राकृत ग्रन्थों में णायवंशी कहा है। णाय का संस्कृत रूप ज्ञातृ होता है, नाग भी हो सकता है। नाग कन्याएँ अपने सौन्दर्य के लिए प्रख्यात होती थीं। कौशाम्बी नगरी में अनंगसेना नामक वेश्या रहती थी, उसकी अत्यन्त रूपवती कामलता नामक पुत्री रहती थी, जो अपने चपल नयन रूपी वाणों से राजा को भी बींध देती थी। उस कोकिल कण्ठी के नखरूपी मणि दैदीप्यमान थे। उसका शरीर तप्त स्वर्ण के समान दीप्तिवान् था। वह सुन्दरी ऐसी लगती थी मानो सुरकन्या अथवा नागकन्या हो—

सा सुंदरि णं सुर णाय कण्ण॥ मइंकलेहा चरिउ, पृ. १६७॥

ऋषि—मइंकलेहा चरिउ में कहा गया है कि चारित्र मार्ग पर चलकर अभव्यसेन जैसा ऋषि भी ग्रैवेयक पहुँच जाता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में ऋषिजन भी चतुर्गति रूप घर को नहीं छोड़ते हैं—

गीवकियाइ अभव्व रिसि, चारित मग्गि धपि धाइ।
चदुगदि घरु छाड़इ नहीं समकित बिना रिसीउ॥ मइंक. पृ. १६८॥

पशु एवं पक्षी सम्पदा

मइंकलेहा चरिउ में निम्नलिखित पशु-पक्षियों का उल्लेख हुआ है—

गाडर (पृ. १०९), करभ (ऊँट, पृ. १०९), कलभ (गजशिशु, पृ. १०९), हरि (सिंह) करि (हाथी), किडि (सूकर), हरिण (पृ. ५३), अजगर, सेरि (जंगली भैंसे), मय (मृग), सीह (सिंह, पृ. ५५), सारमेय (कुत्ता, पृ. ५७), गरुड़, वृषभ, मेष (मेढ़ा), तुरग (घोड़ा, पृ. २५), मीन, पतंग (पृ. २९),

---

१. वही, पृ. १५९। २. वही, पृ. १६३।

कलकण्ठि (कोयल), कौशिक (उल्लू, पृ. १७), कंक (बगुला), मराल (हंस), वायस (काक, पृ. १८), सफरी (मछली, पृ. ३७), पड्डुर (पाडा), महिषी (भैंस, पृ. ३९), महिष (भैंसा), खर (गधा), प्लवंग (वानर), विषधर, पारावत (कबूतर), शुक, सारिका, साल, मधुभक्षिका (पृ. १०१), हंसी, गोणी (गाय, पृ. १३५), पक्षिराज (गरुड़), अहि (सर्प), गंडोल (केंचुल, पृ. १४९), मरालु (हंस, पृ. १७०), हंसी (पृ. १७२)।

मइंकलेखा चरिउ में प्रतिपादित भूगोल

जम्बूद्वीप[१]—जैन परम्परा में जम्बूद्वीप का विशेष महत्त्व वर्णित है। जम्बूद्वीप के कारण इस द्वीप का नामकरण हुआ है। इसका आकार गोल है तथा मध्य में नाभि के समान मेरु पर्वत स्थित है। इस द्वीप का विस्तार एक लाख योजन और परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोश, एक सौ अट्ठाईस धनुष, साढ़े तेरह अंगुल बताई गई। जम्बूद्वीप का घनाकार क्षेत्र सात सौ नब्बे करोड़, छप्पन लाख, चौरानवे हजार एक सौ पचास योजन है।[२]

लवण समुद्र—जम्बूद्वीप के चारों ओर लवण समुद्र सुशोभित है।[३]

भरतक्षेत्र—मेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में भरतक्षेत्र है।[४] आदिपुराण में भरतक्षेत्र को हिमवन्त के दक्षिण और पूर्वी-पश्चिमी समुद्रों बीच स्थित माना है। इस क्षेत्र में सुकोशल, अवन्ती, पुण्ड्र, अश्मक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, बंग, सुह्म, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाटक, कोशल, चोल, केरल, दास, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, वाल्हीक, तुरुष्क, शक और केकय देशों की रचना मानी गई है।[५]

अवन्ती[७]—अवन्ती जनपद वर्तमान मालवा का वह भाग है, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। मत्स्यपुराण में इसका नाम वीतिहोत्र कहा गया है। बाणभट्ट ने वेगवती या वेतवा नदी के तट पर स्थित विदिशा नगरी को अवन्ती देश की राजधानी माना है। महाभारत में नर्मदा के दक्षिण तट पर इस प्रदेश का अस्तित्व माना गया है, जो महानदी के पश्चिम तट पर है। मत्स्यपुराण के अनुसार कार्तवीर्याजुन के कुल में अवन्ति नामक राजकुमार उत्पन्न हुआ था, उसीके नाम पर इस प्रदेश का नामकरण हुआ। पाणिनि ने इसे मध्य भारत का प्रसिद्ध जनपद माना है। बौद्ध साहित्य में उज्जयिनी से माहिष्मती तक का प्रदेश अवन्ती जनपद के अन्तर्गत माना गया है। दीर्घनिकाय के महागोविन्द सुत्त से यह ज्ञात होता है कि बुद्ध पूर्व

---

१. मइंक., पृ. ३। २. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. ४१। ३. मइंक., पृ. ३।
४. वही, पृ. ३। ५. आदि पुराण, १६। १५२-१५६। ७. मइंक., पृ. ३।

काल में यह जनपद दक्षिण में नर्मदा नदी की घाटी तक फैला हुआ था; क्योंकि इस नदी के किनारे स्थित माहिष्मती नगरी को इस सुत्त में अवन्ती की राजधानी बताया गया है, जिसे राजा रेणु के ब्राह्मण मन्त्री महागोविन्द ने बुद्ध पूर्व काल में स्थापित किया था। निस्सन्देह अवन्ती जनपद एक समृद्ध भूभाग था।[१]

उज्जयिनी—यह अवन्ती देश के अन्दर स्थित थी। वह ऐसी लगती थी मानों जम्बूद्वीप का तिलक हो। उसका समीपवर्ती स्थान परिखा तथा प्राकारों से सुशोभित था। उसके चारों गोपुर तोरणद्वारों से अलंकृत थे। वहाँ के गृहशिखरों पर स्थित कलश चन्द्रमा की आशंका उत्पन्न करते थे। वहाँ के शोभायुक्त मन्दिर आकाश के अग्रभाग से लगे हुए थे तथा उनकी श्वेत वर्णी आभा सूर्य के मार्ग को रोकती थी। वहाँ की स्त्रियाँ मन को हरण करनेवाली तथा अतिसुन्दर थीं। वे ऐसी लगती थीं मानो रूप का ही सार हों। वहाँ के पुरुष ऐसे लगते थे मानो कामदेव का अवतार हो। वहाँ के सभी चैत्यालय अत्यन्त उत्तुंग थे और वहाँ के निरभिमानी पुरुष देव, गुरु तथा श्रुत की भक्ति में संलग्न रहते थे। वहाँ ध्वजाओं का समूह अनेक वर्णों की पंक्तियों से युक्त था तथा वहाँ यत्र-तत्र किंकणियों का मधुर स्वर सुनाई पड़ता था। वहाँ के लोग तत्त्वज्ञानी पण्डित के वेष को धारण करते थे। वहाँ के काननों में शुक्ल लेश्या वाले ऋषिवर्य विराजते थे।[२]

लाडदेश[३]—लाडदेश की स्थिति अवन्ती के पश्चिम तथा विदर्भ के उत्तर में बतलाई गई है। इस जनपद में गुजरात और खानदेश सम्मिलित थे। माही और महोबा के निचले भाग लाट देश में सम्मिलित थे। वर्तमान भड़ौंच, बड़ौदा, अहमदाबाद एवं खेड़ा के जिले लाटदेश के अन्तर्गत थे।[४] मइंकलेहा चरिउ के अनुसार लाट देश में राजा अवतिसेन ने विग्रह-निग्रह के द्वारा समस्त सुभटों को अधीनस्थ करके जीत लिया और शीघ्र ही शत्रुंजय के नरेश को वश में करके सोलह वर्ष तक निर्विघ्न रूप से ठहरा रहा।[५]

शत्रुञ्जय—आजकल इसे पालीताना भी कहते हैं। मइंकलेहा चरिउ के अनुसार अपने स्वामी अवनिसेन के आदेश से सागरदत्त भी अश्व, गज, रथ एवं पदाति सेना के साथ ठहर गया। कुछ समय पश्चात् पुनः शत्रुञ्जय नरेश के अवसान के समय अपने प्रिय के प्रेम के वशीभूत हो क्षीण अंग वाली तरुण स्त्री को अवन्ती नरेश ने देखा। वह उसे अपने अधीन करने का विचार करने लगा, किन्तु पुनः मन में विचार करता है—यह दु:खिया चिन्तामणि कामधेनु है। इसे अतिशीघ्र धन देकर वैभव सम्पन्न करना चाहिए। ऐसा ही करके वह अपने घर चला गया। सारे किंकर उसके वश में हो गए।[६]

सुमनसपुर—इस नगर में वैश्रवण नामक वणिकाधिपति अपनी धनवती नामक भार्या के साथ निवास करता था। उसकी करोड़ों श्वेत ध्वजाओं का अन्त नहीं था। वह सम्यग्दृष्टि था।[७] सुमनसपुर के समीप मन्दिर था। मन्दिर के निकट पद्मसरोवर में वस्त्र प्रक्षालनार्थ मृगांकलेखा गई।[८]

भद्दलपुर—इस नगर की एक गोपवधू मृगांकलेखा को मिली थी। उसने मृगांकलेखा को आश्रय भी दिया था।[९]

---

१. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. ४६। २. मइंक, पृ. ३। ३. पृ. ११९। ४. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. ६५। ५. पृ. ११९ (मइंकलेहा चरिउ)। ६. वही, पृ. ११९। ७. वही, पृ. ५७। ८. वही, पृ. ५७। ९. वही, पृ. ६३।

मन्दिरपुर—इस नगर में मृगांकलेखा चण्डी के मन्दिर में बलि देने हेतु लाई गई थी।[१]

सुमनसपुर—इस नगर में वैश्रवण नामक वणिकाधिपति अपनी धनवती नामक भार्या के साथ रहता था। उसे मृगांकलेखा का शिशु रोता हुआ मिला। उसे वह अपने घर ले आया। बालक के प्रभाव से वह कुबेर जैसा धनपति हो गया।[२]

सिद्धार्थपुर—इस नगर में मृगांकलेखा को पति व पुत्र मिले थे।[३]

सिंहपुर—भरतक्षेत्र का एक नगर।[४]

राजनैतिक जीवन

मइंकलेहा चरिउ में विद्याधर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र और सामान्य राजाओं का वर्णन प्राप्त होता है।[५]

विद्याधर—नमि और विनमि के वंश में उत्पन्न हुए पुरुष विद्याधारण करने के कारण विद्याधर कहे जाते थे।[६] इन्हें खेचर भी कहते हैं।[७]

चक्रवर्ती—चक्रवर्ती षट्खण्ड का अधिपति और सम्प्रभुता सम्पन्न होता है। बत्तीस हजार राजा इसकी अधीनता स्वीकार करते हैं।[८] भरत चक्रवर्ती के यहाँ एक करोड़ हल थे। तीन करोड़ गायें, चौरासी लाख उत्तम हाथी तथा वायु के समान वेगशाली अठारह करोड़ घोड़े थे।[९] उनके पास नव रत्नों से भरी हुई अक्षय नौ निधियाँ थीं, निन्यानवें हजार खानें थीं। देव लोग सदा जिनकी रक्षा करते थे, ऐसे चौदह रत्न थे और छियानवें हजार स्त्रियाँ थी।[१०]

नारायण और बलभद्र—तिरेसठ शलाका पुरुषों में नारायण और बलभद्र की गणना होती है। नारायण का बड़ा भाई बलभ्रद होता है। नारायण को अर्द्धचक्रवर्ती भी कहते हैं। अर्द्धचक्रवर्ती के अधीन सोलह हजार राजा रहते हैं और यह तीन खण्डों का अधिपति होता है। इसकी विभूति और वैभव चक्रवर्ती से आधा माना गया है।[११] पद्मचरित में विशेष रूप से नारायण लक्ष्मण और बलभद्र राम की सम्पदा और उनके कार्यों का वर्णन है। तदनुसार उनके अनेक द्वारों तथा उच्च्व गोपुरों से युक्त इन्द्रभवन के समान लक्ष्मी का निवास स्वरूप नन्द्यावर्त नामक भवन था। किसी महागिरि की शिखरों के समान ऊँचा चतु:शाल नामक कोट था, वैजयन्ती नाम की सभा थी, चन्द्रकान्त मणियों से निर्मित

---

१. मइंक., पृ. ६७। २. पृ. ५८-५९। ३. वही, पृ. १२७। ४. वही, पृ. १५९। ५. मइंक. पृ. २९।

६. ...नमेश्च विनमेस्तथा। कुले विद्याधरा जाता विद्याधरण योगत: ॥—पद्मचरित ६। २१०

७. वही ८०। ५०। ८. आदिपुराण ६। १९६। ९. पद्मचरित ४। ६३-६४।

१०. डॉ. रमेशचन्द जैन पद्मचरित में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति पृ. ८५-८६।

११. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृ. ४७।

नामक मनोहर शाला थी, अत्यन्त ऊँचा तथा सब दिशाओं का अवलोकन कराने वाला प्रसाद कूट था, विन्ध्यगिरि के समान ऊँचा वर्द्धमानक नाम का प्रेक्षागृह था, अनेक प्रकार के उपकरणों से युक्त कार्यालय थे, उनका गर्भगृह कुक्कुटी में अण्डे के समान महान् आश्चर्यकारी था, एक खम्भे पर खड़ा था और कल्पवृक्ष के समान मनोहर था। उस गर्भगृह को चारों ओर से घेरकर तरंगावती नाम से प्रसिद्ध तथा रत्नों से देदीप्यमान रानियों के महलों की पंक्ति थी। खम्भों के समान कान्तिवाला अम्मोजकांड नामक शय्यागृह था, उगते हुए सूर्य के समान उत्तम सिंहासन था, चन्द्रमा की किरणों के समूह के समान चक्र थे। इच्छानुकूल छाया को करने वाला, चन्द्रमा के समान कान्तियुक्त बड़ा भारी छत्र था। सुख से गमन कराने वाली विषमोचिका नामक खडाऊँ थी, अनर्घ्य वस्त्र थे, दिव्य आभूषण थे, दुर्भेद्य कवच था, देदीप्यमान मणिमय कुंडलों का जोड़ा था। कभी व्यर्थ नहीं जाने वाले गदा, खड्ग, चक्र, कनक, बाण तथा रणांगण में चमकने वाले अन्य बड़े-बड़े शस्त्र थे, पचास लाख हल थे एक करोड़ से अधिक अपने आप दूध देने वालीं गायें थीं। अयोध्या नगरी में अत्यधिक सम्पत्ति को धारण करनेवाले कुछ अधिक सत्तर करोड़ कुल थे। गृहस्थों के समस्त घर अत्यन्त सफेद, नाना आकारों के धारक, अक्षीण खजानों से परिपूर्ण तथा रत्नों से युक्त थे। नाना प्रकार के अन्नों से परिपूर्ण नगर के बाह्य प्रदेश छोटे-मोटे गोल पर्वतों के समान जान पड़ते थे और पक्के फर्शों से युक्त भवन की चौशालें अत्यन्त सुखदायी थीं। उत्तमोत्तम बगीचों के मध्य में स्थित नाना प्रकार के फूलों से सुशोभित, उत्तम सीढ़ियों से युक्त एवं क्रीड़ा के योग्य अनेक वापिकायें थीं। अयोध्या नगरी के बड़े-बड़े विद्यालयों को देखकर यह सन्देह होता था कि ये देवों के क्रीडांचल हैं अथवा शरद ऋतु के मेघों का समूह है। इसी नगरी का प्राकार समस्त दिशाओं को दैदीप्यमान करने वाला अत्यन्त ऊँचा, समुद्र की वेदिका के समान तथा बड़े-बड़े शिखरों से सुशोभित था।[१]

सामान्य राजा—मइंकलेहा चरिउ में अवनिसेन, सुन्दर कनकबाहु, श्री विजय आदि अनेक सामान्य राजाओं का वर्णन है। ये छोटे या बड़े जनपद के स्वामी होते थे।

राजाओं में युद्ध—राजाओं में एक दूसरे की आधीनता स्वीकार कराने या साम्राज्य विस्तार हेतु युद्ध भी होता था। लाडदेश के भीम नामक राजा पर अवन्ती देश के राजा अवन्तिसेन ने आक्रमण कर दिया। उसने भृत्यवर्ग का आह्वान किया। श्रेष्ठी सागरचन्द्र से भी कहा कि युद्ध की सामग्री एकत्रित कर मेरे साथ चलो; क्योंकि तुम साम, दाम, दण्ड और भेद रूप चारों नीतियों के अनेक भेदों को भली भाँति जानते हो? ऐसा कहकर राजा ने युद्ध के निमित्त सजा हुआ वीड़ा उसे दे दिया। वीड़ा लेकर सागरचन्द्र अपने घर आया और पिता को सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सागरचन्द्र ने शीघ्र ही सैन्य सामग्री सजवाई और इस पवित्र कार्य के लिए अपने मित्र को बुलवा लिया। इस समाचार से कुमार के माता-पिता व्याकुल हो गए। उन्होंने दस दिनों तक विपुल मात्रा में भृत्यों को प्रसाद वितरित किया। वृषभ, मेढ़ा, ऊँट, गज, अश्व,

---

१. पडाचरित में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति पृ. ८६-८७।

शस्त्र, रथ तथा युद्ध प्रस्थान की सारी वस्तुएँ सँजोयी जाने लगीं। कुमार ने शुभ मुहूर्त में जब युद्ध के लिए प्रस्थान किया तब माता-पिता के चरण कमलों में अपना मस्तक नमाया। गमन के समय मंगलाचार किए जाने लगे। सागरचन्द्र के भाल पर दूर्वा और अक्षतों से चन्द्राकार तिलक लगाया गया।[१] भीम राजा वश में हो गया। वहाँ पर अवन्ती का राजा और सागरचन्द्र सोलह वर्ष रहे। अपने स्वामी अवनिसेन के आदेश से सागरचन्द्र भी अश्व, गज, रथ एवं पदातिसेना के साथ ठहर गया।[२] इतने अधिक समय तक ठहरने का यही कारण हो सकता है कि विरोधी राजा पुन: विद्रोह न कर दे।

धार्मिक जीवन

संसार के समस्त प्राणियों को जो उत्तम सुख में पहुँचा दे, उसे धर्म कहते हैं। यह धर्म दो प्रकार का होता है—(१) श्रावक धर्म और (२) मुनि धर्म। मइंकलेहा चरिउ में श्रावक धर्म का विशेष वर्णन है। अणुव्रतों को धारण करनेवाला श्रावक होता है। महाव्रतों को धारण करनेवाले मुनि होते हैं। पृथ्वी पर आज भी ऋषियों का परमधर्म शिवसुख का कारक है।[३]

पञ्चाणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत सम्यग्दर्शन का स्वरूप एवं आज्ञा सम्यक्त्वादि सम्यग्दर्शन के दश भेदों का वर्णन त्रिविध मूढ़ताओं के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से अष्टादश भेद, सात तत्त्व, नव पदार्थ, संसारी जीव एवं उनके ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों का सुन्दर वर्णन साथ ही पुण्य-पाप का विवेचन उपलब्ध है। (सन्धि २, ४)

आष्टाह्निक पर्व

कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ के अन्तिम आठ दिनों में देव नन्दीश्वर द्वीप जाते हैं और वहाँ भक्तिभावपूर्वक अकृत्रिम जिन चैत्य चैत्यालयों की वन्दना करते हैं। इसकी स्मृति स्वरूप प्रतिवर्ष श्रावक-श्राविका भी यह पर्व ठाठ से मनाते हैं, इन दिनों व्रत उपवास करते हैं। आजकल यह अठाई पर्व के नाम से प्रचलित है। मइंकलेहा चरिउ में सुरेन्द्रदत्त द्वारा अठाही ऊसव (आष्टाह्निक उत्सव) किए जाने का उल्लेख है। इसे नन्दीश्वर पर्व भी कहते हैं।[४]

धार्मिक आचरण—मइंकलेहा चरिउ की एक प्रधान विशेषता उसका धार्मिक आचरण से आवृत रहना है। प्रो. हरिवंशकोछड़ ने इसे सम्पूर्ण अपभ्रंश साहित्य की विशेषता मानते हुए कहा है—

अपभ्रंश साहित्य अधिकांश धार्मिक आचरण से आवृत्त है। माला के तन्तु के समान सव प्रकार की रचनाएँ धर्मसूत्र से ग्रथित हैं। अपभ्रंश कवियों का लक्ष्य था—एक धर्मप्रवण समाज की रचना। पुराण,

---

१. मइंकलेहा चरिउ पृ. २५। २. मइंकलेहा चरिउ पृ. ११९।
३. संपइ परम धम्मु रिसि भवि भुवि, सिद्धि सु होह कारओ। मइंक, पृ. ९९।
४. तदणंतरि षंदीसरह पव्वु, अठाही ऊसउ करइ भव्वु।
सुसुरिदंदत्तु णाइय कुसरु, मणि चिंतइ तभ्खणि धम्म सारु॥ मइंक, पृ. १३५॥

चरिउ, कथात्मक कृतियाँ, शास्त्रादि सभी प्रकार की रचनाओं में वही भाव दृष्टिगोचर होता है। कोई प्रेम कथा हो चाहे साहसिक कथा, किसी का चरित हो चाहे कोई और विषय सर्वत्र धर्म तत्त्व अनुस्यूत है। इस किसी प्रवृत्ति के कारण कभी-कभी इन ग्रन्थों में एक प्रकार की एकरूपता और नीरसता दृष्टिगत होने लगती है। अपभ्रंश लेखकों ने लौकिक जीवन एवं गृहस्थ जीवन से सम्बद्ध कथानक भी लिखे, किन्तु वे भी इसी धार्मिक आवरण से आवृत्त हैं। भविसयत्तकहा, पउमसिरिचरिउ, सुदंसणचरिउ, जिणदत्तचरिउ आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। मानों धर्म इनका प्राण था और धर्म ही इनकी आत्मा।[१]

मइंकलेखा चरिउ का अनुवाद

'मइंकलेहा चरिउ' का यह हिन्दी अनुवाद सर्वप्रथम प्रात: स्मरणीय उपाध्याय श्री १०८ गुप्तिसागर जी मुनिराज द्वारा सुसम्पन्न होकर विद्वानों और सर्वसाधारण के समक्ष आ रहा है। इस ग्रन्थ का सम्पादन उन्होंने एक ही प्रति से किया है, क्योंकि दूसरी प्रति खोज करने पर भी कहीं प्राप्त नहीं हुई। अन्यत्र कहीं उपलब्ध हो तो कृपया सूचित करें, ताकि उसका उपयोग किया जा सके। यह अनुवाद पूज्य उपाध्याय श्री गुप्तिसागर जी महाराज ने सात वर्ष पूर्व कर लिया था किन्तु बद्रीनाथ हिमाचल प्रदेश एवं चण्डीगढ़ तरफ विहार तथा अनेक स्थानों की पदयात्राओं, बीच में अन्य कृतियों का प्रकाशन तथा अन्तिम रूप से वाचन, संशोधन आदि न हो पाना आदि कारणों से यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित रहा। मैं जब-जब भी महाराज श्री के दर्शन के लिए जाता, तब-तब ग्रन्थ प्रकाश में लाने हेतु निवेदन करता, महाराज श्री हँसकर टाल जाते। वर्तमान युग में दिगम्बर साधु के हाथों किसी अपभ्रंश ग्रन्थ के अनुवाद का यह प्रथम प्रयास है, इस दृष्टि से पूज्य महाराज श्री विशेष अभिनन्दनीय हैं। आशा है, उनके द्वारा अपभ्रंश ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का यह पुरुषार्थ निरन्तरता को प्राप्त होगा।

सिद्धान्तरत्न बाल ब्रह्मचारिणी सुमन शास्त्री (जैन) ने इसकी पाण्डुलिपि लेखन, सम्पादन आदि में पर्याप्त योगदान दिया। उनके श्रम के प्रति मेरा साधुवाद।

इस ग्रन्थ की प्रस्तावना के लेखन का सौभाग्य पूज्य महाराज श्री ने मुझे प्रदान किया, यह उनके मेरे प्रति वात्सल्य भाव का ही परिणाम है। मेरी दृष्टि में अनुवाद अच्छा हुआ है, क्वचित् प्रेस वगैरह के कारण कोई त्रुटि हो गई हो तो पाठक कृपया सूचित करें। जैन समाज के लिए सन् २००२ के लिए पूज्य गुरुवर आचार्य विद्यासागर जी महाराज के शिष्य उपाध्याय श्री गुप्तिसागर महाराज का यह उत्तम उपहार है।

जैनं जयतु शासनम्।

डॉ. रमेशचन्द जैन
रीडर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग
वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ.प्र.)

---

१. प्रो. हरिवंश कोहल्ड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृ. ४६-४७।

सत्यं शिवं मंगलम्

सन् 1994 में राजस्थान के प्रसिद्ध तीर्थ अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी में राष्ट्र सन्त उपाध्याय श्री गुप्तिसागर जी के सान्निध्य में ग्रीष्म योग का सुअवसर प्राप्त हुआ। शासन नायक श्री महावीर जी के त्रिकाल दर्शन-वन्दन, ध्यान, आराधन और आरती से हृदय व मन: प्राणों को निरन्तर अद्‌भुत-आनन्द की अनुभूति हुआ करती थी। श्री महावीर जी क्षेत्र के वे अनुपम क्षण सचमुच ही जीवन की अनूठी पूंजी थे। वहाँ के प्रशान्त व सुरम्य वातावरण में भगवती आराधना और ग्रन्थराज समयसार का स्वाध्याय अन्त:करण में अपूर्व आनन्द संचरित कर रहा था। राजस्थान की मशहूर उष्णता न जाने कहाँ पलायन कर गई थी। समय बड़े हर्ष के साथ बीत रहा था।

एक दिन की बात श्री एन.के. सेठी (अध्यक्ष श्री महावीर जी) उपाध्याय श्री से साग्रह निवेदन कर रहे थे, महाराज श्री! मैं अपभ्रंश अकादमी का शिलान्यास आपके सारस्वत करों से कराना चाहता हूँ सिर्फ आपकी अनुमति चाहता हूँ। उपाध्याय श्री मुस्कुरा दिये। एक सप्ताह के अन्दर निश्चित मुहूर्त में प्रात: बेला में उपाध्याय श्री के सान्निध्य में उन्हीं के कर कमलों द्वारा शिलान्यास विधि सम्पन्न हुई। विधि की परिसमाप्ति पर उपाध्याय श्री बोले—सेठी जी! शिलान्यास तो हो गया, कार्य भी प्रारम्भ होना चाहिए। अपभ्रंश साहित्य में मेरी अभिरुचि है और मैं इस साहित्य की सेवा करना चाहता हूँ। सेठी जी सविनम्र बोले—आज्ञा कीजिए उपाध्याय श्री। महाराज श्री बोले, मैं श्री महावीर जी के पवित्र व अतिशयकारी चरणों में बैठकर अपभ्रंश भाषा की किसी कृति का अनुवाद करना चाहता हूँ। सेठी जी बोले—बहुत ही सुन्दर विचार है। मैं अभी आपके पास अप्रकाशित अपभ्रंश साहित्य की सूची लाता हूँ, आप जिस पर निशान लगाइयेगा, उसी की पाण्डुलिपि आपकी सेवा में उपस्थित करूँगा।

आहार चर्या के उपरान्त सेठी जी सूची लेकर उपस्थित हुए। उपाध्याय श्री ने सूची का बड़ी तन्मयता से अवलोकन किया और उनकी दृष्टि एक नाम पर टिक गई 'मइंकलेहा चरिउ' और उन्होंने पेन्सिल उठाकर उस पर निशान लगा दिया। मेरी ओर सूची बढ़ा कर बोले—सुमन शास्त्री जी! यह ठीक रहेगी। भगवान् महावीर नारी समुद्धारक थे और मैं उनका समर्थक हूँ। क्यों न उनके आशीर्वाद से उन्हीं श्री चरणों में बैठकर अद्यावधि लोक जगत में अपरिचित, अज्ञात प्राय: इस सन्नारी के जीवन वृत्त का समुद्धार करूँ। यह नारी कौन है? इसका जीवन वृत्त कैसा है? अभी तक सुधी जगत भी अनभिज्ञ है कारण 'भविस्सदत्त कहा' तथा 'कर्पूर मंजरी' में 'मृगांकलेखा' के नामोल्लेख के अतिरिक्त इस नारी के विषय में और कोई भी सामग्री नहीं मिलती। मैंने उपाध्याय श्री की सहृदयी भावना का समर्थन किया एवं

विषय सूची सेठी जी के हाथों में थमा दी।

तीसरे दिन सेठी जी पाण्डुलिपि लिए सहर्ष मुद्रा में साहित्य प्रेमी उपाध्याय श्री के कक्ष में उपस्थित हुए। उन्होंने वह पाण्डुलिपि जब उपाध्याय श्री के अमृत करों में सौपी तब अमृतसिद्धि योग था। बड़ी उत्सुकता ने मनीषी मुनि प्रवर ने प्रति का अवलोकन किया और कहने लगे—अच्छा योग है, इस पाण्डुलिपि का वाचन आज ही सामायिकोपरान्त प्रारम्भ करना चाहता हूँ। वाचन में थोड़ी सी समस्या आ सकती है क्योंकि अपभ्रंश भाषा विषयक अभ्यास तो पूरा है परन्तु पूरी पाण्डुलिपि वाचन का यह मेरा पहला अवसर होगा। सेठी जी बोले—ठीक है, मैं जैन विद्या संस्थान (श्री महावीर जी) में कार्यरत डॉ. कस्तूरचन्द सुमन जी को आपकी सेवा में भेज देता हूँ, वे पाण्डुलिपि वाचन में आपका सहयोग कर संकेंगे।

मध्याह्न दो बजे तपती धूप में पाण्डुलिपि वाचन का शुभारम्भ हो गया। पहले दिन ही मंगलाचरण के साथ दो कडवक पढ़े गए, जो कि शील की महिमा पर थे और यह अनुमान आसानी से लगाया जा सका कि **प्रस्तुत कृति शील की महिमा पर आधारित** है। रूचि बढ़ती गई, अब तो दिन हो या रात आवश्यक क्रियाओं के पश्चात् पूरे समय उपाध्याय श्री और मेरे हाथों में पाण्डुलिपि के पन्ने होते थे। कहाँ गर्मी? कहाँ निद्रा? पता ही नहीं चलता था। इतनी तन्मयता और इतना जोश कि चौथे-पाँचवें दिन हम लोग बिना किसी की सहायता से हँसते-हँसते, बातों-बातों में ही तीन-चार कडवक पढ़ने लगे। स्वयं सुमन जी दंग रह जाते थे। पढ़ने में इतना रस आने लगा तो अर्थ पर भी दृष्टि जाने लगी और थोड़ा-थोड़ा सार गर्भित भावानुवाद हम लोगों के मस्तिष्क में जन्म लेने लगा। अर्थ की परवाह किये बगैर सबसे पहला कार्य था एक माह की अल्पावधि में पाण्डुलिपि का पूरा वाचन। सो प्रभु कृपा से उन्हीं के श्री चरणों में यह कार्य सम्पूर्ण हो गया। इस कार्य की सम्पूर्ति (पाण्डुलिपि वाचन) में डॉ. सुमन जी एक अच्छे माध्यम वने उनके लिए एवं श्री सेठी जी के लिए उपाध्याय श्री का मंगल-आशीर्वाद।

महावीर जयन्ती के तत्काल बाद उपाध्याय श्री का मंगल विहार राजधानी दिल्ली की ओर हो गया। इस बार विहार में सती मृगांकलेखा भी साथ चल रही थी। 'उस नारी का जीवन कितना संवेदनशील है, कैसा कष्टों से भरा दर्दीला है,' यह मार्ग में ही अनुभूत होने लगा था। जीवन के ऐतिह्य वृत्त में अञ्जना की समकक्षा होते हुए भी विपत्तियों के मामले में उससे आगे खड़ी है। अञ्जना ने तो केवल पति वियोग और सासु की भर्त्सना सही। गर्भ भार ढोती हुई जंगलों-जंगलों में भटकी किन्तु उनके साथ उसकी सखी वसन्तमाला थी। पुत्र हनुमान के जन्मते ही मामा प्रातिसूर्य के घर पहुँच गई पर यह सती तो गर्भावस्था में भी जंगलों में नितान्त अकेली थी। पुत्र जन्म से पूर्व सखी चित्रलेखा विछुड़ गई। जन्मते शिशु को माँस लोभी श्वान उठा ले गया। शील के प्रताप से कामी बसन्त सेठ की कामुकी दृष्टि से वची तो बलि हेतु राज दरबार के चण्डी मन्दिर में बलि वेदी के समक्ष खड़ी की गई। अहिंसा के प्रभाव से राजा सुंदर को अहिंसक बना अभय को प्राप्त हुई तो राक्षसी माया और वनराज का ग्रास होते-होते वची, यहाँ भी उसका शील जन्य पुण्य ही सहयोगी था। एक पर एक आती हुई विपत्तियों के कारण उसकी दशा 'आकाश से गिरी खजूर पर लटकी' जैसी हो जाया करती थी। अन्त में वेश्या की शिकार हुई, उसने

मृगांकलेखा को वेश्या कर्म हेतु प्रताड़ित किया, वहाँ भी उसका शील ही रक्षक बना। वेश्या ने उस रूपवती को राजभय के कारण राजदरबार में भेज दिया। उस विवेकशीला को अपने शील रक्षार्थ पागल महिला का रूप धारण करना पड़ा। अन्ततोगत्वा पुण्य व शील प्रताप से कष्टों का विशाल सागर तैर गई और धर्म की शरण में उस धर्मवती को पुत्र और पति का समागम हुआ। कुछ समय तक सांसारिक सुख भोगकर संसार से विरक्त हो पति के साथ आर्यिका दीक्षा धारण कर संसार को छोड़ दिया।

जीवन के दीर्घ काल खण्ड तक इस धर्ममूर्ति के कष्टों का सिलसिला अखण्ड़ चलता रहा और वह शीलवती अपने धर्म तथा शील पर अडिग रही। कष्टों और वेदनाओं की धारा में अञ्जना, चन्दना और सीता के कष्टों का समवेत रूप थी यह नारी। अस्तु नारी प्रताड़ना के विपक्षधर, नारी समुद्धार के प्रबल-सबल समर्थक परपीड़ा प्रहारक, संवेदनशील मुनिश्रेष्ठ उपाध्याय श्री गुप्तिसागर जी के मन में 'प्रस्तुत कृति' ने अपना विशिष्ट स्थान बनाकर उसे अनूदित करने हेतु स्वयं प्रेरित किया।

स्वयं प्रेरणा के कारण मइंकलेहा कृति एक वर्ष में पूर्णत: अनूदित हो चुकी थी किन्तु अनुवाद कला के साथ एक गम्भीर विषय भी है बिलकुल समुद्र की तरह; जितना तह में जाओ उतने मोती पाओ, किंवदन्ती को चरितार्थ करता हुआ। मूल रचना के साथ रचनाकार के भावों को सुरक्षित रखते हुए शब्दानुगामी अर्थ प्रवाह बनाये रखना बड़ा ही दुष्कर कार्य है जैसे सागर में गोता लगाकर मोती भी खोजना और प्राण भी बचाये रखना दुरुह कार्य है। मनुष्य की सर्वोत्तम पहचान उसकी वाक् शक्ति है। वह अपने मन के सुख-दु:ख की बातें दूसरों से बता सकें; इसका माध्यम है भाषा। काश! विश्व के समस्त लोग एक ही भाषा बोल पाते तो एक-दूसरे के मनोभावों को आसानी से समझा जा सकता था किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। प्रत्येक देश-काल में 'भाषा परिवर्तन' होता रहता है। एक ही काल में एक ही देश में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं चूंकि प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक प्रमुख भाषा होती है और उसके साथ अन्य कई भाषाएँ भी बोली जाती है।

सवाल उठता है जब दो विभिन्न भाषा-भाषी आपस में वार्त्तालाप करते हैं तब भाषा की अनभिज्ञता समस्या बन जाती है ऐसी स्थिति में क्या करें? इसका कारगर उपाय है अनुवाद। दोनों भाषाओं का जानकार तीसरा व्यक्ति क्रमश: दोनों की बातें सुनकर उन्हीं की भाषा में अनूदित करके क्रम-क्रम से दोनों को सुनाता-समझाता रहता है फिर भी समस्या हल नहीं होती। एक दूरी बराबर बनी रहती है कारण विभिन्न भाषी अपने मन की बात न तो सामने वाले को समझा पाता है और न ही उसके मूल अभिप्राय को समझ पाता है। दोनों को द्विभाषिया पर सन्तुष्ट होना पड़ता है, यही उसकी मजबूरी है जो कि उसे आन्तरिक सन्तोष से वंचित रखती है। इस समस्या का सर्वश्रेष्ठ हल है सम्यक्-अनुवाद।

अनुवाद में दो शब्द हैं अनु + वाद; अनु = अनन्तर, वाद = कथन, अनन्तर कथन अर्थात् दोहराना। अनुवाद प्रविधि में दो भाषाओं की सामग्री होती है। प्रथम भाषा मूलभाषा कही जाती है उसमें जो कुछ कहा गया है उसे द्वितीय भाषा में कहा जाता है उसी रुपान्तरण प्रक्रिया का नाम है अनुवाद। डॉ. एन.ई. विश्वनाथ अय्यर ने 'प्रथम भाषा जिसकी सामग्री का अनुवाद किया जाना है, को मूलभाषा या स्रोत भाषा

तथा दूसरी भाषा जिसमें सामग्री अनूदित की जाती है; को लक्ष्य भाषा कहा है।' प्रस्तुत रचना 'मइंकलेहा चरिउ' की मूल भाषा अपभ्रंश एवं लक्ष्य भाषा हिन्दी है।

अनुवाद की तकनीकी व्याख्या में प्रथम भाषा को अंग्रेजी में 'सोर्स लैंग्वेज' अर्थात् एस.एल. एवं द्वितीय भाषा को 'टार्जेट लैंग्वेज' अर्थात् टी.एल. पुकारा जाता है और एस.एल. को टी.एल. में Translation को अनुवाद कहा जाता है। डॉ. कैट फोर्ड ने अनुवाद की परिभाषा इस प्रकार रेखांकित की है 'किसी एक भाषा (स्रोत भाषा) की मूल सामग्री अन्यभाषा अर्थात् लक्ष्यभाषा (हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, तमिल, कन्नड़, फ्रेंचादि) की समतुल्य सामग्री से प्रतिस्थापित करना अनुवाद कहलाता है। इस प्रविधि का कर्त्ता अनुवादक कहलाता है। अनुवादक की भी कई श्रेणियाँ होती है। आदर्श अनुवादक वही कहलाता है जो इस 'समतुल्यता' का निर्वहन करने में पूर्णत समर्थ हो और समर्थ भी वही हो सकता है जिसका मूल और लक्ष्य दोनों भाषाओं पर जबरदस्त अधिकार हो। खासकर लक्ष्यभाषा पर अधिकार जरूरी है। मूल भाषा की सामग्री का अर्थ ठीक से समझना पर्याप्त है किन्तु उसकी उचित अभिव्यक्ति और भी कठिन है। सच है अर्थग्रहण से अभिव्यक्ति कष्ट साध्य है जैसा कि नए सृजन से अनुवादन कार्य विशेष दक्षता की अपेक्षा रखता है, एतदर्थ लक्ष्यभाषा पर पूरा अधिकार अनिवार्य है। केवल भाषा के सामान्य ज्ञान के बलबूते पर कोई भी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अंग्रेजी, फ्रेंच या अन्य किसी भी भाषा विषयक सामग्री का अनुवाद नहीं कर सकता है। प्रत्येक भाषा की अपनी पदावली, मुहावरे एवं भाव-भंगिमाऐं होती हैं जहाँ अनुवादक के विवेक का परिचय मिलता है। राष्ट्र सन्त उपाध्याय श्री 108 गुप्तिसागर जी कृति के अनुवाद में सर्वत्र विवेक दक्षता का परिचय देते दिखाई पड़ते हैं।

साहित्यिक क्षेत्र में आदर्श अनुवाद की कसौटी यही है कि 'अनुवाद पढ़ते समय मूलरचना के पढ़ने का सा प्रभाव अनुभूत न हो प्रत्युत उसके कथन का रस रसना सहित मन मस्तिष्क को हर्ष रस में सराबोर कर दे' और यह दायित्व वही निभा सकता है जो लक्ष्यभाषा का सच्चा हकदार हो। अन्यथा लक्ष्य भाषा की असमर्थता रचनागत लोकोक्तियों, सूक्तियों, मुहावरों एवं तात्कालिक प्रसंगों की रोचकता को किरकिरा कर देती है जिससे कभी-कभी पाठक खीज उठता है अथवा ऊब महसूस करने लगता है। **अनुवाद द्वारा विषय प्रस्तुति ही अनुवादक के व्यक्तित्व से पाठक को अभिभूत करती है।**

अनुवाद के दौरान अनुवादक के समक्ष कई समस्यायें आती हैं, यथा—

1. किसी रचना के अनुवाद में मूल शब्दों की सुरक्षा।
2. किसी-किसी परिस्थिति में शब्दों से बढ़कर भाव का महत्त्व।
3. किसी रचना में मूल से थोड़ी सी आजादी लेकर अपनी बात रखते हुए अनुवाद करना।

अस्तु; अनुवाद कर्त्ताओं ने अनुवाद को मुख्यतः चार वर्गों में विभक्त किया है।

1. शाब्दिक अनुवाद 2. शब्द-प्रतिशब्द अनुवाद 3. भावानुवाद 4. छायानुवाद।

उपर्युक्त चारों भेदों की लाक्षणिक भाषा स्वरूप यहाँ प्रतिपादित करना उचित होगा।

1. शाब्दिक अनुवाद—इस विधा में मूल पाठ का अनुगमन किया जाता है। अनुवाद करते समय

प्रत्येक शब्द, वाक्य, उपवाक्य आदि के महत्त्व पर विशेष ध्यान दिया जाता है इसमें किसी शब्द या उपवाक्य की उपेक्षा नहीं की जाती। यही अनुवाद वस्तुत: तथ्यात्मक भी है क्योंकि साहित्य के हर शब्द और हर वाक्य का अपना महत्त्व और एक निश्चित अर्थ होता है इसलिए मूल पाठ में कुछ भी हेर-फेर किए बगैर अनुवाद में प्रामाणिकता प्रकट होती है।

शाब्दिक अनुवाद की विधा में अनुवादक को अनवरत अप्रमत्त रहना पड़ता है चूंकि इस विधा में कुछ कमियाँ है जिससे सर्जनात्मक साहित्य एवं मुहावरेदार अभिव्यक्तियाँ अपूर्ण रह जाती है। सन्दर्भ प्राप्त अर्थ भी छूट जाते हैं और अनुवाद भी कभी-कहीं कृत्रिम सा प्रतीत होने लगता है। साहित्य में बहुधा शब्दों के अभिधार्य से बढ़कर लक्ष्यार्थ और व्यंगार्थ होता है। मुहावरों का अर्थ भी उनके अंगभूत शब्दों से अलग-थलग पड़ने लगता है अस्तु अभिव्यक्ति की शैली में कहीं-कहीं भाषानुसार परिवर्तन भी करने पड़ते है और ऐसे ही प्रसंगों पर अनुवादक की अप्रमत्तता अनिवार्य होती है ताकि अनुवाद के जलप्रपात की धारा सहजता से उसी प्रवाह में आगे प्रवाहित होती जाए और पाठक उस धारा में आनन्द विभोर हो निमग्न हो जाये।

2. शब्द प्रतिशब्द अनुवाद—यह विधा केवल सिद्धान्त या संकल्पना में ही व्यवहृत है। जैसे—

I Like Music हम पसन्द करते हैं संगीत।

You are Naughty तू है नटखट।

ये दोनों वाक्य शब्द प्रतिशब्द के उदाहरण के रूप में तो दिए जा सकते हैं किन्तु जब तक इनका अनुवाद लक्ष्य भाषा अर्थात् हम संगीत पसन्द करते हैं, या तू नटखट है, में नहीं होगा अनुवाद अधूरा रहेगा। वाक् धारा भी विच्छिन्न रहेगी।

3. भावानुवाद—इस पद्धति में मूल कृति के भावार्थ को प्रस्तुत करने का सायास प्रयत्न रहता है। इसे सेन्स फोर सेन्स ट्रान्सलेशन कहा जा सकता है। भावानुवाद कभी शब्द का, कभी वाक्य का, कभी अनुच्छेद का तो कभी पूरे प्रसंग/पाठ का होता है। इसमें अनुवादित भाषा की अपनी शब्द रचना, वाक्य विन्यास, मुहावरें आदि की अपेक्षाकृत अधिक सुविधायें रहती है चूंकि इसमें अनुवादक आजाद रहता है, अपनी इच्छा को भी व्यक्त कर सकता है अत: इस प्रकार के भावानुवादों में अनुवादक की अपनी स्वतन्त्र शैली की छाप यत्र-तत्र परिलक्षित होती है। इस शैली में रचनाकार की अपेक्षा अनुवादक का व्यक्तित्व अधिक झलकता है।

4. छायानुवाद—छायानुवाद की विधा सबसे सरल विधा है। इसमें मूलकृति को पढ़ने के बाद अनुवादक ने जो कुछ समझा है, अनुभव किया है अथवा उसके हृदय और मस्तिष्क पर जो प्रभाव पड़ा है उन्हीं सन्दर्भो के मूल पाठ को लक्ष्यभाषा में रुपान्तरित कर देता है। इसमें अनुवादक पूर्ण स्वतन्त्र होता है, वह रचना का मूलभाव अनुवादित कर छुट्टी पा लेता है क्योंकि छायानुवाद में मूल पाठ की छाया मात्र होती है।

उपर्युक्त चारों विधाओं में प्रथम **शाब्दिक अनुवाद विधा सर्वश्रेष्ठ और आदर्श मानी गई** है। इस प्रकार के अनुवाद को ही मनीषियों ने 'आदर्श अनुवाद' संज्ञा से अभिमण्ड़ित किया है। इस प्रविधि

में रचना के मूल पाठ का कोई भी शब्द छोड़ने की अनुमति नहीं है। सभी धार्मिक ग्रन्थ जैसे षट्खण्डागम, कषाय प्राभृत, गोम्मटसाार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड, त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ति, समयसार, प्रवचनसार भगवती आराधना, मूलाचार, श्रावकाचार, आदिपुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण आदि सभी आर्ष धर्मग्रन्थ तथा वेद-बाइबिल के साथ विज्ञान, विधि, संवैधानिक आदेश व प्रशासनिक पत्राचार आदि का अनुवाद 'शाब्दिक अनुवाद' में ही अनूदित है।

उपाध्याय श्री ने प्रस्तुत रचना **मइंकलेहा चरिउ** में शब्दिक अनुवाद विधा का अनुगमन कर श्लाघनीय कार्य किया है। सम्पूर्ण अनुवाद में रोचकता का निर्झर कल-कल निनाद करता दृष्टिगोचर होता है। मुहावरों, सूक्तियों और नायिका के पति-पुत्र वियोग के प्रसंगों की भाषा बड़ी ही सुन्दर और मीठी है। पठन के समय पाठक करुण रस में पग जाता है।

उपाध्याय श्री की अपनी विशेषता है कि उन्होंने मूलभाषा के भावों की सुरक्षा में कोई असावधानी नहीं बरती, उन्हें पूर्ण स्वस्थ और सुरक्षित रखा है। कितने ही ऐसे प्रसंग है जिनकी भाषा इतनी मार्मिक और हृदयस्पर्शी हो उठी है कि सहृदय पाठक अपने नयन-कलशों से कृति का अभिषेक किये बगैर आगे बढ़ ही नहीं सकता। वस्तुतः ऐसा ही अनुवाद मानवीय मानसिक मित्रता में सहायक व महत्त्वपूर्ण कारक सिद्ध होता है इसीलिए शब्द सम्पदा व लक्ष्य (हिन्दी) भाषा के विशेष अधिकारी उपाध्याय को भावानुवाद, छायानुवाद एवं शब्द प्रतिशब्द अनुवाद जैसी अपूर्ण विधायें आकृष्ट नहीं कर सकी।

प्रोफेसर बिस्र्की ने अनुवाद की गुणवत्ता का एक और मापदण्ड़ प्रस्तुत किया है, उनका कहना है—'जो अनुवाद 'स्वप्रेरणा' से प्रेरित होकर किया जाता है वही उत्तम होता है कारण उसके पीछे कोई दबाव, मजबूरी या अपेक्षा किसी की मुहँताज नहीं रहती।' गुणवत्ता के निर्णय में यह कसौटी सचमुच ही बड़ी मार्मिक है। **मइंकलेहा चरिउ** के अनुवादक उपाध्याय श्री इस कसौटी पर सौ टंच खरे उतरे हैं चूंकि उनका यह अनुवाद कर्म स्वप्रेरणा से अनुप्रेरित है जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा गया है।

अनुवाद कोई देखा-देखी या बाल-क्रीड़ा नहीं है। बड़ा गम्भीर विषय है। बड़ा धैर्य साध्य कार्य है, पग-पग पर सजग मेधा और सहृदयता की आवश्यकता होती है। यद्यपि बड़ा ही मनोरंजक और एकाग्रता साधक कर्म है तथापि कभी-कभी इतना दुष्कर और दुरुह प्रतीत होने लगता है, जैसे किसी ठण्डे प्रदेश की वनस्पति विशेष को वहाँ की धरती से उखाड़कर उष्ण प्रदेश की निजी धरती पर उसी धरती और जलवायु के अनुरूप ढालना। उसके लिए अत्यन्त कुशल, कोमल, सजगता व धैर्य पूर्वक ममतामयी देखभाल की आवश्यकता होती है।

देशान्तरित और कालान्तरित प्रज्ञा सम्पन्न ऋषि-मुनियों और मनीषियों की मनीषा और अभिप्राय को समझकर पात्रों की यथायोग्य गरिमा को सँभालते हुये रचना को तदनुरुप अपने अनुभव की लेखनी में ढालना सचमुच विपरीत जलवायु की 'वनस्पति का प्रत्यारोपण' अथवा 'तार की रेस' जैसा दुरुह कार्य है, जरा ही असावधानी या भूल उन महापुरुषों के साथ अन्याय करा सकती है। उपाध्याय श्री गुप्तिसागर जी

मुनि श्रेष्ठ ने बड़ी कुशलता और निष्ठा से इस दायित्व का वहन किया है। उन्हें एक सच्चे ईमानदार अनुवादक के रूप में देखा जा सकता है। अकसर ऐसा कई बार देखा जाता है कि मूलभाषा का अनुवाद लक्ष्यभाषा में आते-आते भाव दृष्टि से थोड़ा बहुत लड़खड़ाने लगता है, उसके मार्मिक अंश मुरझाने लगते हैं और सौष्ठव भी नष्ट होने लगता है परन्तु उपाध्याय श्री की निपुण सुघड़ता ने इस कमी का पूरा परहेज रखा है।

अनुवाद सचमुच ही एक कला है विज्ञान से भी बढ़कर। एक कौशल है। सच कहूँ तो धर्म ग्रन्थों के विषय में तो अनुवाद नया खजाना खोलने का 'सिम-सिम' है। अन्तिम विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकलता है कि पूर्णत: सन्तोष पूर्ण अनुवाद हमेशा एक कला रहा है Translation is far more than a Science. It is also a skill and in the ultimate analysis fully satisfactory translation is always in art.

अनुवाद 'कृति का पुनर्जीवन या साहित्यिक पुन: सृष्टि है।' **यह एक सर्जरी भी है और अनुवादक उसका कुशल सर्जन, जो शब्दों की चीर-फाड़ करके उसके अन्तस् में छुपे अर्थ को उजागर करता है।** उस सर्जरी में महत्त्वपूर्ण बिन्दु है अनुवादक सर्जन की बौद्धिक क्षमता। हर व्यक्ति की अपनी सीमित शब्द सम्पदा होती है। ऐसी स्थिति में मूलभाषा के भावों को समझ लेने के बाद उसका अगल कदम उठता है लक्ष्यभाषा में उस भाव के योग्य शब्दों को ढूँढ़ना। यहाँ अनुवादक अपने विवेक से प्रसंगानुसार सही अर्थ समझकर शब्द प्रयोग करता है क्योंकि खास अर्थच्छवि में खास शब्द ही प्रयुक्त होता है जैसे कि सर्जन के पास सैकड़ों औजार होते हुए भी वह सर्जरी के अनुसार ही औजार का प्रयोग करता है।

शब्द के लिए शब्द देने का कार्य करते हैं शब्द कोष। शब्दकोष दो प्रकार के होते हैं शब्द संग्रह (ग्लाँसरी) और शब्दकोष (डिक्शनरी)। उपाध्याय श्री ने वि.सं. 1700 की अपभ्रंश रचना **मइंकलेहा चरिउ** के अनुवाद हेतु 'पाइय सद्द महण्णव' एवं 'अपभ्रंश हिन्दी कोष' का यथावसर उपयोग किया है जिससे कृति की सौन्दर्य चेतना कलापूर्ण एवं प्रभावी ढंग से प्रतिस्थापित हो सकी; एतदर्थ उभय कोपकारों को मुनि प्रवर का साधुवाद।

अनुवाद की गुणवत्ता और मूल रचना के प्रति ईमानदारी के निवर्हन हेतु प्रामाणिक प्रविधि है भाषा विद् द्वारा अनुवाद का सर्वतोभद्र परीक्षण-संशोधन। इस प्रविधि में भी उपाध्याय श्री पूरी गरिमा के साथ उद्ग्रीव खड़े दिखलाई पड़ते हैं। डॉ. रमेश चन्द्र जैन (अध्यक्ष विद्वत् परिषद्) बिजनौर एवं सिद्धान्तरत्न ब्र. सुमन शास्त्री (सम्पादिका श्री गुप्तिसंदेश) से अपने अनुवाद के संशोधन के मध्य उपाध्याय श्री के अन्तरंग में 'आत्म सम्मान' का झूठा सवाल कभी भी बाधक नहीं बना। डॉ. जैन ने, स्वयं मैंने, श्रद्धालु भक्तों ने एवं विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करने से सम्पर्क में आये कई श्रेष्ठी व सुधी श्रावकों ने उपाध्याय श्री से अनूदित कृति के प्रकाशन हेतु कई बार आग्रह किया किन्तु वे हमेशा यही कहते थे 'जब तक अच्छे भाषाविद् द्वारा अनुवाद भलीभांति संशोधित न हो, मुझे व भाषाविद् को पूर्ण सन्तुष्टि न मिले तब तक मैं प्रकाशन की अनुमति नहीं दे सकता।' मैं नहीं चाहता कि मेरी छद्मस्थता कृति, कृतिकार एवं अन्याय

सहती उस सन्नारी के प्रति किसी प्रकार के अन्याय में निमित्त बने। उपाध्याय श्री के इन्हीं विचारों को समादृत करने में मुझे इतना विलम्ब हुआ चूंकि जैन श्रमण चर्या का निर्दोष-आचरण, विभिन्न प्रान्तों में परिभ्रमण, सामाजिक दायित्व तथा अन्य कृतियों के सृजन में समय व श्रम अधिक व्यय हो जाने के कारण उपाध्याय श्री चाहकर भी परित: एकाग्रता के साथ हम लोगों को अपेक्षित समय नहीं दे सके, अस्तु; कृति अनूदित होकर भी वेष्टन में बन्द पड़ी रही, शायद मृगांकलेखा की किस्मत में उसके यश-उजागर में इतना विलम्ब और लिखा था। खैर जो भी हो हर्ष का विषय तो यह है कि देर से ही सही किन्तु कृति अनुवाद के सभी मानकों पर दुरुस्त होकर आयी है।

डॉ. रमेशचन्द्र जैन ने बड़ी तन्मयता और सावधानी के साथ इसकी बड़ी सुन्दर और शोध परक प्रस्तावना लिखी है जो तथ्यत: श्लाघनीय है। उपाध्याय श्री का आपको कोटिश: आशीर्वाद और मेरी शुभ कामनायें; आप साहित्यिक क्षेत्र में निरन्तर प्रगतिशील रहें।

मानव की मूल (मानवीय) संवेदना पूरे विश्व में एक समान होती है। यदि एक भी सहृदयी पाठक इसे पढ़कर संवेदित होता है तो समूचा विश्व आन्दोलित होता है चूंकि वह इकाई भी पूरे विश्व का प्रतिनिधित्व करती है। उस इकाई में जैसा दिल धड़कता है वैसा ही दिल सभी मानवाकृतियों में धड़कता है क्योंकि वह प्रकृति (कर्म) प्रदत्त वरदान है। यह बात अलग है प्रत्येक की संवेदना संस्कार, शिक्षा, समय और संस्कृति के अनुपात में विकसित होती है। इसी संवेदना के बल से किसी के सुख-दु:ख को समझना किसी के श्रम व उसकी कल्पना को पहचानना, उनका अभिनन्दन करना सहृदयता की उच्चतर सीढ़ियों पर समारोहण के शुभ चिह्न हैं। उपाध्याय श्री द्वारा अनूदित कृति मइंकलेहा चरिउ सहृदय जनों को जलधि तरंग वत् आन्दोलित करती हुई लोक में समादृत होगी; ऐसा मुझे विश्वास है।

धर्मानुरागी श्री सुमतचन्द जैन एवं श्रीमती मायादेवी जैन, आगरा ने उपाध्यायश्री गुप्तिसागर जी मुनिराज को नवीन पिच्छिका प्रदान करने का सौभाग्य प्राप्त किया, फलस्वरूप आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारणकर ब्रह्मचर्य के माहात्म्य से ओतप्रोत अपभ्रंश भाषा की प्रस्तुत कृति **मइंकलेहा चरिउ** का प्रकाशन कर दोहरा पुण्य लाभ लिया। आपने संयमोपकरण का मूल्यांकन ज्ञानोपकरण द्वारा किया एतदर्थ आपके इन श्रेष्ठ विचारों का अभिनन्दन एवं उपाध्याय श्री का अनर्घ्य आशीर्वाद।

अन्त में उपाध्यायश्री गुप्तिसागर जी के श्री चरणों में अनन्त प्रणाम और मंगल कामना आपका रत्नत्रय कुशल रहें और आप दीर्घ काल तक अपने ज्ञान भण्डार से अनमोल मणियाँ मानव समाज में लुटाते रहें। आपसे सविनय साग्रह निवेदन है आप पुन: अल्पावधि में ही अन्य किसी कृति के अनूदित अपभ्रंश साहित्य को प्राणवन्त कीजिये, जिससे वे मानव समाज का कल्याण पथ प्रदर्शित करने में दैदीप्यमान दीप स्तम्भ की तरह सदैव ज्योतित रहें।

सिद्धान्तरत्न ब्र. सुमन शास्त्री

प्रकाश-पर्व
कार्तिक कृष्ण अमावस्या
वीर निर्वाण संवत् 2528
वीरोदय तीर्थ क्षेत्र, दिल्ली

मइंकलेहा चरिउ (आमेर प्रति)

संस्कृति के अमृत पुरुष : मेरे प्रणम्य गुरु
उपाध्याय गुप्तिसागर जी महाराज

'श्रमण संस्कृति के पुरोधा, बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी अध्यात्म, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में एक ऐसे बहुआयामी व्यक्तित्व हैं जिनकी साधना का मणि प्रदीप गत दो दशकों से निर्वात/निष्कंप आलोक की इंद्रधनुषी किरणें विकीर्ण कर रहा है। इसका यह क्रम आज भी अबाध गति से जारी है। उन्होंने साहित्य/संस्कृति और जीवन विज्ञान की विविध विधाओं को न केवल अपनी तत्त्व निर्झर कलम से समृद्ध/श्रीसम्पन्न बनाया है अपितु अपने चिन्तन के पावन जल से शुचिर्भूत भी किया है। उनकी सारस्वत साधना के उत्तुंग शैल शिखरों पर बड़े सुहावने मौसम के साथ आरोहण किया जा सकता है। इस आरोहण में कहीं भी थकान नहीं होती अपितु एक ताजगी जिज्ञासा की सौम्य उछाल और स्वाध्याय का एक गंधवाह प्रत्येक को अपना हमसफर बनाकर आनन्दित कर देता है।

मेरे प्रणम्य गुरुवर एक ऐसे चन्दन वृक्ष-पुरुष हैं जिसकी विभिन्न सौगन्धित शाखा-समूह में एक प्राध्यापक, एक रचनाकार, एक वार्ताकार, एक भाषाविज्ञानी, एक शब्दकोषकार, एक प्रकाशक और एक प्रवक्ता का स्वरूप आँखों के आगे मूर्तिमन्त हो जाता है। उन्होंने भारत के रूपान्तरण के निमित्त विगत पन्द्रह सालों में जितना जो कुछ लिखा है उसके गुणनफल को तटस्थ दृष्टि से देखा जाय तो विस्मय-विमुग्ध होना पड़ता है। उन्होंने अपनी क्रान्त चिन्तन की चिनगारी को शोला बनाने में कठोर तप किया है। मिथ्याचार-पाखण्ड के विरुद्ध जमकर संघर्ष का बिगुल बजाया है। वे कभी रणक्लान्त नहीं हुए।

श्रद्धेय गुरुदेव ने जो सफल जीवनसूत्र हमें पगे-पगे समझाया-सिखाया 'वह है शब्दों को बोलने और तोलने की कला।' उन्होंने बार-बार यही कहा—"शब्द की चोट आदमी को जड़-मूल से, सिर से पैर तक बदल देती है। शब्द की छैनी न मालूम कितनी शिलाओं में जान डालती है, शब्द के राम कितनी अहल्याओं का सप्राण कर देते हैं। शब्द की छुअन में सृजन, सिंचन और संहार तीनों एक साथ धड़कते हैं, इसलिए हम नीलकण्ठ बनें, जहर पियें, अमृत बाँटे और फिर बोलने की कला का चमत्कार देखें।"

मैंने अनेक विपरीत परिस्थितियों में उनके इस मन्त्र का जप किया तथा आशातीत सफलता प्राप्त की है। आवेश, उत्तेजना या मान-अपमान के क्षणों में तो गुरुवाणी मेरे लिए अनेक बार ढाल वनी। कई बार लगा, जीवन-नौका किसी अप्रत्याशित चट्टान से टकराकर दुर्घटनाग्रस्त हो जाएगी, पर उस शब्द नाविक ने मुझे बचाया—वे तन-मन से एक, मन-वचन-कर्म से एक, अन्तरंग-बहिरंग से एक हैं।

पूज्य गुरुवर ने अपनी नयी अर्थवत्ता से न केवल स्वयं अपने जीवन को अपितु सभी शिष्यों के जीवन को भी उर्जल बनाया है। उनमें विद्युत् गति का प्रवेग उत्पन्न किया है। 'अनाभ्यासे विषम शास्त्रम्' के प्रबोध से उन्होंने वैचारिक क्रान्ति का वह बीज बोया है जो 'अचलायतन' वने इस देश की तस्वीर बदल देगा। उनका दर्शन इस देश की नयी पीढ़ी के साहित्यकारों एवं पत्रकारों के लिए एक दिशा दर्शक कुतुबनुमा है और साहित्यानुरागियों के लिए ऐसी मूल्यवान् सृजना है जो उनकी साहित्य/अध्यात्म/दर्शन/कला/संस्कृति और विज्ञान जगत् से सम्बन्धित कृतियाँ ज्ञान पिपासा को तृप्त करती हैं। तव मेरे प्रणम्य थे/आज भी हैं/सदैव रहेंगे—मैं उनकी दीर्घायु की मंगलकामना करती हूँ।

—डॉ. नीलम जैन

गाजियाबाद

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ

प्रथम सन्धि १-४३

भगवान् महावीर को नमन, ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा। शील की महिमा, उज्जयिनी नगरी का वर्णन, श्रेष्ठी धनसार के गृह में कन्या रत्न का जन्म, उत्सव, नामकरण और पालन-पोषण। किसी दिन मृगांकलेखा का अपने पिता द्वारा गहन वन में निर्मित जिनालय में प्रवेश और पूजा। अचानक श्रेष्ठी पुत्र सागरचन्द्र का समित्र प्रवेश। भक्ति रत कन्या को देखकर सागरचन्द्र को यक्षिणी का भ्रम, मित्र द्वारा समाधान। धनसार की पुत्री है ऐसा जानकर कुमार का मोहित होना, विवाह का संकल्प। उभय पक्षों में विवाह की तैयारियाँ। आसन्न लग्न में सागरचन्द्र का मित्र सहित मृगांकलेखा से मिलने हेतु जाना। वहाँ पत्रलेखा सखि द्वारा परिहास में सागरचन्द्र का उपहास, सागरचन्द्र की विवाह से विरक्ति। पुरजनों व मित्र के आग्रह से विवाह की अनुमति, मृगांकलेखा का परित्याग। सागरचन्द्र का युद्ध हेतु प्रस्थान, मृगांकलेखा की विरह दशा का चित्रण, सती का संन्यास ग्रहण, चक्रेश्वरी देवी का प्रकट होकर सांत्वना देना और युद्ध के प्रथम पड़ाव पर स्थित सागरचन्द्र के समक्ष मृगांकलेखा के पति वियोग में संन्यास ग्रहण का समाचार सुनाना, जिसे सुनकर प्रिया के प्रति अनुरागोत्पत्ति, गगनगामिनी गुटिका द्वारा महल में प्रवेश। प्रिया मिलन, रात्रि विश्राम, पति के प्रस्थान के समय गर्भ धारण की आशंका व्यक्त करना। सागरचन्द्र का पत्नी को आश्वासित कर स्व नामांकित मुद्रा देकर युद्ध हेतु प्रस्थान।

पृष्ठ

द्वितीय सन्धि ४४-११७

किसी उत्तम कल्पवासी देव का मृगांकलेखा के गर्भ में अवतरण। सती का शुभाशुभ स्वप्नदर्शन, गर्भ चिह्न देखकर दासी का सासु पद्मा सेठानी से पुत्रवधू के गर्भवती होने की गुप्त वार्त्ता प्रकट करना। सासु द्वारा सती की भर्त्सना और सखि चित्रलेखा सहित गृह से निष्कासन। पुत्री को कुलटा जानकर माता-पिता द्वारा स्थान नहीं देना, दोनों का वन गमन। मार्ग में चित्रगुप्त सार्थवाह से मिलाप, उनके साथ शत्रुञ्जय की ओर गमन। भीलों द्वारा चित्रलेखा का अपहरण, तस्करों का सार्थवाह को लूटना, सती का बिछुड़ जाना; एकाकी वन में भटकना भद्दलपुर में पुत्र जन्म, वस्त्र में वेष्टित शिशु को श्वान का सुमनसपुर नगर की ओर ले जाना। वैश्रवण श्रेष्ठी द्वारा पुत्र का लालन-पालन। सुरेन्द्रदत्त का सर्व कलाओं और विद्याओं में निष्णात होकर वैश्रवण अर्थात् कुबेर के रूप प्रख्यात होना। उधर पुत्र को न पाकर मृगांकलेखा का विलाप, गोपवधू ललिता द्वारा गोकुल ले जाना, बसन्त सेठ का मोहित होना, पाप बुद्धि

पृष्ठ

से पापी का मरण। मन्दिरपुर के राजकर्मियों द्वारा बलि हेतु राज दरबार में ले जाना! अहिंसा के प्रताप से उन्नीस स्त्री पुरुषों सहित अभय प्राप्त करना। शील के प्रताप से सिंह राक्षसी और कामसेना वेश्या से रक्षा। कनकध्वज राजा द्वारा आमन्त्रण पाकर शील रक्षार्थ मृगांकलेखा का भूताविष्ट होना। मन्त्रवादी कनकबाहू द्वारा निदान। मुनिराज का आगमन धर्मोपदेश तथा पति और पुत्र का सिद्धार्थपुर की दानशाला में मिलन की घोषणा। इधर सेठानी धनवती का 'राजा सुरेन्द्रदत्त को अपनी पुत्री देना चाहता है,' जानकर विषमिश्रित लड्डू खिलाने का षडयन्त्र रचना पुण्य व एकभुक्ति व्रत के प्रभाव से कुमार का बच जाना और धनवती के युगल पुत्रों की मृत्यु। प्रिया के त्रिया चरित्र को जानकर वैश्रवण सुरेन्द्रदत्त को उसके पिता की नामांकित मुद्रा और विपुल धनराशि देकर सिद्धार्थपुर की ओर रवाना करना।

तृतीय सन्धि ११८-१४९

अवन्ति नरेश द्वारा लाट देश के शत्रुञ्जय नगर के राजा भीम का वध। सोलह वर्ष तक उसके राज्य पर शासन कर अपने नगर की ओर लौटना। मार्ग में सागरचन्द्र और कापालिक की भिडन्त, कण्ठगत कपाली को णमोकार मन्त्र सुनाना, व्यन्तर योनि में जन्म। कुमार का अवन्तिका नगरी पहुँचना, प्रिया को न पाकर माँ से पूछना। पत्नी गृह से निकालने की बात सुनकर माता को फटकारना और स्वयं अकेले खोज में निकलना। दुःखी कुमार को व्यन्तर देव द्वारा सिद्धार्थपुर नगर की दानशाला में प्रिया मिलाप का सुखद सम्वाद सुनाना। खोटे निमित्तों का घेरता, विरह दशा का वर्णन, राक्षस कृत उपद्रव से मन्त्र द्वारा रक्षा। धधकती अग्नि ज्वाला में कूदते सागरचन्द्र की व्यन्तर द्वारा रक्षा। चित्रलेखा का मिलना, पटकुटी में पुत्र दर्शन। सुरेन्द्रदत्त का ऋषभ जिनालय में अष्टाह्निकोत्सव, मृगांकलेखा का दर्शनार्थ पहुँचना। पुत्र को देखकर वात्सल्य उमड़ना, चक्रेश्वरी द्वारा माता-पुत्र का परिचय। पति की खोज में भटकते सागरचन्द्र का ऋषभ जिनालय पहुँचना, बालक को देखकर अनुराग वश परिचय पूछना। सुरेन्द्रदत्त का पिता की नामांकित मुद्रा दिखलाना। पिता-पुत्र का मिलन। चित्रलेखा सहित मृगांकलेखा का प्रवेश। प्रिय और प्रिया का मिलाप, परस्पर कुशल वार्त्तालाप। राजा कनकध्वज द्वारा सम्मानपूर्वक नगर प्रवेश। पुत्री गुणरेखा का कुमार सुरेन्द्रदत्त से पाणिग्रहण। सागरचन्द्र का सपरिवार जन्मभूमि की ओर लौटना और जिनबिम्ब प्रतिष्ठा पूर्वक सुखमय जीवनयापन करना।

चतुर्थ सन्धि १५०-१७९

अवनिसेन नृपति द्वारा सुरेन्द्रदत्त को राज्य भण्ड़ार सौंपना। सुपुत्र और कुपुत्र की गुणात्मक तुलना। सागरचन्द्र और मृगांकलेखा का संसार से विरक्त होना। नगर के वन में युगमन्धर केवली का पदार्पण। नगर वासियों सहित दम्पत्ति का वन्दनार्थ पहुँचना, धर्म श्रवण, भवान्तर पृच्छना, सांसारिक सुखों का परित्याग, संयम धारण करना। सागरचन्द्र का तप करके निर्वाण गमन और मृगांकलेखा का आर्यिका व्रत धारण कर उत्तम देव होना, मनुष्य जन्म धारण कर मोक्ष गमन की उद्घोषणा।

परिशिष्ट

मइंकलेहा चरिउ ग्रन्थस्य सूक्तियाँ १८०-१८८

मइंकलेहा चरिउ ग्रन्थस्य विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका १८९-२२३

भगवइदास

मइंकलेहा चरिउ

अनुवादक

उपाध्याय गुप्तिसागर मुनि

पढमो संधि
मंगल स्तुति

घत्ता—पणविवि जिणवीरं णाण गहीरं तिहुवणवइ रिसिराइ-जई।
णिरुवम-विसअत्थं सील-पसत्थं भणमि कहा ससिलेहसई॥ १॥

१

छप्पय— पुणु पभणमि सील महप्पु लोई, हरिणंक-किरणि सिय-कित्ति होइ॥ १॥
केसरि कमुदेइ ण डसइ सप्पु, कुंजरु कमि णिवडइ मुइविं दप्पु॥ २॥
सुमणस-पय-पणवहि हरिस पूरि, वहु विग्घ सिग्घ णासंति दूरि॥ ३॥
जणिरावलि घणि वणि विजउ जासु, अरि संग्गरि संकडि भय ण तासु॥ ४॥
वयणारविंदु वियसंति णिच्च, मंगल समूह गिहि जासु भिच्च॥ ५॥
आवइ आवइ णवि णियडि थाइ, जसु जासु धवलु तिहुवणि ण माइ॥ ६॥
सीले सलहिज्जइ मेरु सिट्ठु, विणु सीले अभया सहइ कट्ठु॥ ७॥

सीले सीया सिहि कुंडि णिग्ग, सीले दोवइ वण्णी अडिग्ग॥ ८॥
विणु सीले कीयउ णरय जाउ, विणुं सीले रावण हुव सपाउ॥ ९॥
कित्ति उवण्णिंज्जइ सील सत्थु, विणु सीले णरभउ णरय सत्थु॥ १०॥
विणु सीले सज्जण सहसु वीलु, विणु सीले दुह सायरि सलीलु॥ ११॥
विणु सीले होइ जि णीउमत्थु, विणुं तुरिय ण लब्भइ अप्प वत्थु॥ १२॥
वय भंग्गे भमइ अणंतजोणि, विणु सीले साहइ णरय खोणि॥ १३॥
णर-णारि सील-वउ गहहिं ज़ाणि, सग्गापवग्गु पावहि णियाणि॥ १४॥

घत्ता—विय-अक्ख अखोहणि कम्महुं मोहणि गुत्ति-तिगुत्ति पयासिया।
लोयहु णिरु गिज्जइ कट्ठे सिज्झइ रिसि जि तुरियं वउ भासिया॥ २॥

प्रथम सन्धि

मंगल स्तुति

घत्ता—जो ज्ञान से गम्भीर हैं, त्रिभुवनपति हैं, ऋषिराज हैं, यति हैं, उपमातीत हैं, विशद अर्थ के ज्ञाता हैं, प्रशस्त शील के धारक हैं, ऐसे महावीर जिनेन्द्र को प्रणाम करके मैं (भगवतीदास) सती मृगांकलेखा की कथा को कहता हूँ॥ १ ॥

१

छप्पय—अथानन्तर मैं शील के माहात्म्य को कहता हूँ; क्योंकि शील के प्रभाव से लोक में हरिण हैं अंक में जिसके, ऐसे चन्द्रमा की रश्मियों के समान धवल कीर्ति फैलती है। शील से सिंह भी चरणों में झुक जाता है, सर्प भी नहीं डसता तथा गज भी अपना दर्प छोड़कर चरणों में आ गिरता है। जो हर्ष से भरकर प्रशस्त मन से शीलवान पुरुषों के चरणों में प्रणाम करते हैं, उनके अनेक विघ्न दूर से ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। जिन शीलवन्त पुरुषों की सघन वन में भी मनुष्यों के बीच विजय होती है तथा उन्हें संग्राम में शत्रुओं का संकट एवं भय नहीं होता। उनका मुख-कमल सदा विकसित रहता है तथा उनके गृहों में मंगलों का समूह अनुचर की भाँति नित्य ही सेवा करता है॥ १.२.३.४.५ ॥

शीलवान के निकट न आपत्तियाँ आती हैं, ना ही ठहरती हैं। जिनका उज्ज्वल यश इतना विस्तृत होता कि त्रिभुवन में भी नहीं समाता। शील के होने पर जीव मेरु जैसी श्रेष्ठ प्रशंसा को प्राप्त होता है और शील के बिना जीव निर्भय होकर कष्ट सहता है। शील के प्रभाव से सीता अग्निकुण्ड से बाहर निकल आईं तथा द्रौपदी भी शील के होने पर वन में भी अडिग रहीं। और शीलाभाव में रावण पापी हुआ एवं शील-विहीन कीचक नरक चला गया। सच है प्रशस्त शील के साथ कीर्ति उत्पन्न होती है तो बिना शील के नर-जन्म भी नरक का साथी हो जाता॥ ६.७.८.९.१० ॥

शील बिन सज्जन पुरुष भी सहस्रों बार लज्जा को प्राप्त होते हैं, क्योंकि शील विरहित मनुष्य ही दु:ख-सागर में डूबते हैं। बिना शील के जीव अपनी आत्म वस्तु/आत्म तत्त्व को प्राप्त नहीं होता, उलटा उन्मत्तता की ओर बढ़ जाता है। व्रत भंग हो जाने पर जीव अनन्त योनियों में परिभ्रमण करता है, एवं विना शील के नरक भूमियों को प्राप्त करता है। ऐसा जानकर हे नर-नारियों! शील व्रत को ग्रहण करो तथा स्वर्ग और अपवर्ग के कारण भूत इस शील को प्राप्त करो॥ ११.१२.१३.१४ ॥

घत्ता—इन्द्रियों में द्वितीय रसनेन्द्रिय, कर्म रूपी अक्षौहिणी अर्थात् सेना में मोहनीय कर्म, गुप्तियों में तृतीय मनोगुप्ति एवं व्रतों में चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत कष्ट साध्य हैं; ऐसा लौकिक जन कहते हैं तथा ऋषियों ने भी यही प्रकाशित किया है॥ २ ॥

दोहा—जो चुक्का गुण-संपदा, चुक्का कित्ति मुहाउ।
जो जणु चुक्का सील तें, चुक्का सयल सुहाउ॥ १ ॥

गाथा—भेऐ णव दंडे णव उवयारेणावि सीलमकलंकं।
ण चयंति सत्त-जुत्ता मइंकलेहव्व दढधम्मा॥ १ ॥

२

छप्पय—दीवांण पहाणउ पढम-दीउ, खारं-भोणिहि मंडिउ समीउ॥ १ ॥
मेरह दक्खण दिसि भरह-खित्तु, तहिं देसु अवंती वर पवित्तु॥ २ ॥
उज्जयणि णयरि णं तिलउदीव, परिहा-पयार-मंडिय समीव॥ ३ ॥
चउ गोउर तोरण लंकियाउ, गिह-सिहरि कलस-ससि संकियाउ॥ ४ ॥
गयणग्ग लग्ग मंदिर ससोह, सिय-वण्ण दित्ति रवि पह-णिरोह॥ ५ ॥
जह णारि मणोहर रुवसार, वर गोह जि णं मारावयार॥ ६ ॥
जह चेईहर सु उत्तंग सव्व, जिण-गुर-सुय-भत्ति मणुव अगव्व॥ ७ ॥
वहु वण्ण पंक्ति धय-माल जत्थ, किंकणि रउ सुम्मइ जत्थ तत्थ॥ ८ ॥

पंडिय मंडिय जह धरय वेसु, रिसिवर तिट्ठहिं वणि सुक्क लेसु॥ ९ ॥
तह अवणिसेन णामेण राउ, विहवेण सक्कु अक्क जि पयाउ॥ १० ॥
अरि करि केसरि संगाम सूरु, णयणीय तरंगिणि सलिल पूरु॥ ११ ॥
जिणधम्म-पहावण-गुण पवीणु, णिय विहवे पोसइ हीणु-दीणु॥ १२ ॥
तिहं णारि जयावइ हरिण-णेत्त, भत्तार भत्ति वच्छलि अतित्त॥ १३ ॥
रुवे रोहणि णं मयण भज्ज, गय गामिणि भामिणि अइ सलज्ज॥ १४ ॥
मइसायरु मंती मइविसालु, सुउ सागरचंदु दिवंत भालु॥ १५ ॥

दोहा—जो पुरुष गुण-रूपी सम्पदा से चूक गया; समझो वह यश के मुख से ही वंचित हो गया और जो मनुष्य शील से चूक गया; समझिए वह परमात्म स्वभाव से ही स्खलित हो गया॥ १ ॥

गाथा—जो सामर्थ्यवान जीव उपचार से भी निष्कलंक शील के नव भेदों से तथा नव दण्डों से च्युत नहीं होते वे चन्द्ररेखा की भाँति अपने धर्म में दृढ़ रहते हैं। पक्ष में मृगांकलेखा सती के समान दृढ़ धर्मी होते हैं॥ १ ॥

२

छप्पय—सर्व द्वीपों में प्रधान प्रथम द्वीप अर्थात् जम्बूद्वीप है, जिसके समीप चारों ओर लवण समुद्र सुशोभित है। मेरु की दक्षिण दिशा में भरत क्षेत्र है, वहाँ श्रेष्ठ और पवित्र अवन्ति नामक देश है। अवन्ति देश में उज्जयिनी नगरी है जो ऐसी लगती है मानों उस द्वीप का तिलक हो। जिसका समीपवर्ती स्थान परिखा तथा प्राकारों से मण्डित अर्थात् सुशोभित हैं। जिसके चारों गोपुर तोरण द्वारों से अलंकृत हैं। जहाँ के गृह शिखरों पर स्थित कलश चन्द्रमा की आशंका उत्पन्न करते हैं। जहाँ के शोभा युक्त मन्दिर आकाश के अग्रभाग से लगे हुए हैं तथा उनकी श्वेत वर्णी आभा सूर्य के मार्ग को रोकती है॥ १.२.३.४.५ ॥

जहाँ की स्त्रियाँ मन को हरण करनेवाली अति सुन्दर हैं। वे ऐसी लगती हैं मानों रूप का ही सार हों और जहाँ के पुरुष ऐसे लगते हैं मानों कामदेव के अवतार हैं। जहाँ के सभी चैत्यालय अत्यन्त उत्तुंग है और जहाँ के निरभिमानी पुरुष देव, गुरु तथा श्रुत की भक्ति में संलग्न रहते हैं। जहाँ ध्वजाओं का समूह अनेक वर्णों की पंक्तियों से युक्त हैं तथा जहाँ यत्र-तत्र किंकणियों का मधुर स्वर सुनाई पड़ता है। जहाँ के लोग विद्या भाक् अर्थात् तत्त्वज्ञानी पण्डित के वेष को धारण करते हैं एवं जहाँ के काननों में शुक्ल लेश्यावाले ऋषिवर्य विराजते हैं। वहाँ अवनिसेन नामक नृपति था जो अपने वैभव से इन्द्र और प्रताप से सूर्य को भी जीतता था॥ ६.७.८.९.१० ॥

जो संग्राम में शत्रुरूपी हस्तियों के लिए शार्दूल के समान शूरवीर था एवं न्यायनीति रूपी सलिला के सलिल से सम्पूर था अर्थात् न्याय प्रिय था। वह जिन धर्म की प्रभावनारूपी गुण में प्रवीण था तथा अपने ऐश्वर्य से दीन-हीनों का पोषण करता था। उसकी मृगनयनी जयावती नाम की पत्नी थी, जो पति भक्ति रूपी वात्सल्य से सदा अतृप्त रहती थी। वह गजगामिनी भामिनी अति ही लज्जावती थी। रूप में वह रोहिणी थी; जो ऐसी लगती थी मानों कामदेव की भार्या रति ही हो। उसी नगरी में विशाल बुद्धिवाला मतिसागर (सागरदत्त) नामक मन्त्री रहता था; जिसका दैदीप्यमान ललाटवाला सागरचन्द्र नाम का पुत्र था॥ ११.१२.१३.१४.१५ ॥

धणसार णामि वणिवरु विचित्तु, सगठामि समप्पइ वसु पवित्तु ॥ १६ ॥
परवित्त परमुहु सीलवंतु, चउसंघ विणइ दाणे महंतु ॥ १७ ॥
रंभा घरणी णं रुवि रंभ, कमलच्छि दच्छि संकियअरंभ ॥ १८ ।
धम्मे णिसंक पावेण भीय, रहुपत्तीणं सीलेण सीय ॥ १९ ॥
जिण-सत्थदाण भावे पवीण, गुरु पाइ पउम महुलिहि सुलीण ॥ २० ॥

घत्ता—सा रयणि समइ पिक्खइ सिविणे अमियविल्लि घर पंगणये।
उवयंत सपल्ल्व कोमलिया विट्ठि जाउ सु णहंगणए ॥ ३ ॥

३

छप्पय— जिण णामु लिंति सिठाणि पहाइ, उट्ठिवि पुच्छइ णिय णाह आइ ॥ १ ॥
सामिय सिविणइं फल कहहु जुत्ति, सो जंपइ पिय तव गब्भि पुत्ति ॥ २ ॥
संभवइ सलक्खणि मइ विसाल, धम्मे पवीण रुवे रसाल ॥ ३ ॥
गब्भे दोहलु जाइउ मणोज्जु, चउ संघह दिण्णउ सुट्ठु भोज्जु ॥ ४ ॥
णव मासि जम्मु सुव इव सुयासु, वर ताइ महुच्छउ कियउ तासु ॥ ५ ॥
सुह लग्गे जोइ वर सुह णखत्ति, सुउवण्ण कण्ण णं कामथत्ति ॥ ६ ॥
कम पांणि कमल सु सुवण्ण देह, तिहं णाउ धरिउ सुमइंकलेह ॥ ७ ॥
कमि कमि सुपवड्ढइ सा-गुणाल, दिगमिग-ससि-वत्तु मराल चाल ॥ ८ ॥
रुवे रइ दासिव णियडि तासु, किं वण्णमि अमरी खयरि जासु ॥ ९ ॥
लच्छी सुविलच्छी सोह दित्ति, तिहं तुल्लि ण छज्जइ बुद्धि कित्ति ॥ १० ॥
सा सिक्खिय सयल कला विणांण, जिण धम्म रंगि (य) रंगिय अमाण ॥ ११ ॥

घत्ता—णिय जणण विहिय जिणहरि गहणे मणिमय पडिम विराइया।
वसु भेय पूय गहि सो जि सुया समवयसि तह आइया ॥ ४ ॥

वहीं पर धनसार नामक एक श्रेष्ठ किन्तु विचित्र वणिक रहता था। जो अपने पवित्र धन को जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, जिनयात्रा, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, दान-पूजा और सिद्धान्त शास्त्र लेखन; इन सप्त स्थानों में समर्पित करता था। वह शीलवन्त सदा परधन से पराङ्मुख रहता हुआ महान् दान द्वारा चतुर्विध संघ की विनय करता था। धनसार श्रेष्ठी की रम्भा नामक प्रिया रूप में मानों रम्भा ही थी। उस कमलाक्षी के नेत्र रम्भा की आशंका उत्पन्न करते थे। धर्म में निशंक, पाप से भीरु वह रम्भा ऐसी लगती थी, 'जैसे रघुपति राम की शीलवती सीता ही हो'। उसके भाव शास्त्रदान में प्रवीण थे। वह गुरुजनों के पद-पंकजों में मधुलिह (भौंरा) की तरह लिप्त रहती थी॥ १६.१७.१८.१९.२० ॥

घत्ता—वह रात्रि के समय स्वप्न में देखती है—मेरे गृहांगण में कोमल-कोमल पल्लवों सहित अमृत बेलि उत्पन्न हुई है तथा नभ-मण्डल से जल वृष्टि हो रही है॥ ३ ॥

३

छप्पय—उष:काल में वह श्रेष्ठी पत्नी जिनेन्द्र प्रभु का नाम स्मरण करती हुई उठकर अपने पति के निकट आई और पूछने लगी—हे स्वामिन्! स्वप्न फल को युक्तिपूर्वक कहिए। स्वप्नों को सुनकर श्रेष्ठी कहता है—प्रिये! तुम्हारे गर्भ में पुत्री है। वह सुलक्षणा, विशाल बुद्धिवाली, धर्म निपुणा एवं रूप में अत्यन्त सुन्दर होगी। गर्भकाल में 'मैं चतुर्विध संघ को उत्तम आहार दूँ' ऐसा मनोज्ञ दोहला रम्भा सेठानी को हुआ। नव मास पूर्ण हो जाने पर पुत्र के समान पुत्री का जन्म हुआ, उसके पिता ने बहुत ही सुन्दर उत्साहपूर्वक जन्म महोत्सव कराया॥ १.२.३.४.५ ॥

शुभ लग्न, शुभ योग, उत्तम-श्रेठ नक्षत्र में उत्पन्न हुई वह कन्या ऐसी लगती थी मानों कामदेव की विश्राम स्थली हो। कन्या के सुन्दर हस्त-पाद कमल सदृश थे। उसकी देह यष्टि स्वर्ण समान थी और उसका नाम रखा गया मृगांकलेखा। गुण समूह से युक्त कन्या क्रम-क्रम से अच्छी तरह वृद्धि को प्राप्त हुई। उसके नेत्र मृग जैसे थे, मुख चन्द्र जैसा था और उसकी चाल हंस जैसी थी। उस कन्या के रूप का मैं क्या वर्णन करूँ; उसे सुरबाला कहूँ या विद्याधरी? क्योंकि रूप में उसके समक्ष कामदेव की पत्नी रति भी दासीवत् प्रतिभाषित होती थी। उसके शरीर सौन्दर्य और देह-दीप्ति के समक्ष तो लक्ष्मी भी लज्जित होती थी तथा उसकी तुलना में बुद्धि और कीर्ति भी सुशोभित नहीं होती थी। उस बाला ने सम्पूर्ण कला और विज्ञान की शिक्षा ग्रहण की। वह अपरिमित जिन-धर्म के रंग में रँग गई॥ ६.७.८.९.१०.११ ॥

घत्ता—अनन्तर वह कन्या गहन जंगल में अपने पिता द्वारा निर्मित जिनमन्दिर में जहाँ रत्नमय प्रतिमाएँ विराजमान थीं, विविध प्रकार की पूजन सामग्री ग्रहण कर समान वयवाली सखियों सहित आई॥ ४ ॥

गाथा—णारि सयल विहि विहिया, खेयरि किंणरिसु णायकण्णए।
सा कण्णा जिणि णिम्मिय सा विहणा अण्ण कोवि सावडए॥ २॥
रंभ तिलोत्तम भणिया, सम रुवे णत्थि अत्थि का वाला।
सरिसा मयंकरेहा, को कइया बुद्धि वण्णण समत्थो॥ ३॥

जिण-धम्म-रम्म-रंगे, तच्चित्ते अट्ठमंग पज्जंत।
सव्वंगं परिणमिउ, रंगुव्व जवाइ कुसमम्मि॥ ४॥

४

पद्धरी—एत्थतंरि पूय करेवि तत्थ, ठिय पडिमा जोए कण्ण जत्थ॥ १॥
मण वयण काय एयग्ग झाणि, पणगुरु कररुहजावलिय तांणि॥ २॥
तण तत्त समुज्जल कणय कंति, णह-मणि दीविय णं रयण-पंति॥ ३॥
णं रवि-ससि जुण्ह खिरंति खित्ति, सिय वत्थ जुयल ताडंक दित्ति॥ ४॥
सा दिट्ठिय सागरचंद कण्ण, मणि चिंतइ सो सुर पडिम धण्ण॥ ५॥
तिणि भावे पणमिय उत्तमग्गि, हसिया सु मित्ति करताल संगि॥ ६॥
सुहिओ जंपइ सुरपडिम णत्थि, धणसार सिट्ठि तणजा सु अत्थि॥ ७॥
एसा मइंकलेहा पसिद्ध, कलयंठि कंठ जुव्वण समिद्ध॥ ८॥
आइण्णि लवइ जलणिहिमइंकु, हउ णत्थि मित्त दंसण असंकु॥ ९॥
हउं णमणु करउ जक्खणि य जक्ख, महु णत्थि इक्क ठिदि हरि परिक्ख॥ १०॥
मह महणि महिउ जलणिहि सुजाम, जं एह ण कण्ण-उवण्ण ताम॥ ११॥
यह अमिय तरंगिणि जिणि ण दिट्ठ, संसारि गोह सव्व जि णिकिट्ठ॥ १२॥
अह सो चिंतइ महु विहलु जम्मु, जइया महु दइया ण हवइ कम्मु॥ १३॥
इय चिंति खणंतरि सो झडत्ति, मुच्छा मइ हीणु पडिउ धरत्ति॥ १४॥
ता मित्ते सिंचिउ वारि-विंदु, पवणे अंदोलि किउ सचिंदु॥ १५॥

घत्ता—मित्तेण णीवासि खणे, आकाम दाह दीविय सुतणो।
सुसइ-वयणुं-चेयण-चलिय, भत्त-पांण रुइ रहिय मणो॥ ५॥

गाथा—नारी के योग्य सकल विधियों से विहित वह कन्या जिस विधि से रची गई थी वह रचना-विधि विद्याधरियों, किन्नरियों, नाग कन्याओं अथवा अन्य किसी भी नारी जाति में नहीं सुनी गई थी अर्थात् उस जैसा रूप-लावण्य अन्यत्र श्रवणगत नहीं हुआ था॥ २॥ उसके समान रूप में रम्भा और तिलोत्तमा भी नहीं कही जाती थी, अन्य बालाओं की तो बात ही क्या है? वह चन्द्रकला के समान थी। किस कवि की बुद्धि उसके रूप का वर्णन करने में समर्थ थी?॥ ३॥

जिस प्रकार जपा पुष्प में उसका रंग सर्वत्र व्याप्त रहता है उसी प्रकार जिसके चित्त सहित आठों अंगों में जिनधर्म का मनोहारी रंग व्याप्त था, ऐसी उस कन्या ने सर्वांग से 'जिनचन्द्र' को नमस्कार किया॥ ४॥

४

पद्धरी—अथानन्तर जिनेन्द्रार्चन करके वह कन्या वहीं पर प्रतिमायोग से स्थित होकर मन-वचन-काय को एकाग्र कर करांगुलियों पर पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान करने लगी। उसका शरीर तप्त स्वर्ण की कान्ति के समान उज्ज्वल था। उसकी नख रूपी मणियाँ ऐसी दीपित हो रही थीं मानो रत्नों की पंक्तियाँ ही चमक रही हों। उसके शुभ्र वस्त्रों और युगल तांडक/कर्ण फूलों की दीप्ति ऐसी लग रही थी जैसे रवि और शशि की ज्योत्स्ना ही पृथ्वी पर खिर रही हो। ऐसी वह कन्या सागरचन्द्र द्वारा देखी गई। वह मन में सोचता है यह देव प्रतिमा धन्य है॥ १.२.३.४.५॥

उस कन्या को सागरचन्द्र ने जैसे ही भावपूर्वक उत्तमाङ्ग से प्रणाम किया वैसे ही उसका मित्र ताल देकर हँसने लगा। मित्र कहता है—यह 'देव-प्रतिमा' नहीं है, यह तो धनसार श्रेष्ठी की पुत्री है। यह यौवन सम्पन्न है, इसका कण्ठ कोयल के समान है तथा यह मृगांकलेखा के नाम से प्रसिद्ध है। मित्र के वचन सुनकर सागरचन्द्र कहता है—हे मित्र! मुझे दर्शन के सम्बन्ध में कोई आशंका नहीं है। मैं तो यक्ष-यक्षिणी दोनों को नमस्कार करता हूँ क्योंकि मैं एक ही स्थान पर स्थित देवों के विषय में परीक्षा नहीं करता॥ ६.७.८.९.१०॥

यदि यह कन्या के रूप में उत्पन्न नहीं है तो मुझ सागरचन्द्र द्वारा अत्यन्त पूज्य है क्योंकि इस अमृत तरंगिणी को जिसने नहीं देखा, उस पुरुष का संसार में सब कुछ व्यर्थ है। 'और यदि यह कमनीया कन्या है और फिर यह मेरी पत्नी नहीं होती है तो मेरा जन्म निष्फल है' ऐसा विचार करते-करते वह मतिहीन हो उसी क्षण शीघ्र ही मूर्च्छित हो धरती पर गिर पड़ा। मित्र ने जल बिन्दुओं का सिंचन किया और पंखा से हवा कर सागरचन्द्र को चेतना युक्त किया॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

घत्ता—मित्र के द्वारा वह सागरचन्द्र पल भर में अपने आवास पर ले जाया गया। उसका सारा शरीर काम-दाह से जलने लगा। मुख सूख गया, चेतना चंचल हो गई एवं उसका मन भोजन-पान की रुचि से रहित हो गया॥५॥

गाथा—आही वा वाही वा, तुह देह दहइ कहसु को मज्झ।
इय जणए णिरु पुट्ठो ण किंपि पडि जंपए एसो॥ ५॥

मित्त मुह मुणिय तत्तो, सिट्ठी संठावए णिय पुत्तं।
चइसु विसाइं पिसायं, होही तुह चेव सा तरुणी॥ ६॥

५

पद्धरी—एत्थंतरि इक्कु णिमित्त णाणि, आइउ मंतिय गिहि सच्चवाणि॥ १॥
सो साइरदत्तु लवइ सचिंतु, चिंताउर पण्ह भणहि णिमित्तु॥ २॥
किं अत्थि णत्थि यहु कज्जु सारु, सिग्घसु अक्खहि छंडिवि पसारु॥ ३॥
फुड्डु लवइ विणाणी जीव चिंत, णिरु उज्जमि सिज्झइ वा णिमित्त॥ ४॥
तं पुणु सुभणिउ जि वितंतु सव्वु, विप्पे तसु दिण्णउ मंतु भव्वु॥ ५॥
जिणसासण धम्म वियारु जुत्ति, दय धम्मे लब्भइ सेट्ठि पुत्ति॥ ६॥
यहु मणि आणिज्जइ णिरु उवाउ, किज्जइ चउविह णिरु असण चाउ॥ ७॥
तदणंतरि सायरचंद्दि वुत्तु, विप्पे भासिउ किज्जइ णिरुत्तु॥ ८॥
जइ लब्भइ मज्झु मइंक लेह, तउ अहुणा तिट्ठइ जीउ देह॥ ९॥
अण्णारिसु मरणु झडत्ति ढुक्कु, यहु वयणु सुणिच्छइ णिरुअ अचुक्कु॥ १०॥
ता पुत्त वुत्त सुणि ताउ सिग्घ, गउ जिणहरि जिणु पणमिउ अविग्घि॥ ११॥
पुणु रिसिवर पइ पंकइ णवेवि, कवडे णिविट्ठ पिय पिउ णुवेदि॥ १२॥
सामिय संसारु असारु एहु, जर जम्मण मरण ण लद्धु छेउ॥ १३॥
भव साइरि णिवडंताण अम्ह, करलंवण धम्म दयार तुम्ह॥ १४॥
इय भणिवि सुगग्गिर वाय जाम, सावइ वय गिण्हिय झत्ति ताम॥ १५॥
ण्हवणच्चण वंदणुच्छव सजुत्त, पव्वणि पोसह करि सद्धयत्त॥ १६॥
अहणिसि ठिउ देवलि धम्म भासु, धणसार सिट्ठि सम णेहु तासु॥ १७॥

घत्ता—साहम्मियु सुसणेहु, वच्छलेण महंतउ।
परसप्पर हिउ विण्णि, पयडइ सेट्ठि सम्मत्तउ॥ ६॥

गाथा—'तुझे कौन सी मानसिक पीड़ा है अथवा तुझे कौन सी शारीरिक पीड़ा है, जिससे तेरी देह जल रही है। हे पुत्र! मुझसे कह।' ऐसा पिता के द्वारा पूछे जाने पर उसने कुछ भी नहीं कहा॥ ५॥

पश्चात् मित्र के मुख से पुत्र के समाचार जानकर श्रेष्ठी ने अपने पुत्र को संस्थापित किया। हे पुत्र! विषाद रूपी पिशाच को छोड़ो वह तरुणी तेरी ही होगी॥ ६॥

५

पद्धरी—इसी बीच एक सत्यवादी, निमित्त ज्ञानी मन्त्री सागरदत्त के घर आया। चिन्तातुर है चित्त जिसका ऐसे उस सागरदत्त ने निमित्त ज्ञानी से कहा, विस्तार को छोड़कर संक्षेप में शीघ्र ही कहिए कि क्या यह मृगांकलेखा एवं सागरचन्द्र का पाणिग्रहण रूप कार्य उचित है अथवा नहीं। उस विशिष्टज्ञानी ने विचार कर स्पष्ट रूप से कहा, हे मित्र! उद्यम करने से कार्य की सिद्धि होती है अथवा निमित्त से?। सागरदत्त ने सारे वृत्तान्त को पुनः कहा, पश्चात् विप्र ने उसे एक भव्य मन्त्र दिया॥ १.२.३.४.५॥

जिन शासन एवं जिन धर्म का युक्तिपूर्वक विचार करो। इसी दया धर्म के द्वारा ही श्रेष्ठी की पुत्री प्राप्त होगी। पुत्री की प्राप्ति का यही उपाय निरन्तर मन में धारण कीजिए एवं चारों प्रकार के आहार का त्याग कीजिए। इसके पश्चात् सागरचन्द्र बोला—विप्र ने जो कुछ कहा है वह निश्चित रूपेण किया जाना चाहिए। यदि मृगांकलेखा मुझे प्राप्त होती है तो ही अब यह जीव इस शरीर में स्थित रह सकता है, अन्यथा अन्य लोगों की तरह मैं भी शीघ्र ही मृत्यु के निकट पहुँच जाऊँगा, यह मेरा नितान्त अचूक वचन है॥ ६.७.८.९.१०॥

पुत्र के कथन को सुन शीघ्र ही उसके पिता जिनमन्दिर गए और बिना किसी रुकावट के उन्होंने जिनेन्द्र प्रभु को प्रणाम किया। तत्पश्चात् ऋषिवर्य के पाद-पद्मों में नमस्कार कर उनके समीप बैठ गया और कपट भाव से प्रीतिपूर्वक निवेदन करने लगा। हे स्वामिन्! यह संसार असार है। जब तक जन्म-मरण एवं जरा का विच्छेद न हो; तब तक हे धर्मदातार! भव समुद्र में डूबते हम सबको आप ही हस्तावलम्बन स्वरूप हो। इस प्रकार गद्‌गद वाणी में कहकर सागरदत्त ने उसी समय श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिए॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

अभिषेक, पूजन, वन्दन और उत्सव से संयुक्त होकर वे सागरदत्त पर्व के दिनों में श्रद्धापूर्वक प्रोषध करने लगे। अहर्निश मन्दिर में ठहरकर धर्म कथा कहने लगे तथा उनका धनसार श्रेष्ठी के साथ स्नेह हो गया॥ १६.१७॥

घत्ता—दोनों सहधर्मियों के परस्पर बढ़ते हुए स्नेह एवं वात्सल्य से दोनों श्रेष्ठियों के हृदय में सम्यग्दर्शन प्रकट हो गया॥ ६॥

६

खण्डय—तामिक्कहि दिणि सुंद्दरि, धणसारह जिण मंदिरि ॥ १ ॥
सायरदत्तु उवासिओ, ठिउ रयणिहि आसासिउ ॥ २ ॥
हुव पहाइ सुरुग्गइ दित्तिए, सिट्ठि जाउ जिण वंदणहत्तिए ॥ ३ ॥
तेण वि काऊसग्गु वि सज्जिउ, णाणा थुइ सुमणसि जिणु पुज्जिउ ॥ ४ ॥
गुर वंदण करि धम्म कहंतरु, सुणि हरसिय ते विण्णि परोपरु ॥ ५ ॥
ताणंतरि माण्णाविउ तं पुणु, भोयणत्थि पत्थण करि तिह खिणु ॥ ६ ॥
उवहिदत्तु मंती णिउ णिय घरे, तिह तणु तिल्लिअ भिंगिउ पुणु करे ॥ ७ ॥
सज्जण मज्जण वित्ति संवारिया, उच्चासणि असणत्थि सुधारिया ॥ ८ ॥

वर कय कच्चुव खडरस भोयणु, सोहण भायणि ठिउ छुह मोयणु ॥ ९ ॥
अवसरु मणि परियाणिवि मंती, उत्तउ सिट्ठि समउ सुविणंती ॥ १० ॥
जइ जम्मंतु णेहु दरिसावहि, महु पुत्तहु करि णिय सुय लावहि ॥ ११ ॥
तउ वरि कमल गहणु किर किज्जइ, इयरह करणि ण णिय मणु भिज्जइ ॥ १२ ॥
वुल्लिउ धणसारे आइण्णिवि, तं भासिउ साहम्मिय मण्णिवि ॥ १३ ॥
जंपइ वुत्तुसु किं णवि किज्जइ, णिरु गुणवंतहु काइ ण दिज्जइ ॥ १४ ॥
इय भणेवि सुमुहुत्त तेण वि, दिण्ण पडिच्छिय सुअ अइरेण वि ॥ १५ ॥

घत्ता—अट्ठ दिवस तह तेण, चउवीसह अरहंतह।
महिम महंत करेवि, देविणु दाण सुपत्तह ॥७॥

गाथा—पत्थावो ति वियाणिय, सायर संकेइ तत्थ एयंते।
भणिया ससिसूराणं, जोगो तुम्ह ण अइ रम्मो ॥७॥

ता अज्ज पव्व दिवसे, सुमुहुत्त अज्जु अज्ज वर लग्गं।
तं कुणहु अम्ह वयणं, संवंधो सोवि मणइट्ठं ॥८॥

६

खण्डय—एक दिन वह सागरदत्त आश्वासित हो उपवास करके सुन्दरी मृगांकलेखा एवं उसके पिता धनसार श्रेष्ठी के जिनालय में रात्रि विश्राम हेतु ठहर गया॥ १.२॥

प्रभात हुआ और सूर्य पूर्ण दीप्ति के साथ उदित हुआ तो आश्वासित होकर सेठ धनसार जिन वन्दना के निमित्त जिनालय गया। उन्होंने भी वहाँ कायोत्सर्ग धारण किया तथा प्रशस्त मन से अनेक स्तुतियों द्वारा जिनेन्द्र प्रभु की पूजन की॥ ३.४॥

गुरु की वन्दना करके दोनों ने परस्पर हर्षित होकर धर्म कथा श्रवण की। तत्पश्चात् श्रेष्ठी धनसार मन्त्री सागरदत्त से आदर-सम्मान पूर्वक अपने घर पर भोजन करने की प्रार्थना करने लगा॥ ५.६.७.८॥

सेठ ने उत्तम षट्रस-युक्त कच्चा भोजन तैयार कराया एवं क्षुधा निवारण के लिए सुन्दर पात्रों में परोसा। मन में अवसर का विचार कर मन्त्री ने धनसार श्रेष्ठी से विनयपूर्वक कहा—यदि आप मुझपर इस जन्म का स्नेह दिखलाते हो तो मेरे पुत्र को अपना पुत्र बनाकर ले आइए अर्थात् अपनी पुत्री का मेरे पुत्र के साथ पाणिग्रहण कीजिए अन्यथा ऐसा नहीं करने पर मेरा मन टूट जाएगा॥ ९.१०.११.१२॥

मन्त्री की बात सुनकर धनसार बोला—आपने मुझे साधर्मी मानकर ऐसा कहा है, तो आपका कहा हुआ क्यों नहीं किया जाएगा? कहिए अत्यन्त गुणवन्त के लिए क्या नहीं दिया जाता? अर्थात् सब कुछ दिया जाता है। इस प्रकार कहकर धनसार श्रेष्ठी ने अति त्वरा शुभ मुहूर्त में सागरदत्त के पुत्र को अपनी पुत्री देना स्वीकार कर लिया॥ १३.१४.१५॥

घत्ता—उस नगर में अष्ट दिवस तक चौबीस तीर्थंकरों की महान् पूजा/प्रभावना करके सुपात्रों को दान दिया गया॥ ७॥

गाथा—विवाह प्रस्ताव को जानकर चन्द्रसूरि ने वहीं एकान्त में संकेत कर सागरदत्त से कहा—तुम्हारे लिए यह योग अत्यन्त शुभ नहीं है॥ ७॥

सो हे आर्य! आज ही पर्व के दिन 'शुभ मुहूर्त' है, लग्न भी श्रेष्ठ है इसलिए आप मेरे वचनानुसार आज ही कार्य करो, जिससे यह सम्बन्ध मन के लिए इष्टकर हो॥ ८॥

पद्धरी— ता विण्णि घरिहि सुउछाहु जाउ, भंभा भेरी णिरु घुट्ठ णाउ॥ १ ॥
णेमित्ति वयणि सुह लग्ग जोई, गिहि जुम्म विवाह समग्गि होई॥ २ ॥
गाइज्जइ णच्चिंज्जइ सुणिच्च, वसु दिज्जइ सम मगणह भिच्च॥ ३ ॥
विहि परियणि वट्टिउ पवर मोउ, दुज्जण जण-मण अरविंद सोउ॥ ४ ॥
आसण्ण-लग्ग दिणि उवहिचंदु, पडि जंपइ ठिय मित्तहु अतंदु॥ ५ ॥
धणमित्त सुणहि णिय चित्तु देइ, महु सुण्ण कलेवरु धर भमेइ॥ ६ ॥
चेयणु तिट्ठइ जह चंद्दलेह, आवहि सा पिक्खमि गेहि एह॥ ७ ॥
जइया जिणभवणि सुदिट्ठ बाल, पइ हसियउ हउं करि दिण्ण ताल॥ ८ ॥
तइया मणु मज्झु वसंतु तत्थ, मण्णवि जीविय हलु णियमि जत्थ॥ ९ ॥
धणमित्ति वुत्तु तुह वयण-वाणि, किम करमि भग्गु तव णेह खाणि॥ १० ॥
ता विण्णि वि चल्लिय असि करेण, सामंवर रयणी कालि तेण॥ ११ ॥
छम्मे गय विण्णि जि मित्त जाम, सिद्धत्थ पुत्ति ठिय जत्थ राम॥ १२ ॥
सहि चित्त पत्तलेहा सुदोइ, णर अंधयारि थिय विण्णि सोइ॥ १३ ॥
अवलोइ णयणि संतोसु जाउ, चिरु पव्वपुण्ण हल लद्धु साउ॥ १४ ॥
एत्थंतरि भासइ चित्तलेह, हलि धण्ण सही सुह वेल एह॥ १५ ॥
धणि लग्गु मुहुत्तु णखत्तु एहु, तव कंतु मिलेसइ मयणदेहु॥ १६ ॥
सुंदरु वरु लक्खण कल गुणालु, विण्णाण कुसलु सु विसालु भालु॥ १७ ॥
अणुरत्तु वि सम वय धण दयारु, किं वण्णमि राइरसिय-पयारु॥ १८ ॥

घत्ता— सुणि सा जि पत्तलेहा भणए, चित्तलेह हलि मुद्धित हो।
वरवच्छ णाय णहि सार गुणु, किं जलणिहि ससि लवहि वहो॥ ८ ॥

गाथा— पहुदा तित्थयराणं णेहो वल केसवाण जुयलाणं।
दुक्खं च सवत्तीणं अह पवसीराम वर वच्छं॥ ९ ॥

७

पद्धरी—निमित्तज्ञानी के वचनों के अनुसार शुभ लग्न देखी गई। दोनों गृहों में विवाह की सामग्रियाँ तैयार होने लगीं। उभय-गृहों में मनोज्ञ उत्साह छा गया एवं भम्भा (वाद्य विशेष), भेरी के उच्च स्वर गूँजने लगे। नित्य ही सुन्दर गीत गाए जाने लगे और सुन्दर मनोहर नृत्य होने लगे। भिखारियों एवं भृत्यों को समान मात्रा में द्रव्य दिया जाने लगा। परिणय विधि पर सब ओर उत्कृष्ट प्रमोद भाव बढ़ गया किन्तु दुर्जन पुरुषों के मनरूपी कमलों में शोक उत्पन्न हो गया। लग्न की निकटता के दिन सागरचन्द्र तन्द्रा रहित अपने मित्र सहित बैठा था। उसने मित्र से कहा—धनमित्र! अपना चित्त देकर सुनो, मेरा शरीर चेतनाहीन हो रहा है और पृथ्वी घूम रही है॥ १.२.३.४.५.६॥

मेरी चेतना वहीं स्थित है जहाँ चन्द्रलेखा है, जब वह इस घर में आएगी तभी मैं उसे देख सकूँगा। जबसे वह बाला जिन मन्दिर में मेरे द्वारा अच्छी तरह से देखी गई और तुम मुझपर ताल देकर हँसे थे तब से मेरा मन उसी में बस रहा है। मैं मानता हूँ मेरे जीवन का फल नियम से वही पर है। धनमित्र बोला—क्या मैं आपके वचनों का उल्लंघन करता हूँ, आप तो स्नेह-निधान हैं॥ ७.८.९.१०॥

वे दोनों उसी समय अँधेरी रात्रि में ही हाथ में तलवार लेकर चल पड़े। वे दोनों मित्र छद्मपूर्वक वहाँ गए जहाँ उद्यान में 'सिद्ध हो गया है अर्थ अर्थात् धन' जिनको ऐसे सिद्धार्थ अर्थात् 'धनसार' की पुत्री मृगांकलेखा अपनी चित्रलेखा और पत्रलेखा दोनों सखियों के साथ बैठी थीं। वे दोनों पुरुष अन्धकार में एक ओर खड़े हो गए। अपने नयनों से मृगांकलेखा को देखकर उसे ऐसा सन्तोष हुआ जैसे चिर संचित पूर्व पुण्य का सारा फल प्राप्त हो गया हो॥ ११.१२.१३.१४॥

इसी बीच चित्रलेखा कहती है—हे सखि! तू धन्य है और यह शुभ बेला भी धन्य है। यह लग्न, मुहूर्त और नक्षत्र भी धन्य है, जो तुझे मकरध्वज जैसा पति मिलेगा। जो सुन्दर है, श्रेष्ठ (देहगत-तिल, लहसुन, श्रीवत्स, पद्मादि) सामुद्रिक लक्षणों वाला, मनोहर गुणों के समूह से संयुक्त, विज्ञान-सम्पन्न, व्यवहार कुशल एवं विशाल भाल वाला है। जो समभाव और व्रत में अनुरक्त है, धन और दया का दातार है, ऐसे चन्द्रमा के समान उन सागरचन्द्र का मैं क्या वर्णन करूँ॥ १५.१६.१७.१८॥

घत्ता—चित्रलेखा की बात सुनकर वह पत्रलेखा बोली—हे सखि चित्रलेखा! तू तो भोली-भाली है। वर के सारभूत गुण तुझे ज्ञात नहीं है। सागरचन्द्र के साथ समागम को क्यों कहती हो॥ ८॥

गाथा—तीर्थंकरों की प्रभुता, कृष्ण और बलराम का स्नेह और प्रवासी राम जैसा श्रेष्ठ पुत्र जैसे जगत्प्रसिद्ध हैं वैसे ही सौत का दुःख जगत्प्रसिद्ध है॥ ९॥

पद्धरी— अहियारी सायरचंदु कुमरु, रायाणइ णिच्च विदेसि भमिरु॥ १॥
धी धी सहि सेवउ सारमेउ, दइया दीहर णिसि सुह विछेउ॥ २॥
पुणु परिणइ सीमंतिणि अमेय, दुहगा वहु सुहगा णिच्च एय॥ ३॥
वरु विवहारी सुंदरु सयाणु, वणिया विजोउ णवि गमण ठाणु॥ ४॥
रच्चइ पणइणि अप्पणिय एक, परियण परस्पर रुइ अणेक॥ ५॥
विवहारी पुत्तु अणंगसेणु, मग्गण-गण पोसण कामधेणु॥ ६॥
वर मंदिरि सुंदरि राइ हंसु, रामा रइ दुक्ख सया विधंसु॥ ७॥
ता चित्तलेह पुणु वुत्तु जाम, दह विउण वरिस ठिदि आउ ताम॥ ८॥

पुव्वसु वरु वण्णिउ एहु भासि, किं रयणि तवणु जं तेयरासि॥ ९॥
सा इयर भणइ किं लवहि आलु, वर तुच्छ आउ संसिउ गुणालु॥ १०॥
हे मुद्धि! अमिउ पिज्जइ वरिक्क, अजरामर तणु तिह थाइ णिक्क॥ ११॥
विस संचु बहुवि किंह कज्जि होइ, घिय साउ ण पुज्जइ तिल्लि सोइ॥ १२॥
वर पाइस भोज्जु वरिक्क भव्वु, कोद्दवकण असणि ण णिच्च गव्वु॥ १३॥
तदणंतरि सुणिवि मइंकलेह, ण णिवारइ ताह सलज्ज एह॥ १४॥
सो सायरचंदु सुणे अलाव, असि कोसि कढ्ढि धायउ सपाव॥ १५॥
सम्मुह चल्लइ ता मित्ति झत्ति, करु गिण्हि गयउ ले पवर सत्ति॥ १६॥
एयंति णियउ जंपइ सुतासु, संबोहइ ताइ सुमहुर भासु॥ १७॥

घत्ता— सहियसहिय जं भणिउ णिरो, वयण विसाउ ण किज्जइ।
सा सलज्ज ससिलेह सई, णिरवराह किं हिज्जइ॥ ९॥

गाथा—एसा वि चित्तलेहा, इयर वि भणिउ हि विण्णि हसिऊण।
वीसत्था किं हसत्था घायं अरि हेइ म कहसु॥ १०॥

पद्धरी—कुमार सागरचन्द्र अधिकारी (मन्त्री पुत्र) है। राजा की आज्ञा से नित्य ही विदेश में भ्रमण करता है, जिससे रात्रि में पति सम्बन्धी सुख का दीर्घ/लम्बा विच्छेद होता है। हे सखि! श्वान के समान सेवक को धिक्कार हो, धिक्कार हो। दूसरी बात, अधिकारी अनेक स्त्रियों से विवाह करता है। जिसमें दुर्भाग्यशालिनी अनेक होती हैं, सौभाग्यशालिनी तो कोई एक ही होती है। व्यापारी 'वर' सुन्दर और सुजान होते हैं, उनके गमन और ठहरने से वनिता-वियोग नहीं होता। यद्यपि परस्पर विवाह की अनेक रुचियाँ होती हैं इसलिए वे प्रणयिनी तो अनेक बना लेते हैं तथापि किसी एक को ही अपनी प्रिय पत्नी बनाते हैं॥ १.२.३.४.५॥

व्यापारी पुत्र अनंगसेन को देखो, वह कामधेनु के समान तो भिखारियों का पोषण करता है और उसके श्रेष्ठ भवन में राजहंस के समान सुन्दरी सदैव स्त्री रति सम्बन्धी दु:ख का विनाश करती है। जब पत्रलेखा ने ऐसा कहा, तब पुन: चित्रलेखा बोली—उसकी आयु तो केवल बीस वर्ष की है। पत्रलेखा बोली—पहले तूने जिस वर का वर्णन किया, क्या वह रात्रि में भी सूर्य के समान तेजवन्त है? क्यों झूठ बोलती हो, क्या तुच्छ आयुवाला गुणवन्त प्रशंसनीय नहीं होता॥ ६.७.८.९.१०॥

(सागरचन्द्र की ओर आक्षेप करती हुई) वह कहती है—हे मुग्धा! क्या वह एक अकेला ही श्रेष्ठ अमृत पीता है, जिससे उसका शरीर निर्मल एवं अजर-अमर है। अरे अधिक विष संचय करने से क्या कार्य सिद्ध होता है? घृत के स्वाद की पूर्ति तैल नहीं करता। एक बार सुन्दर-स्वादिष्ट क्षीरान्न खाना श्रेष्ठ है, किन्तु नित्य ही कौदों का भोजन करने से क्या गौरव?॥ ११.१२.१३॥

अथानन्तर ऐसा सुनकर भी मृगांकलेखा ने लज्जावश उसका निवारण नहीं किया। सागरचन्द्र ने दोनों का वार्त्तालाप सुना और पापयुक्त हो म्यान से तलवार निकालकर दौड़ पड़ा। तभी धनमित्र द्रुत गति से सागरचन्द्र के सम्मुख आया और पूरी शक्ति से उसका हाथ पकड़कर एकान्त में ले जाकर अत्यन्त मधुर वाणी में उसे सम्बोधित करने लगा॥ १४.१५.१६.१७॥

घत्ता—हे मित्र! सखियों-सखियों के बीच में जो कुछ कहा गया वह सत्य नहीं है, उसपर मुख-विषाद मत कीजिए। वह मृगांकलेखा लज्जावती सती है। वह निरपराध है उसे क्यों त्यागते हो॥ ९॥

गाथा—इन चित्रलेखा और पत्रलेखा दोनों ने जो कुछ भी कहा है वह हँसकर कहा है। क्या हँसी-हँसी में कही गई बातों पर विश्वास करते हो। अरे! शत्रु के घात के लिए भी मत कहो॥ १०॥

पद्धरी— भुंजुंतु णमंतु णसंतु सुतु, बाला वालउ रिसिझाण जुतु ॥१ ॥
हम्मंतु संतु तसु पवर पाउ, गइ आउह सुहड ण दिंति घाउ ॥२ ॥
इय भणिवि मित्त घरि णीउ मित्तु, दुह चिट्ठ विवाहि विरत्त चित्तु ॥३ ॥
रस मज्झिउयेज विसु पाण णासु, असुहे कम्मे किर बुद्धि कासु ॥४ ॥
अइ अत्ति झत्ति संपुण्ण रुद्द, किं किं ण करइ मइ दुट्ठ खुद्द ॥५ ॥
मणि वट्टइ तेण जि वहु कसाउ, खणि खणि कंपइ अइ रुद्दभाउ ॥६ ॥
परियण भय मित्त णिरोहि जुत्थ, किउ पाणिगहणु ण सराउ तत्थ ॥७ ॥
वित्तइ विवाहि किय भोज्जु भव्वु, दाणे सम्माणे गलिय गव्वु ॥८ ॥
परसप्पर सज्जण मिलि गमंति, अइ हरिस पूरि आइय गिहंति ॥९ ॥
णव वहु दंसणि परियणु समग्गु, आणंदिय णच्चिउ तंदु भग्गु ॥१० ॥
सो सायरचंदु मइंकलेह, दिट्ठे दुहु मण्णइ तवइ देह ॥११ ॥
संभासण वयण अलावे वित्ति, पिय चत्त विरह दुह अत्ति लित्ति ॥१२ ॥
ससिलेहा सरइवराहु अप्प, दिणु रइणि गमइ किर वहु वियप्प ॥१३ ॥
हा मुज्झवराहु ण कोवि णाह, दिग झरहि विण्णि णं वारिवाह ॥१४ ॥

गाथा—हियत्थ विरह हुयवह, तक्खण विज्झावणाय अणवरयं।
वाहप्पवाह पूरं, पूरंती णिच्च जुयलेण ॥ ११ ॥
जाणुजुयलंतराले, विणिवेसिय मउलि पंकया णिच्चं।
सव्वं साहए पुरओ, पवेस मग्गं-व-मग्गंती ॥ १२ ॥

परिचत्त पाण भोयण, विलेवणं मज्झ तुच्छ तरु देहा।
पायं मरणोवायं चिंतंती चिट्ठए मुद्धा ॥ १३ ॥

ता विरह-सम ण कारण, मलिण वावार वाउलो णिच्चं।
णिम्मवइ तिए सय गुण, दुत्थावत्थो सही सत्थे ॥ १४ ॥

पद्धरी—कहा भी है—भोजन करते हुए का, नमस्कार करते हुए का, पलायन करते हुए का, शयन करते हुए का, बालक-बालिका का, ऋषिजनों का एवं ध्यान में युक्त प्राणियों का वध करने में महान् पाप होता है इसलिए योद्धा पुरुष आयुध ग्रहण कर इनका घात नहीं करते हैं। इस प्रकार कहकर मित्र उसे घर ले आया। वह सागरचन्द्र दुःखी और विरक्त चित्त से विवाह के लिए ऐसे बैठ गया जैसे रस के मध्य में प्राणनाशक विष पड़ गया हो। सच है अशुभ कर्मोदय में किसकी ऐसी बुद्धि नहीं होती? वह अतिशीघ्र आर्त और रौद्र ध्यान से भर गया है। सत्य है दुष्ट और क्षुद्र मति क्या-क्या नहीं करती?॥ १.२.३.४.५॥

सागरचन्द्र के मन में अति तीव्र कषाय बढ़ने लगी। अत्यन्त रौद्र भावों के कारण वह क्षण-क्षण में काँपने लगा। परिजनों के भय से एवं मित्र के द्वारा रोके जाने पर सागरचन्द्र ने पाणिग्रहण तो किया, पर उसमें वह रागयुक्त नहीं हुआ। विवाहोपरान्त भव्य भोज किया गया तथा दान-सम्मान से सभी का गर्व गल गया। सज्जन-वृन्द परस्पर मिलकर अत्यन्त हर्ष से संपूरित हो अपने-अपने घर लौट गए। नववधू के अवलोकन/मुख दर्शन से आनन्दित होकर सारे परिजन नृत्य करने लगे और उनकी तन्द्रा भंग हो गई॥ ६.७.८.९.१०॥

मृगांकलेखा के दिखलाई पड़ने पर वह सागरचन्द्र दुःख मनाता है, उसकी देह तपने लगी। प्रिय के सम्भाषण, वचनालाप-रूप-प्रवृत्ति का परित्याग कर देने पर वह प्रिय विरह की पीड़ा से संश्लिष्ट हो गई। मृगांकलेखा अपने अपराधों का स्मरण करती है। हा नाथ! मेरा कोई भी अपराध नहीं है तथा उसके दोनों नेत्र ऐसे झरने लगे मानों जल प्रवाह ही झर रहा हो। इस प्रकार बहुत विकल्प करते हुए उसके दिन और रात्रियाँ बीतने लगीं॥ ११.१२.१३.१४॥

गाथा—हृदय में लगी हुई विरह रूपी अग्नि को बुझाने के लिए नित्य ही वह अपने नेत्र युगल से अनवरत अश्रुओं का प्रवाह प्रवाहित करती रहती थी। वह बाला दोनों जानुओं के मध्य में अपना मस्तक रूपी कमल रखकर नित्य ही सामने सब कुछ कह देती थीं मानों प्रवेश मार्ग को ही खोज रही हो॥ ११.१२॥

भोजन, पान एवं विलेपन के परित्याग से मध्य में क्षीण हो गया है तनरूपी तरु जिसका; ऐसी वह भोली प्रायः मरण के उपायों का चिन्तन करती हुई बैठी रहती थी॥ १३॥

विरह के समान अन्य कोई दूसरा कारण नहीं था, जो उसे नित्य व्याकुल कर उसकी दैनिक चेष्टाओं को मलिन/सदोष बनाता हो, ऐसी दुरावस्था में भी उस सती मृगांकलेखा के द्वारा सखियों के समूह में स्त्रियोचित सैकड़ों गुणों का निर्माण किया जाता था॥ १४॥

अरई अरुई ईसा, रणरणउ अंतरंग परिवारो।
अवरोवर झिज्जंतो मारोरवारो वसे जाओ॥ १५॥
चंदणरस उच्चोडण, करेण विरहेण तीय दद्धाए।
कह कह व एक्कवीसं, वासा मुद्धाइ वच्चंत॥ १६॥

१०

पुणु पाणिगहण पच्छइ कुमारु, परियणि पडिहासइ रुव सारु॥ १॥
यह णारि ण महु मणि ठाइ भव्व, गुण दोस णियमि तणि तासु सव्व॥ २॥
दिग डज्झहि मज्झु णियंत भज्ज, पीहरि पंडिवज्जउ सा अणज्ज॥ ३॥
तं कुमरु वयणु सुणि पियर वग्गु, पडिलवइ परोपरु मंति लग्गु॥ ४॥
अइ कोहु ण भल्लउ होइ पुत्त, विणु अवराहे दंडणु अजुत्त॥ ५॥

घत्ता— भणइ कुमर अरि सो जि णरो जो सुण्णहा घरि रक्खइ।
वयणु ण पिक्खइ झत्ति महो भज्ज कहा पुणु अक्खइ॥ १०॥

दोहा— मात पिता सुत वचन सुनि, रुदनु करहि ततकालि।
जो कछु विधि विधनाथ की, कौन सकइ तिंह टालि॥ २॥

सोरठा—संपति विपति विजोगु, रोग भोगु भावी उदइ।
हरिसु विसादु रु सोगु, समा न चलई तिहं तणउ॥ १॥

११

पद्धरी— ता सुण्णह सुणइ पिय वयण दुट्ठ, गग्गिर गिर भासइ सासु पुट्ठ॥ १॥
हे अंब! भणहि तं करणि कज्जु, विणु तुम्ह ण सुहिअ अवरुज्ज॥ २॥
तदणंतरि पिय सावित्ति वुत्तु, पइ हुंति ण महु घरि ठाइ पुत्तु॥ ३॥
तुह जाहि सिग्घ जणणहु अवासि, मा मुह दरसावहि पाव-रासि॥ ४॥
आइण्णि गिरा पिय-पियर-भज्ज, आएसु गहिवि चल्ली सलज्ज॥ ५॥
मण मज्झि परम रिसि वयणु धारि, सुह आस पास वंधणु णिवारि॥ ६॥
विहवसि जणु णच्चइ लोइ सव्वु, सिविणइ संपइ किर कवणु गव्वु॥ ७॥
विज्जावलु उज्जमु रुउ सारु, सुंदरि गुणाल अह पुरिसु मारु॥ ८॥

अरति, अरुचि और ईर्ष्यादि अन्तरङ्ग परिवार न्यूनाधिक होते हुए नि:श्वास छोड़कर क्षीण होने लगे तथा हृदय में लगा हुआ काम का वार उसके वशीभूत हो गया। विरह से दग्ध उस मुग्धा के हाथों से चन्दन का रस सूखने लगा। इस प्रकार उस भोली नारी के जिस किसी तरह इक्कीस वर्ष बीत गए॥ १५.१६ ॥

१०

पद्धरी—इधर पाणिग्रहण के पश्चात् रूप का सारभूत कुमार सागरचन्द्र परिजनों से कहता है—यह नारी मेरे मन को अच्छी नहीं लगती। इसके शरीर में सारे गुण नियम से दोष स्वरूप हैं। इस स्त्री को देखकर मेरे नेत्र जलने लगते हैं, अत: इस अनार्या को इसके पिता के घर भेज दो। कुमार के वचन सुनकर पितृवर्ग परस्पर मन्त्रणा कर पुत्र से कहता है—हे पुत्र! अतिक्रोध भला नहीं होता। बिना अपराध के दण्ड देना उचित नहीं॥ १.२.३.४.५ ॥

घत्ता—कुमार बोला—जो कोई भी व्यक्ति इस पुत्रवधू को घर में रखेगा वह मेरा शत्रु होगा; और जो इस स्त्री के सम्बन्ध में मुझसे कुछ कहेगा वह शीघ्र ही मेरा मुख नहीं देख सकेगा॥ १० ॥

दोहा—पुत्र के वचनों को सुनकर माता-पिता रुदन करने लगे। जो कुछ विधाता की कर्मविधि है उसे कौन टाल सकता है?॥ २ ॥

सोरठा—हे पुत्र! सम्पत्ति-विपत्ति, वियोग-रोग-भोग, भवितव्यता-उदय, हर्ष-विषाद और शोक सदैव एक से नहीं रहते। पक्ष में इनके समक्ष किसी की नहीं चलती॥ १ ॥

११

पद्धरी—उस पुत्रवधू ने जब अपने पति के इन दुष्ट वचनों को सुना तो उसने गद्गद वाणी में अपनी सासू से पूछा—हे अम्ब! अब आप ही करने योग्य कार्य को कहिए; क्योंकि आपके अतिरिक्त मेरा अन्य कोई दूसरा हितकारी नहीं है। तदनन्तर प्रिय की माता यानि सासू कहती है—तेरे रहते हुए मेरा पुत्र घर में नहीं ठहरेगा; इसलिए शीघ्र ही तू अपने पिता के घर चली जा। हे पापराशे! मुझे अपना मुख मत दिखला। सासू के वचनों को कर्णगत कर, वह लज्जावन्त सती आदेश ग्रहणकर अपने पिता के घर चली गई॥ १.२.३.४.५ ॥

सुखाभिलाषा के पाशरूपी बन्धन का निवारण कर उसने अपने मन में परमर्षि के वचनों को धारण कर लिया। यह नितान्त सत्य है, संसार में सारे प्राणी कर्माधीन होकर नाचते हैं। सच है स्वप्न में प्राप्त हुई सम्पदा पर कौन गर्व करता है? विद्याबल, उद्यम, सुन्दर रूप, सुन्दर गुणवती स्त्री अथवा कामदेव के समान सुन्दर पुरुष ये सब दैव के प्रतिकूल होने पर जीव को क्लेश और दु:ख ही उत्पन्न करते हैं। यह जीव अशुभ लेश्याओं से दु:खी होकर पीड़ित होता है। निश्चित है कोई भी प्राणी कर्मोदय से छूट नहीं सकता, चाहे वह सबल हो या निर्बल है। चाहे वह सामान्य नर हो या अमर॥ ६.७.८.९.१० ॥

जणि दइव परम्मुह दुहु किलेसु, दुह पीडिज्जइ णरु असुह लेसु॥ ९॥
किर कम्म उदइ छुट्टइ ण कोइ, अइ सवलु णिवलु णरु अमरु होइ॥ १०॥
धणु गुण विज्जाण वि सत्ति सारु, सुह कम्म उदइ विणु णिरु असारु॥ ११॥
मइ लद्धु ण संजम सारु धम्मु, णवि भोइ सजोइ गिहत्थ कम्मु॥ १२॥
विणु पुण्ण सया णिरु णर णिरास, णिय मण वंछिय लब्भय ण आस॥ १३॥
मइ पावयम्मि किर किय णियांणु, वउ गिण्हिवि छंडिउ सावहाणु॥ १४॥
दंपइ विजोउ णिंदणु मुणीस, दाणंतराउ संपइ उदीस॥ १५॥
इम विलवंती पीहरि पहुत्त, सा रुलघुलंति गग्गिर गिरुत्त॥ १६॥
हा! कम्म सुहासुह तुज्झ दोसु, संसारि असुंदरु हरिसु रोसु॥ १७॥
इम विलवंती आउल वियप्पि, पिउ माइ पपुच्छइ थाणि थप्पि॥ १८॥
पुत्ती भणु कारण-कज्जु जुत्ति, को तुज्झ पराहउ पुण्ण मुत्ति॥ १९॥
असगाहे पुच्छइ जाम ताइ, ता भणइ कुमरि णिरु सच्च वाइ॥ २०॥
हउं विणु दोसे परहरिय णाह, ण वियाणमि कारणु कोवि ताह॥ २१॥
आइण्णि पियर दुह पूर हीय, पडिवुत्त सुया गहु धम्म लीय॥ २२॥
ण्हवणच्चणु जिण पूया विहाणु, वउ सत्ति सारु करि पत्त दाणु॥ २३॥
सामाइउ किज्जइ तीणि काल, जिम असुह कम्मु तुट्टइ गुणालु॥ २४॥

सोरठा—णिरु सीख सु एह, सा पुत्ती संगहइ मणे।
वउ धारइ देह, सत्त मास गए भत्ति जिणे॥ २॥

दुवई— वुच्चइ कावि णियडि घरि भामिणि, पिय परिहव दुहासिया।
पीहरि वासु ण सुकुल केरओ, वर घरि ससुर दासिया॥ १॥

वह सती विचार करती है—धन, गुण, विज्ञान तथा प्रयोजनभूत शक्ति विशेष ये सभी वस्तुएँ शुभ कर्मोदय के अभाव में निश्चित ही निस्सार हैं। न तो मेरे द्वारा सारभूत संयम धर्म स्वीकार किया गया और न ही मैंने ग्राहस्थिक धर्म सम्बन्धी कमनीय भोगों को भोगा। निश्चय ही पुण्य के बिना प्राणी सदा निराश रहते हैं तथा स्वकीय मनवांछित आशाओं को भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं। लगता है पूर्व जन्म में सावधानीपूर्वक ग्रहण किए गए व्रत पापोदय में निश्चित ही मेरे द्वारा छोड़ दिए गए होंगे, अथवा मैंने कभी किसी दम्पत्ति का वियोग किया होगा अथवा मैंने किसी मुनि की निन्दा की होगी, जिससे सम्प्रति में ऐसा दानान्तराय का उदय हुआ है॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

इस प्रकार दीर्घ नि:श्वास छोड़ती हुई वह गद्गद वाणी में विलाप करती हुई अपने पिता के घर जाने लगी। हाय! शुभाशुभ कर्म, यह तेरा ही दोष है जो यह संसार इतना असुन्दर एवं हर्ष-रोष भरित है। इस प्रकार विलाप करती हुई आकुल-व्याकुल होकर पूछती-पूछती अपने माता-पिता के घर पहुँच गई। हे पुत्री! कारण और कार्य को अर्थात् 'यहाँ क्यों और किसलिए आई हो', युक्तिपूर्वक स्पष्ट कहो। हे पुण्यमूर्ते! किसने तेरा तिरस्कार किया है। इस प्रकार जब वह बाला विशेष आग्रहपूर्वक माता-पिता द्वारा पूछी गई, तब कुमारी नितान्त सत्य बातों को इस प्रकार कहने लगी॥ १६.१७.१७.१९.२०॥

स्वामी ने मुझे बिना किसी दोष के परित्यक्त कर दिया है। हे तात! मैं अपने छोड़े जाने का और अन्य कोई भी कारण नहीं जानती हूँ। पुत्री के वचनों को श्रवण कर माता-पिता का हृदय दु:ख पूरित हो गया। वे कहने लगे—हे पुत्री! धर्म को ग्रहण करो और उसीमें निमग्न हो जाओ। जिनाभिषेक, जिनार्चना, जिन पूजन विधान करो एवं अपनी शक्त्यानुसार व्रत और पात्रों को दान दो। हे गुणवन्ते! तुम तीनों संध्याओं में सामायिक करो जिससे तेरे अशुभ कर्म टूट जाएँगे॥ २१.२२.२३.२४॥

सोरठा—पुत्री अपने पिता की इस शिक्षा को मन में स्वीकार करती है एवं तन से व्रतों को भी धारण कर लेती है। इस तरह जिनेन्द्र की भक्ति करते हुए उसके सात माह बीत गए॥ २॥

दुवई—किसी दिन मृगांकलेखा के महल के निकट की कोई स्त्री आकर उससे कहती है—कुलवती स्त्रियों का पिता के घर में रहना श्रेष्ठ नहीं है। श्वसुर गृह में दासी बनकर रहना श्रेष्ठ है क्योंकि इससे पति का पराभव होता है एवं जग में हँसाई भी होती है॥ १॥

पद्धरी— आइण्णि गिरा सु-मइंकलेह, चिद अंतरि चिंतइ बुद्धि एह ॥ १ ॥
सुहि-दुहि णिवसिज्जइ णाहवासि, तदणंतरि गच्छइ ताह भासि ॥ २ ॥
सा चित्तलेह सहि संगि तासु, णिज गेहि गई मणि धरि दिढासु ॥ ३ ॥
ता तत्थ ण करइ सणेह कोइ, णाहे पडिकूले सुहु ण होइ ॥ ४ ॥
पियमाइ लवहि हे ! णिरु णिलज्ज, किंह महुं दरिसावहि कासु भज्ज ॥ ५ ॥
सासू वयणेसु ससंक कंति, दासी णिधाडि करइ गिहंति ॥ ६ ॥
किर कम्म पराहव कोण छुट्ठ, जिय पाव पुण्ण सिरि धरिय पुट्ठ ॥ ७ ॥
दिढ देइ दारु भासहि हसंत, आकंदि सुणावहि जाइ कंत ॥ ८ ॥
सा कोउ ण करइ सई सयाण, चिंतई मणि कम्मविवउ झाण ॥ ९ ॥
जंपइ परियण सम जिउ हयास, ते विणय वयण अइ दीण भास ॥ १० ॥
तिह कोइ ण करइ दयाल भाउ, होही मह पावी पुव्व पाउ ॥ ११ ॥
तं खणि तह आइउ सेट्ठि सोइ, सुण्हा अवलोइ सलज्जु होइ ॥ १२ ॥
मंदिरि सुंदरि णिय णारि पुच्छि, णिब्भच्छइ णिरु परियण दुगंछि ॥ १३ ॥
गिहदारि णिरारी सुण्ह जत्थ, कुलबहु वण भिंतरि ठाणु तत्थ ॥ १४ ॥
ता सेट्ठिणि पउमा पिय लवेइ, तुव अंगजु तासु ण वासु देइ ॥ १५ ॥
विणु आयर आई सा गुणाल, तिह कारणि तिट्ठइ दारि वाल ॥ १६ ॥
आइण्णि गिरा वइ पर विणाणु, सुय दइय णियडि आइउ सणाणु ॥ १७ ॥
पडिलवइ महुर वाणी विणीउ, हे भद्दि कवणु परिहउ सकीउ ॥ १८ ॥

घत्ता— ताय भणहि कारणु कवणु हउ परिहरिय णिरासिया।
पिदु अवासि हउं ण विरहमि तुम रक्खहु सम दासिया ॥ ११ ॥

दुवई— संजम सारु गहउ जिणदीखसु, महु आएसु दिज्जए।
अहवा जम्मु सहलु सण्णासो, अणसणु करि मरिज्जइ ॥ २ ॥

पद्धरी—तदनन्तर पड़ोसिन की बात सुनकर मृगांकलेखा अपने मन में ऐसी बुद्धि से विचार करती है कि 'सुखी-दु:खी होकर निज पति गृह में निवास करूँगी' और ऐसा ही उस महिला से कहकर अपने मन में दृढ़ता धारण कर मृगांकलेखा अपनी सखि के साथ अपने घर चली गई॥ १.२.३ ॥

इधर पतिगृह में उससे कोई भी स्नेह नहीं करता है। सच है, नाथ के प्रतिकूल हो जाने पर सुख नहीं होता। पति की माता (सासू) कहती है—हे निर्लज्ज! क्या तू मुझे किसी का विनाश दिखलाएगी? सासू के आदेश से चन्द्रकान्ति सदृश चन्द्रलेखा को दासी ने हाथ पकड़कर घर से बाहर निकाल दिया। विनिश्चित्य सत्य है, 'पाप-पुण्य की पोटली को जिसने सिर पर धारण किया है ऐसा कौन है जो कर्म पराभव से छूटा हो?'॥ ४.५.६.७॥

मृगांकलेखा को कठोर लाठी से पीटती हुई पद्मा सासू हँसते हुए कहती है—जा-जा! अपने पति को अपना रोना/दुखड़ा सुना। वह सयानी किसी का भी स्मरण नहीं करती हुई अपने मन में कर्म-विपाक नामक तृतीय धर्म ध्यान का चिन्तन करने लगी। जीवन से हताश वह परिजनों के समक्ष विनीत वचनों से अत्यन्त दीनतापूर्वक कहती है—मैं पूर्व पापोदय से पापी हूँ; फिर भी कोई उस पर दया भाव नहीं करता है॥ ८.९.१०.११॥

उसी समय सेठ सागरदत्त वहाँ आ पहुँचे। पुत्रवधू को (ऐसा दुखित) देखकर लज्जित हो गए। महल के भीतर जाकर अपनी सुन्दरी निज पत्नी से सारा वृत्तान्त पूछा तथा अत्यन्त कठोर वचनों से परिजनों की घृणापूर्वक भर्त्सना करते हुए बोले—जहाँ हमेशा कुल परम्परा से गृहिणियाँ एवं पुत्रवधुएँ रहती आई हैं; वहीं भवन के भीतर कुलवधू मृगांकलेखा को स्थान दो॥ १२.१३.१४.१५॥

वह पद्मा सेठानी अपने स्वामी से बोली—आपका पुत्र इसे यहाँ स्थान नहीं देना चाहता है। यह गुणवती आदर के बिना यहाँ आई है, इस कारण बाला द्वार पर बैठी है। पत्नी के वचनों को सुनकर सुविज्ञ सागरदत्त अपनी ज्ञानवती पुत्रवधू के निकट आए और अतीव विनीत एवं मधुर वाणी में कहने लगे—हे भद्रे! तुम्हारा पराभव किसने किया है?॥ १६.१७.१८॥

घत्ता—हे तात! कौन सा कारण कहूँ जिससे मैं परित्यक्त एवं निराश्रित की गई हूँ। अव मैं पिता के घर नहीं रहूँगी। आप ही दासी के समान समझकर रख लीजिएगा॥ ११॥

दुवई—हे तात! मुझे आदेश दीजिए, ताकि मैं संयम ही है सारभूत जिसमें; ऐसी जिन दीक्षा को ग्रहण करूँ। जीवन को संन्यास से सफल करूँ अन्यथा मैं अनशन करके मर जाऊँगी॥ २॥

पद्धरी— सो सिट्ठ दयाणिहि भणइ पुत्ति, आवासि रहहि णिरु धम्म जुत्ति ॥ १ ॥
तहिं अण्ण ठाणु मंदिरु वि चत्तु, समधाइ समप्पिउ इक्कु खित्तु ॥ २ ॥
तिहिं आण पडिच्छहि सयल दासि, वर असणु वसणु पूरहि णिवासि ॥ ३ ॥
दिणि-दिणि जिणपूय विहाण भत्तिं, वय भय णिदाय णिदाण सत्ति ॥ ४ ॥
सा संजम सील कला विणीय, सग वरिस गए सुह झाणि तीय ॥ ५ ॥
एत्थंतरि राउ अवंतिसेणु, अरि महिवइ चिडयहु पच्छिवेणु ॥ ६ ॥
सो चल्लिउ उवरि णरिंद भीम, तह लाड विसय अइ विसम सीम ॥ ७ ॥
सेंत्तुजय णयरि णं वीय सग्गु, णरवइ आवाहइ भिच्च वग्गु ॥ ८ ॥
तदणंतरि सायरचंदु वुत्तु, महु सम चल्लहि सु-समग्गि जुत्तु ॥ ९ ॥
तुहु साम णीय दंडण रु भेय, चउरुवि विभाणहि विहि अणेय ॥ १० ॥
इम भासिवि सज्जिउ वीडु देइ, घरि आइ पियर वइयरु लवेइ ॥ ११ ॥
तुरमेव कडय सामग्गि सज्जु, मित्तहु हंक्कारि पवुत्तु कज्जु ॥ १२ ॥
दह दिण आउल पिउ माइ आउ, भिच्चहु दिज्जइ णिरु वहु पसाउ ॥ १३ ॥
विस मेस करह गय तुरय सत्थु, रह सज्जु समग्गी गमण वत्थु ॥ १४ ॥
सु-मुहुत्ते चल्लइ जाम वालु, जणणी पय पंकय णाइ भालु ॥ १५ ॥
पत्थाण सुमंगल चारु कीय, दहि दुव्वक्खय ससितिलउ दीय ॥ १६ ॥
ता चिंतइ चित्ति मइंकलेह, अइ हरिस पूरि पुलयंकि देह ॥ १७ ॥
संभासणु दरसणु अज्जु णाह, णिच्छइ लहु लब्भइ गमणु तांह ॥ १८ ॥
मणि ठाणि करिवि सिंगारु सव्वु, लइ मंगल कलसु दिवंत भव्वु ॥ १९ ॥

घत्ता— जा गच्छइ सुच्छइ ससि वयणी, ताम तडत्ति सुछिक्किओ।
उरु कंपइ संपइ हरिस भरु, दाहिणु अंगु फरिक्किओ ॥ १२ ॥

दुवई— चिंतइ ताम तत्थ गय गामिणि, पिय संगमु ण सीसए।
अहवा जइ ण जामि पिय सम्मुह वल्लहु पुणु किं दीसए ॥ ३ ॥

१३

पद्धरी—वे दयानिधि श्रेष्ठी कहते हैं—हे पुत्री! धर्म ध्यान करती हुई अपने घर पर ही रहो; अन्य स्थानों एवं मन्दिरों को छोड़कर एक ही स्थान पर समर्पित होकर साम्य-भाव धारण करो। सकल दासियाँ आपकी आज्ञा स्वीकार करेंगी तथा उत्तमोत्तम भोजन और वस्त्राभूषणों से आपके आवास को भर देंगी॥ १.२.३॥

'व्रत दूषित न हो' इस भय से ज्ञान युक्त हो, वह विशेष संकल्प शक्तिपूर्वक प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधि से सभक्ति जिन पूजन करने लगी। इस तरह उस संयम शीला, कला-विज्ञा, विनीता-सती के शुभ ध्यान सहित सात वर्ष बीत गए॥ ४.५॥

अथानान्तर लाडदेश में जहाँ की सीमाएँ अत्यन्त विषम थी तथा जहाँ की शत्रुंजय नगरी ऐसी लगती थी; मानों दूसरा स्वर्ग ही हो। वहाँ का भीम नाम का राजा था। अपने इस शत्रु राजा पर अवन्तिसेन आक्रमण के लिए वैसे चल पड़ा; जैसे पक्षिराज गरुड़ चिड़ियों पर झपट्टा मारता है, सो इस कार्य के लिए नृपति भृत्य वर्ग का आह्वान करता है। प्रजापालक राजा अवन्तिसेन सागरचन्द्र से कहता है—युद्ध की सामग्री एकत्रित कर मेरे साथ चलो, क्योंकि तुम साम, दाम, दण्ड और भेद रूप चारों नीतियों के अनेक भेदों को भली-भाँति जानते हो? ऐसा कहकर राजा ने युद्ध के निमित्त सजा हुआ बीड़ा उसे दे दिया। बीड़ा लेकर सागरचन्द्र अपने घर आया और पिता को सारा वृत्तान्त कह सुनाया॥ ६.७.८.९.१०॥

सागरचन्द्र ने शीघ्र ही कटक/सैन्य सामग्री सजवाई और इस पवित्र कार्य के लिए अपने मित्र को बुलवा लिया। इस समाचार से कुमार के माता-पिता व्याकुल हो गए, उन्होंने दस दिनों तक विपुल मात्रा में भृत्यों को प्रसाद वितरित किया। वृषभ, मेढ़ा, ऊँट, गज, अश्व, शस्त्र, रथ तथा युद्ध प्रस्थान की सारी वस्तुएँ संजोयी जाने लगीं। कुमार ने शुभ मुहूर्त में जब युद्ध के लिए प्रस्थान किया तब माता-पिता के चरण-कमलों में अपना मस्तक नवाया है अर्थात् उन्हें प्रणाम करता है। गमन के समय सुन्दर मंगलाचार किए जाने लगे। सागरचन्द्र के भाल पर दूर्वा और अक्षतों से चन्द्राकार तिलक लगाया गया॥ १२.१३.१४.१५॥

इसी बीच अत्यन्त हर्ष से भरी हुई होने के कारण रोमांचित हो गई है देह जिसकी; ऐसी वह मृगांकलेखा मन-ही-मन विचार करती है, 'आज युद्ध प्रस्थान के समय निश्चित ही अल्प समय के लिए ही सही मुझे स्वामी के दर्शन एवं उनसे सम्भाषण का अवसर प्राप्त होगा।' ऐसा मन में ठानकर उसने सारा श्रृंगार कर दैदीप्यमान भव्य मंगल कलश ले लिया॥ १७.१८॥

घत्ता—हर्ष रूप सम्पदा से भरा हुआ जिसका हृदय काँप रहा था तथा दाहिना अंग फड़क रहा था ऐसी पूर्ण चन्द्रमुखी मृगांकलेखा सती जैसे ही पति की ओर जाने लगी, वैसे ही उसे तड़ाक से छींक हो गई॥ १२॥

दुवई—वह गज-गामिनी वहीं उसी समय विचारने लगी, 'मेरे भाग्य में प्रिय का संगम नहीं है और यदि अभी मैं अपने प्रिय के सम्मुख नहीं जाती हूँ; तो पुनः प्राण-वल्लभ का दर्शन कैसे होगा?'॥ ३॥

गाथा—महिणाह समाएसे, महु-णाहो अज्ज वच्चही कडए।
पच्छा परमुंह पिऊ, पिच्छस्सं णेव णिय दइयं॥ १७॥

जम्मंतर कय दुक्किय, महिमाए परंमुहो जइवि णाहो।
सुविणंतरेवि तह विहु एसो चिय पिय इमो मज्झ॥ १८॥
तत्तो जत्ता समए, अणालवंतो वि पिच्छिउं दयिओ।
देसंतर पत्ताणं, को जाणइ केरिसं होही॥ १९॥

इय चिंतिय णिय चित्ते, सत्थं कियऊण चित्त लेहाए।
सहिया सहिए तीए, सायरचंद तियं पत्ता॥ २०॥

णिच्चं वज्जिय कज्जल, उज्जल णयणा विसुद्ध वरदसणा।
हरिचंदण पंकाविल, वसणा विगलंत मणिवलया॥ २१॥
मोत्तियमित्ता भरणा, रंभव्व तक्काल महण उविण्णा।
तण खीणा गउरीविव, गंगुव्वं जुगंत परिहीणा॥ २२॥

चित्त व णिच्चल चित्ता, थंभावट्ठंभ धरिय णिय देहा।
रयणमय सालभंजिया, सोहं सहसा सहंति व्व॥ २३॥

सूसंता हर पत्ता, समी व पत्ता वि कहमविचिरेण।
कज्जंतर सज्जेणं, सायरचंदेण सा दिट्ठा॥ २४॥
णिय परियंण वावारणं, संभासण वाउलो वि तं दट्ठुं।
मुह थंभ णिविंज्जंपि, व सहसा मोणं समल्लीणो॥ २५॥

णिय पिय कम कमलेसु, पडिऊण पइंपए एओ मुद्धा।
किं कज्जं णिय भज्जं विलवंतमुवेहसे सुहया॥ २६॥

भव सय संचिय दुक्किय, हयाए महु णाह तुह मणे कोवि।
दोसो वसिओ तेणं भत्तं रत्तं पि मां चयसि॥ २७॥

वहुएसु वि वरिस मासे, गयए संकप्पियस्स दोसस्स।
ण कया तए परिक्खा, पिच्छह मह पाव परिमाणं॥ २८॥
एगत्थ वसंताविहु, तुह गुण-गण सवणऊ ससंतावि।
दिट्ठीइ वि णवि अहं यं तुम एसं भासिया कहवि॥ २९॥

गाथा—भूपति के आदेश से मेरे स्वामी आज ही शिविर की ओर चले जाएँगे, पश्चात् पराङ्मुख प्राणेश्वर को नहीं देख पाऊँगी॥ १७॥

पूर्व जन्म में किए गए दुष्कृत्यों की महिमा से यद्यपि नाथ पराङ्मुख हैं तथापि स्वप्न में भी मेरे लिए तो 'ये' ही प्रिय हैं, इसलिए यात्रा के समय बिना बोले ही स्वामी का दर्शन कर लूँगी; क्योंकि देशान्तर चले जाने पर कौन जानता है क्या होगा?॥ १८.१९॥

अपने चित्त में ऐसा विचार कर चित्रलेखा सखि को साथ लेकर वह सखि सहित सागरचन्द्र को प्राप्त हुई अर्थात् उनके निकट पहुँची॥ २०॥

नित्य ही काजल के परित्याग से जिसके नेत्र उज्ज्वल थे। ताम्बूलादि का सेवन नहीं करने से जिसके दन्त स्वच्छ/विशुद्ध एवं श्रेष्ठ थे। हरिचन्दन के लेप से जिसके वस्त्र मलिन हो रहे थे। जिसके कर-कंगनों से मणि टूट-टूटकर निकल गए थे तथा जो मात्र मोतियों के आभूषण धारण किए थी ऐसी वह मृगांकलेखा उस समय ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों महासमुद्र से तत्काल रम्भा ही उतर आई हो, अथवा तप से क्षीण हुई गौरी हो अथवा प्रलयकाल में प्रक्षीण हुई गंगा हो॥ २१.२२॥

चित्र के समान निश्चल चित्तवाली उस चन्द्रलेखा ने अपने शरीर को खम्भे के सहारे टिका रखा था। जिससे वह ऐसी लगती जैसे यकायक उसने रत्नमय पुत्तलिका (शाल भंजिका) की शोभा को धारण कर लिया हो॥ २३॥

जिसके हरे-हरे पत्र सूख गए हैं ऐसी शमी-लता के समान वह बाला जिस किसी प्रकार शीघ्र ही अपने स्वामी के समीप पहुँची तथा जो अन्य किसी कार्य के लिए तैयार था ऐसे सागरचन्द्र के द्वारा वह देखी गई। स्वकीय परिजनों के साथ सम्भाषणादि क्रियाओं में संलग्न सागरचन्द्र ने उसे देखा तो मुँह स्तंभित/(बन्दकर) गर्व युक्त निर्वेद (विरक्त) सा हो सहसा मौन हो गया॥ २४.२५॥

अपने प्रिय के चरण-कमलों में गिरकर उस मुग्धा ने कहा—हे सुभग! किस कारण विलखती हुई अपनी भार्या की उपेक्षा कर रहे हो॥ २६॥

हे नाथ! सैकड़ों जन्मों द्वारा संचित दुष्कृत्यों से मारी गई मुझ अभागिनी के प्रति आपके मन में अवश्य ही कोई 'दोष' निवास कर रहा है जिसके कारण हे भर्ता! तुम अनुरक्त होते हुए भी मुझे छोड़ रहे हो॥ २७॥

अनेक वर्ष और अनेक माह बीत जाने पर भी मेरे संकल्पित दोष की आपके द्वारा परीक्षा नहीं की गई। हा! मेरे पाप के परिणाम को तो देखो। एक स्थान पर निवास करती हुई आपकी गुणावली को श्रवण कर मैं श्वांस धारण करती थी, फिर भी मैं 'तुम्हें दिखलाई न दूँ', ऐसा आपने किसलिए कहा था॥ २८.२९॥

इह पुणु जत्ता समए, तुमए संभासणइ सविसेसं।
दासीण विणिम्मवियं, एक्का मुक्का अहं पावा॥ ३०॥

खेमेण तह वि वच्चसु, मग्गा तुह हुंतु सिवकरा सव्वे।
आगच्छसु पुणु हत्थं पुणरवि मह-हवसु दिट्ठिपहे॥ ३१॥
इय तं जंपंति चिय अवगण्णिय णमिय जणणि जणयण्णि।
चलिउ समित्तु जुत्तो, अवर कडयंव पयडंतो॥ ३२॥

दइयावमाण तक्खण, सइ गुणु विरहग्गि जलिय सव्वंगं।
जल भिण्ण भित्ती इव, गंतुं सयणम्मि सा पडिया॥ ३३॥

दोहा— पिय वियोग अति दुखु धरइ, करइ अपार विलापु।
मूर्च्छित हुइ धरणी पडइ, विविध करइ संतापु॥ ३॥
पिय पिय करती इउं लवइ, अवला सुकुल सलज्ज।
अणवोलिउ वल्लभु चलिउ, प्राण रहइं किह कज्ज॥ ४॥
विणु अपराध जु हउं तजी, मरणु भला असि घाइ।
दिग भरि णाह ण णिरषिया, अब मुहि आस ण थाइ॥ ५॥
पिय दरसन हिति हउ गई, मंगल कलसु सु साजि।
दइया णेह णिवारिया, अब जीवणु किह काजि॥ ६॥

मोह जालु महि दिन गए, णवि व्रतु णवि घर वासु।
मालति केरे फूल जिउं, णिरु णिफलु वणिवासु॥ ७॥
एक अंग कउ नेहडा, भूलि करउ मति कोइ।
जलु मूरिषु मानइ नहीं, मीन मरइ तनु खोइ॥ ८॥
एक अंग कौ नेहडा, मुणइ न मूढ पतंगु।
दीपग कै भावइ नही, जदिपि जरावइ अंगु॥ ९॥
सीलु सभालइ कुलवधू, सति य चिता चितुदीय।
रूपरासि वर भामिणी, जरइ अंध-सम दीय॥ १०॥

घत्ता— ता धाइ पइंपइ, णिय तणि कंपइ पुव्व सूरि आयसि लवए।
पुत्ती ण वियाणहि णिय मणि ठाणहि, कम्म उदइ सुह दुह हवए॥ १३॥

अब इस युद्ध यात्रा के समय मैं आपसे विशेष बात कहना चाहती हूँ, 'मुझ पापिनी को अकेला मत छोड़िए'॥ ३०॥

इसे दासी बनाकर कुशल-क्षेम पूर्वक जाइए। आपका सारा मार्ग शिवंकर हो। कल्याणमय हो। आप अतिशीघ्र लौट आइए तथा पुनरपि मेरे दृष्टि पथ में आइए अर्थात् मुझे अपना दर्शन दीजिए। इस प्रकार प्रार्थना करती हुई उस सती का निरादर करता हुआ कुमार माता-पिता को प्रणाम करके मित्र सहित कटक की दूसरी ओर प्रकट होता हुआ चल पड़ा॥ ३१.३२॥

पति कृत अपमान से तत्काल ही उसका सर्वांग विरहाग्नि से सौ गुना होकर जलने लगा। जल के कारण टूटी हुई भित्ति की भाँति वह बाला सेज पर जाकर गिर पड़ी॥ ३३॥

दोहा—प्रिय के वियोग से वह अतीव दुःखी हो अपार विलाप करने लगी। मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ी एवं अनेक प्रकार से संतापित हो उठी। वह कुलवती लाजवन्ती अबला; हे प्रिये! हे प्रिय! शब्द करती हुई इस प्रकार कहने लगी—'मेरे प्राण-बल्लभ बोले बिना ही चले गए, अब मेरे ये प्राण किसलिए ठहरे हैं?' 'मैं बिना किसी अपराध के छोड़ी गई हूँ' इस अपमान से तो तलवार के घात से मर जाना श्रेष्ठ है। मुझे स्वामी ने नयन भरकर भी नहीं देखा, अब मुझे कोई आशा नहीं है। मैं तो मंगल कलश सजाकर प्रिय का दर्शनार्थ गई थी, परन्तु जब प्राणेश्वर ने ही स्नेह छोड़ दिया तब जीवन से क्या प्रयोजन?॥ ३.४.५.६॥

मेरे तो मोह जाल में ही दिन निकल गए। न तो मैंने व्रत धारण किए और न ही गार्हस्थिक सुख प्राप्त किया। मेरी दशा तो वैसी ही हुई जैसे जंगल में मालती के फूल नितान्त निष्फल हैं। एक-एक इन्द्रिय का स्नेह भूलकर भी कोई न करे (पक्ष में एकांगी स्नेह नहीं करना चाहिए) देखो जल मूर्खा यानी जल से स्नेह करनेवाली मीन मानती नहीं है और जल में ही भरकर अपना तन खो देती है। एक अंग अर्थात् चक्षु-इन्द्रिय से स्नेह करनेवाला मूढ़ पतंगा नहीं जानता कि मैं दीपक को सुहाता नहीं फिर अपना शरीर जला देता है। कुलवधू चिता में प्राण देकर सती हो जाती है; परन्तु अपने शील को नहीं छोड़ती। शील की रक्षा करती हैं, उसे सँभालती हैं। रूप की राशि स्वरूप वे सुन्दर और श्रेष्ठ नारियाँ अग्नि में वैसे ही जल जाती हैं जैसे अन्धा दीपक से जल जाता है॥ ७.८.९.१०॥

भावार्थ—जैसे अन्धे व्यक्ति को दीपक का कोई महत्त्व नहीं है, दीपक के सामने रहते हुए भी वह जल जाता है वैसे ही रूप की राशि स्वरूप श्रेष्ठ नारियों के समक्ष रूप का कोई महत्त्व नहीं है, वे कुल वधुएँ सतियाँ चिता में चित्त/प्राण देकर भी अपने शील को सँभाल/बचा लेती हैं।

घत्ता—मृगांकलेखा पति के पीछे दौड़ती है। उसका सारा अंग काँपता है। इसी बीच पूर्वोक्त निमित्तज्ञानी चन्द्रसूरि आकर कहते हैं—हे पुत्री! नहीं जानती हो, यह तथ्य अपने मन में निश्चित करो कि 'सुख और दुःख' कर्मोदय से ही होते हैं॥ १३॥

दुवई—इंद णरिंदचंद विज्जाहरे चक्की जिण हरि हलहरा।
कम्म विवाउ उदय णिरु भुंजइ सो यहु कम्मुधरा वरा॥ ४॥

१४

पद्धरी— ता चंदरेह चिंतइ मणम्मि, मण वंछिउ सुहु ण हवइ जणम्मि॥ १॥
विसयहुं सुह अति असारु सव्व, संसारि रमइ को णियउ भव्वु॥ २॥
धणु जुव्वणु जीवणु संझ-राउ, पिय पुत्त कलत्तसु सिविण भाउ॥ ३॥
विणु अप्प ण अप्पणु अवरु कोइ, बहिरप्पा पुग्गलि दमइ सोइ॥ ४॥
इय जाणि मरउ संण्णास जुत्ति, ता धाइ निवारइ णिसुंणि पुत्ति॥ ५॥
अणसण विहि करहिं दुही सु-अत्ति, दुग्गइ कारणु दुइ झाण सत्ति॥ ६॥
आइण्णि सई ससिलेह जत्थ, जिणपडिमा पुरउ सुथाइ तत्थ॥ ७॥
अणसणु सायारी एयदेसु, गिण्हइ मणि धारि पज्जएसु॥ ८॥
महु णाहु गहइ करु इत्थु लोइ, पारणउ कराव झत्ति सोइ॥ ९॥
अण्णारिसु अणसणु मज्झ जम्मि, भवियव्वु सयलु णिरु घडइ कम्मि॥ १०॥

पण गुरु परमक्खरु जवइ मंतु, जिण आइणाह गुणगण सरंतु॥ ११॥
अइ हरिसि लवइ जय मालवाल, कलयंठि कंठ वाणी रसाल॥ १२॥
जिण णामे णासइ अह किलेसु, सुह गइ पडिवज्जइ सुद्ध लेसु॥ १३॥
मइ अंधु ण जाणइ धम्म झाणु, कउसिय सिसु मुणइ ण उयउ भाणु॥ १४॥
जिणभत्ति लहइ णरु राइरिद्धि, पंचम गइ पावइ भाव सुद्धि॥ १५॥
सासण देवी णिरु मणि धरीय, आसणु कंपिउ चक्केसरीय॥ १६॥
सइ संजम सील पवित्त एह, णिरु सरिय अवहि दुहु चंदलेह॥ १७॥
सा पिय वियोइ दुहु धरइ णारि, दइयउ तिट्ठइ किर खंधवारि॥ १८॥
ता आइ सुरी जह उवहिचंदु, सा खंधवारि ठियउ अतंदु॥ १९॥
तह अद्धरयणि आकंदमाणु, आइण्ण साइरससि सयाणु॥ २०॥
हा रोवइ तारसरेण अत्ति, वुज्झिज्जइ जाइ दुहत्त पत्ति॥ २१॥
सम मित्त चलइ खणि खग्गु लेई, दाहिणउ अंगु लोइणु फुरेइ॥ २२॥
मण भिंतर चिंतइ कवणु कज्जु, वल्लह वियोइ संजोउ अज्जु॥ २३॥
इउ जंपइ मित्त णिमित्तणाणु, सो भासइ सीसइ सुह पमाणु॥ २४॥

दुवई—इन्द्र, नरेन्द्र, चन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती, जिनेन्द्र, विष्णु/नारायण एवं हलधर अर्थात् बलभद्र सभी कर्म फल को भोगते हैं। सत्य है यह 'कर्म' ही इस धरती पर सर्वश्रेष्ठ/बलवान है॥ ४॥

१४

पद्धरी—चन्द्रलेखा मन में विचार करती है, इस संसार में मनवांछित सुख नहीं मिलता। ये सारे सांसारिक वैषयिक सुख अत्यन्त निस्सार है। कौन आसन्न भव्य इस संसार में रमण करेगा। धन, यौवन, जीवन सब सांध्य राग की भाँति क्षण भंगुर हैं। पति, पुत्र, कलत्र सब स्वप्न वत् अस्थिर हैं। अपनी आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा अपना नहीं है। जो पौद्गलिक पदार्थों में प्रीति करता है वह बहिरात्मा है। मैं संन्यास पूर्वक मरण करूँगी और ऐसा सोचकर वह संन्यास हेतु चल पड़ी। मृगांकलेखा की ऐसी बात सुनकर निमित्तज्ञानी रोकते हैं। हे पुत्री! इस तरह की गई अनशन विधि जीव को दुःखी एवं पीड़ित करती है क्योंकि दुर्ध्यान की शक्ति दुर्गति का ही कारण होती है॥ १.२.३.४.५.६ ॥

चन्द्रसूरि नैमित्तिक के विवेकपूर्ण कथन को श्रवणकर वह सती जहाँ जिनप्रतिमा विराजमान थी उन्हीं के समक्ष जाकर अच्छी तरह से बैठ गई। उसने श्रावक के एक देश व्रत रूप अनशन को ग्रहण कर लिया एवं मन में ऐसा संकल्प कर लिया जब मेरा पति मेरा हाथ पकड़कर सबके समक्ष मुझे पारणा कराएगा तब ही भोजन करूँगी अन्यथा मेरा आजन्म अनशन है अर्थात् चारों प्रकार के आहार खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय का त्याग है। उसकी ऐसी प्रतिज्ञा जान सकल भव्यजन उसके इस भव्य कार्य में सहयोग देते हैं॥ ७.८.९.१० ॥

वह बाला पंचगुरु वाचक परमाक्षर (नमस्कार) मन्त्र का जप करती है तथा आदिनाथ जिनेन्द्र के गुण-समूह का स्मरण करती हुई अत्यन्त हर्ष भाव से वह कोकिल कण्ठी मधुर भाषिणी अपनी मधुर वाणी से जयमाला गाती है। जिनेन्द्र भगवान् का नाम पाप और क्लेशों को नष्ट करता है। भावों को शुद्ध करता है। जिससे शुद्ध लेश्या होती है और शुद्ध/शुभ लेश्या से जीव शुभ गति में पहुँचता है। मोह में अन्धी मैंने धर्म ध्यान को नहीं जाना, सच है कौशिक शिशु (उल्लू का बालक) उदित होते सूर्य को नहीं जानता। जिनेन्द्र भक्ति से मनुष्य राज-ऋद्धियों को प्राप्त करता है और भावों को शुद्ध कर पंचम सिद्ध गति को पाता है॥ ११.१२.१३.१४.१५ ॥

इस प्रकार चिन्तन करती हुई मृगांकलेखा ने आदिनाथ प्रभु की शासन देवी चक्रेश्वरी को मन में स्थापित किया। उसका आसन काँप उठा, उसने अवधिज्ञान का स्मरण किया और जाना, यह 'शशिलेखा सती' संयम और शील से पवित्र होते हुए भी दुःखी है। यह नारी पति-वियोग से दुःखी है और इसका पति स्कन्धावार (छावनी) में अवस्थित है। वह चक्रेश्वरी जहाँ सागरचन्द्र ठहरा था वहाँ आई एवं वहीं स्कन्धावार में निष्प्रमाद हो ठहर गई। छावनी के समीप अर्ध-रात्रि में आक्रन्दन करती हुई वह 'सुरी' चतुर सागरचन्द्र द्वारा सुनी गई। दर्द भरे उच्च स्वर में हा! हा! कार पूर्वक रुदन करती हुई वह ऐसी जानी जाती थी मानों वास्तव में ही अत्यन्त दुःखी हो। पलक झपकते ही सागरचन्द्र मित्र सहित हाथ में तलवार ले जैसे ही चलने लगा, ठीक उसी समय उसका दाहिना अंग और दाहिना नेत्र फड़कने लगा। मन-ही-मन सोचता

घत्ता— तत्थाइ लवइ हे अंवि सुणु, किह कारणि आइंद्दहे।
दुह कारणु भासहि अप्पणओ, मण संकप्पु णिकंदहे॥ १४॥

दुवई— भासइ णारि हउं सुवर खेयरि, णव जुव्वण सयत्तिया।
सुंदरि रुव रासि अमरी समो, गोमुहखयर पत्तिया॥ ५॥

१५

पद्धरी— महु णाहु गइउ णिव खंधवारि, करि पाणिगहणु हिय पिय णिरारि॥ १॥
संभासणु दरिसणु परिसु जासु, अलहंती हउं दुक्खे सयासु॥ २॥
आइंदमाण सो इत्थु आउ, विणु अवराहे हउ तजि सपाउ॥ ३॥
गउ दूरि दिसंतरि णाहु मज्झु, यहु वइसरु वप्प सुणहि असज्झु॥ ४॥
हिय-देह-वयण-कर-कम सुसोह, हा वंचवि णिट्ठुर होंति गोह॥ ५॥
हा विहिय विहिय सुणर सयाण, णारी णिरु अवला ते अयाण॥ ६॥
मुद्धा तिय लवहि सयाण सव्व, णिद्दय णर णिट्ठुर सयल भव्व॥ ७॥
अइराउ पढम सुंदरु णहंतु, रवि जेम ताउ उग्गुगु महंतु॥ ८॥
दूरे वंदिज्जइ बाल भाणु, सुअदंसणीउ णरुवर सयाणु॥ ९॥
पहरण पहरणु किर काल रुअ, णिरु पाणहारि सुंदरु सरु॥ १०॥
णर सयल सया अहकारि वीर, विस्सासयारि गमु दुगय धीर॥ ११॥
किं बहुणा उत्ति अहम्मकारि, विणु अवराहे अणुकूल णारि॥ १२॥
ता कुमरु भणइ सुणि सावहाणु, णर णारि ण सव्वह इगु पमाणु॥ १३॥
किं पाहण मणि-सम लवहि भद्दि, खलि-कत्थूरी गुणु भिण्ण सद्धि॥ १४॥
किं कंक-मराल ण एगु वण्णु, वाइस-कलइंट्ठि सरुव सण्णु॥ १५॥
महुरउ महुरउ सद्दिज्जमाणु, ण वियाणहि पोसण हरण पाणु॥ १६॥
कंचण धत्तूरहु कणय उत्ति, सद्दिज्जइ होइ ण एग मुत्ति॥ १७॥
णर णारि सयल किं लवहि इक्क, कर साहण साही साह टिक्क॥ १८॥

है 'क्या बात है ?' क्या आज वियोगी वल्लभा का मिलाप होगा ? और इसी बात को मित्र से कह दिया। मित्र बोला—निमित्तज्ञान कहता है 'आपके भाग्य में प्रत्यक्ष सुख है'॥ १६.१७.१८.१९.२०.२१.२२.२३.२४॥

घत्ता—वहाँ (जहाँ देवी आक्रन्दन कर रही थी) आकर सागरचन्द्र कहता है—हे अम्ब! सुनो; आप किसलिए आक्रन्दन कर रही हो। अपने दु:ख के कारण को कहो, जिससे मन के संकल्पों/दु:ख कारणों का उन्मूलन हो सके॥ १४॥

दुवई—वह स्त्री कहती है, मैं नव यौवन सम्पन्ना श्रेष्ठ विद्याधरी हूँ। मैं रूप की राशि देव कन्या के समान हूँ। गोमुख नामक विद्याधर मेरा पति है॥ ५॥

१५

पद्धरी—मेरा स्वामी पाणिग्रहण कर हृदय की प्रीति को तोड़कर राजा के कटक में चला गया। नाथ का दर्शन, स्पर्शन एवं सम्भाषण प्राप्त नहीं होने से मैं दु:खी हूँ, इसीलिए रोती हुई यहाँ आई हूँ। उसी पापी के द्वारा मैं निरपराध ही छोड़ दी गई हूँ। मेरा नाथ दूर-देशान्तर चला गया है। हे तात! सुनिए, मेरे असाध्य दु:ख का यही वृत्तान्त है॥ १.२.३.४॥

हा! पुरुष; हृदय, शरीर, मुख, हाथ और पैर इन पाँचों से सुन्दर होते हुए भी निष्ठुर एवं ठगिया होते हैं। हाय विधाता ने पुरुषों को तो श्रेष्ठ और सयाना बनाया है तथा नारी को अबला एवं अज्ञानी। सारे चतुर पुरुष स्त्रियों को मुग्धा/भोली-भाली कहते हैं, जबकि निर्दय और निष्ठुर होते हुए ये सारे पुरुष भव्य कहलाते हैं। उष:कालीन बाल सूर्य दूर से ही वन्दनीय होता है, क्योंकि जब वह आकाश क्षितिज पर उदित होता है तब प्रारम्भ में अत्यन्तारुण लाल सुन्दर लगता है किन्तु कुछ समय पश्चात् उसका प्रताप उग्र-उग्र होते-होते महाप्रचण्ड हो जाता है जिससे वह दर्शनीय नहीं होता अर्थात् उसकी ओर देखना असम्भव हो जाता है। उसी प्रकार पुरुष प्रारम्भ में तो अतीव-अनुराग युक्त सुन्दर लगते हैं, पश्चात् वे ही पुरुष सयाने हो जाने से प्रचण्ड प्रभाकर की तरह अदर्शनीय हो जाते॥ ५.६.७.८.९॥

अस्त्र-शस्त्रों से प्रहार करते समय ये पुरुष 'काल' स्वरूप होते हैं, क्योंकि सुन्दर स्वरूपवानों के प्राणों का भी हरण कर लेते हैं। समस्त वीर-पुरुष सदा पाप कर्म में वीर होते हैं तथा धैर्यशील विश्वासकारी प्राणियों को दुर्गति में ले जाती है। पक्ष में वीर पुरुष अधिकारी होते हैं। अपने अधिकार बल से धैर्यशील विश्वासकारी की दुर्गति/दुर्दशा करते हैं इन अधर्मियों के विषय में अधिक कहने से क्या ? इतना सुनते ही कुमार बोला—सावधान! सुनिए, सभी स्त्री-पुरुष एक समान नहीं होते ?॥ १०.११.१२.१३॥

हे भद्र! क्या पत्थर और मणि को एक जैसा कहोगी ? क्या 'खलि' और कस्तूरी इन शब्दों के भिन्न-भिन्न गुण नहीं हैं ? क्या बगुला और हंस, काक और कोयल एक समान, एक वर्ण, एक संज्ञा के होते हुए मधुर-मधुर ध्वनि किए जाने पर पृथक्-पृथक् नहीं जाने जाते ? क्या सोना और धतूरा एक ही 'कंचन' शब्द से नहीं कहे जाते; परन्तु क्या वे एक जैसे हो जाते हैं ? क्या उनके पोषण और प्राण हरण जैसे गुणों को नहीं जानती ? कंचन प्राणों का पोषण करता है और धतूरा प्राणों को हर लेता है। सभी स्त्री-पुरुषों को एक जैसा

तदणंतरि लवइ सुरी सयाण, किं झंखहि जड णिग्गुण अयाण॥ १९॥
तहुं अप्पणु मुणहि ण सुट्ठु दुट्ठु, अविवेई अवगण गारु जुट्ठु॥ २०॥
पइ भामिणि छंडि णिरावराहि, अहुणा किंवा गहि सुमइ सांहि॥ २१॥
तुहुं कुमइ किया सोह ण पवीणु, सइ णारि पराहव पाव लीणु॥ २२॥
तव पिय चिंतइ मरणहु उवाइ, सण्णास किया णिरु तत्थ थाइ॥ २३॥
ता कुमरु पइंपइ लवहि माय, पइ मुणिय सयल किंम सच्चवाय॥ २४॥
ता चक्केसरि करि पयड रुउ, भासइ अप्पणु विहि तिय सरुउ॥ २५॥
अज्जु जि जाइज्जइ णिय अवासि, संतोसहि भामिणि महुरु भासि॥ २६॥
ता कुमरु लवइ तम रयणि अज्जु, चल्लमि पहाइ करि गमण कज्जु॥ २७॥

घत्ता— ता अमरी दिण्णउ गुण संकिण्णउ गयण गमण गुडिअउ कुमरा।
चक्केसरि वंदिवि अप्पणु णिदिवि लहु गच्छउ भणिय वरा॥ १५॥

दुवई— अमरी झत्ति जाइ णिय ठाणसु, वणि सुअ हुव गहिल्लउ।
मोहे घित्तु मुच्छि धरणि वडिउ, हा मइ किय ण भल्लउ॥ ६॥

गाथा—वज्जमइ माणसेणं आदिट्ठो दोसा वि दीह रोसेण।
जेण मए सा चत्ता रेहामेतस्स अहमेसु॥ ३४॥

इय चिंतिय णिय चित्ते, अत्थं सहि य णियया मित्तस्स।
सो आह साहु साहु, साहु तए चिंतियं चित्ते॥ ३५॥

एत्तिय दिणाणि एसा णिद्दोसा जं तए वि परिचत्ता।
अज्ज वि ण मरइ तं खलु, मण्णे तुह पुण्ण माहप्पं॥ ३६॥

ण मरइ जो वराई, जुज्जइ आसासिउ इमा ताव।
अज्ज तए परिचत्ता पाणेहिं चइस्सए नूणं॥ ३७॥

खण मित्ते सम मित्तं मइंकलेहाइ भवणि संपत्ता।
सारय मइंक धवलं, धवलहरं भुवण मण हरणं॥ ३८॥

घण णीसास झल्लुकिय, मणिमय वर भित्ति भंजिया णिवह।
उण्हंणह वाह जल भर, णिवाइ सय गुणिय हियय संतावं॥ ३९॥

क्यों कहती हो? क्योंकि करसाधन/हस्तरेखा अर्थात् सामुद्रिक लक्षणों के द्वारा राजा और रंक की पहचान होती है॥ १४.१५.१६.१७.१८॥

तदनन्तर वह चतुर देवी कहती है—हे मूर्ख, निर्गुणी, अज्ञानी, क्यों बकवाद करते हो? ओ अविवेकी! अवगुणी!! झट्ठे!!! अपने भले-बुरे को क्यों नहीं जानते? अपनी निरपराध पत्नी को छोड़कर क्या आज सुबुद्धि ग्रहण कर ली है अथवा सुमतिशाह हो गए हो। हे प्रवीण! आपको ऐसी खोटी बुद्धिरूप क्रिया शोभा नहीं देती। सती नारी का पराभव पाप में डुबो देता है। तुम्हारी प्रिया मरण का उपाय सोच रही है, वहाँ उसने संन्यास क्रिया स्थापित कर ली है॥ १९.२०.२१.२२.२३॥

कुमार सागरचन्द्र बोला—हे मात! क्या तुम मेरी पत्नी की सम्पूर्ण बातों को जानती हो अथवा झूठ बोल रही हो? उसने अपना चक्रेश्वरी देवी का रूप प्रकट किया और अपने स्त्री रूप बनाने का कारण बतलाते हुए कहा—हे कुमार! तुम अभी अपने घर जाओ तथा मधुर वचनों द्वारा अपनी प्रिया को सन्तोष कराओ। कुमार बोला—आज तो अँधेरी रात्रि है। मैं कल प्रभात में प्रस्थान करूँगा॥ २४.२५.२६.२७॥

घत्ता—चक्रेश्वरी देवी ने गुण-समूह से युक्त/अलंकृत आकाश गमन की गुटिका कुमार को दी। कुमार चक्रेश्वरी की वन्दना करके, अपनी निन्दा करते हुए त्वरा गति से वहाँ से चल दिया और आकर मित्रवर से सारा वृत्तान्त कह दिया॥ १५॥

दुवई—चक्रेश्वरी शीघ्र ही अपने स्थान पर चली गई। इधर वणिक पुत्र सागरचन्द्र उन्मत्त सा हो गया। मृगांकलेखा के मोह से घिर गया। 'हाय! मैंने अच्छा नहीं किया' कहते हुए मूर्च्छा खाकर धरती पर गिर पड़ा॥ ६॥

गाथा—वज्रमय कठोर हृदयवाले मैंने दीर्घ रोष के कारण मृगांकलेखा को दोष युक्त कहा और उसे परित्यक्त कर दिया। यह मेरा अधम कार्य ही था। ऐसा उसने अपने मन में विचार किया और ऐसा ही अभिप्राय अपने मित्र से कहा। मित्र बोला—साधु! साधु! आपने अपने चित्त में अच्छा विचार किया॥ ३४.३५॥

वह निर्दोष सती इतने दिनों तक आपके द्वारा परित्यक्त होकर भी अभी तक मृत्यु को प्राप्त नहीं हुई। मैं मानता हूँ यह तुम्हारे पुण्य का ही माहात्म्य है॥ ३६॥

आपके द्वारा परित्यक्त वह सती निश्चित अपने प्राणों को त्याग देती किन्तु वह बेचारी तब तक नहीं मरती जब तक वह तुम्हारी आशा से जुड़ी है॥ ३७॥

सागरचन्द्र क्षण मात्र में मित्र सहित मृगांकलेखा के महल को प्राप्त हुआ। उसका धवल महल शारदीय चन्द्रवत् शुभ्र एवं मनोहर था॥ ३८॥

मृगांकलेखा का हृदयगत संताप सौ गुना वृद्धिंगत होता हुआ गरम-गरम अश्रु रूपी जल से भरे हुए निःश्वास रूपी मेघों से छलकता हुआ जल-प्रवाह ऐसा लग रहा था मानों उत्तम जाति के मुक्ताफलों से खचित दीवाल का समूह ही टूट-टूट कर गिर रहा हो॥ ३९॥

णिद्दय कर णिछोडण मणिमय भज्जंत कंकण समूह।
दिययत्थ विरह णव दव, तडयड फुट्टंत हार भरा॥ ४०॥

चल-चल चलंत गत्ता, छिण्णं घर—कोलियाए पुच्छं वा।
छम-छम-छमंत देहा, हरियदंण सुरहि सरस पंकेण॥ ४१॥

तडफडइ रडइ विहवल, सफरी इव सा वि थोव सलिलम्मि।
मम्मर पत्त चयं पिय, कुणमाणा कमल पत्त संत्थारं॥ ४२॥

तह आसासिज्जंती वारं वारं च चित्तलेहाइ।
दिट्ठा मइंकलेहा सायरचंदेण तत्थ भवणम्मि॥ ४३॥

तव्वयणेणं तत्तो धणमित्तो विसइ भवण मज्झम्मि।
दिट्ठूणं इमं भयवसं कंपिय देहाइ सा जाय॥ ४४॥

घत्ता—धाइ वि सा कंपइ, भय वसि जंपइ रे! विड पुरिस समाउं किंहं।
सिग्घसु पडिगच्छहि, मा खणि अच्छहि ण वियाणहि ससिलेह तिहं॥ १६॥

दुवई—सायरचंद एह वर मंदिरु णहि असई णिहेलणो।
णड भड विड विसाम कडि मद्दणु अज्जुसु कुमर मेलणो॥ ७॥

गाथा—इह णहि सायरचंदं मुत्तू अण्णस्स वास विस्सामो।
तत्तो सिग्घं वच्चसु जइ जीएण अत्थि तव कज्जं॥ ४५॥

१६

छप्पय— धणमित्तु पइंपइ हे मयच्छि, तुंहु चित्तलेह णवि मुणहि दच्छि॥ १॥
ठिउ सायरचंदु अणिंदु आइ, अणसण विहि वुत्तु सुरीसु जाइ॥ २॥
ता चित्तलेह लहि भासु जासु, ससिलेह पइंपइ उत्ति तासु॥ ३॥
सा आह सही महु णाहु णत्थि, किर कवणुं कज्जु धणमित्त सत्थि॥ ४॥
पडिहासि पइंपइ पहु अयाणु, महु पाणि गहइ दइयउ सयाणु॥ ५॥

मृगांकलेखा ने निर्दयतापूर्वक मणिमय कर कंगनों के समूह को तोड़कर अपने हाथों से बाहर निकाल दिया था तथा तड़-तड़कर फूटता हुआ उसके हारों का गुच्छ विरह को नया परिहास दे रहा था अर्थात् उसके विरह की मानों हँसी उड़ा रहा था॥ ४० ॥

उसका चंचल शरीर ऐसा काँप रहा था जैसे छिन्न-कटी हुई छिपकली-गृहगोधा की पूँछ हो अर्थात् हरिचन्दन जैसे सुगन्धित सरस लेप के लगाए जाने पर जिसकी देह छम-छम छमक रही थी॥ ४१ ॥

भावार्थ—जैसे तप्त तवे पर या गरम पात्र पर जल बिन्दु पड़ने से वह छम-छम आवाज करती हुई तत्क्षण सूख जाती है। उसी प्रकार मृगांकलेखा की देह पति जन्य वियोग से ऐसी तप गई थी कि उसपर सरस चन्दन के लेप करने से छम-छम की आवाज आती थी और सरस पंक अतिशीघ्र सूखकर वृद्ध वृक्ष की छाल की तरह फट जाता था।

स्वल्प जल में स्थित मछली की तरह वह विह्वल होकर तड़पती हुई विलाप कर रही थी। संचित किए हुए सूखे पत्रों से संस्तर बनाती हुई चित्रलेखा सखी के द्वारा बार-बार आश्वासित की जाती हुई वह मृगांकलेखा सागरचन्द्र के द्वारा अपने भवन में देखी गई॥ ४२.४३ ॥

तदनन्तर कुमार सागरचन्द्र की आज्ञा से धनमित्र ने भवन के अन्दर प्रवेश किया। उसे देखकर चित्रलेखा भय-वश कम्पित देहवाली हो गई अर्थात् भय से उसका सारा शरीर काँपने लगा॥ ४४॥

घत्ता—वह भागती है, काँपती है एवं भयभीत होकर कहती है—रे विड् पुरुष! तू भीतर कैसे आया? शीघ्र ही पीछे लौट जा। एक क्षण भी मत ठहर, क्या नहीं जानता यहाँ शशिलेखा रहती हैं?॥ १६ ॥

दुवई—यह सागरचन्द्र का श्रेष्ठ भवन है, असतियों का निकेतन नहीं। आर्य कुमार का मिलाप नट, भट और विड् पुरुषों का कटि मर्दन कर उन्हें विश्राम कराता है अर्थात् उनकी ऐसी कमर तोड़ देते हैं कि ये कापुरुष विश्राम करते ही नजर आते हैं॥ ७॥

गाथा—सागरचन्द्र को छोड़कर यहाँ अन्य किसी को विश्राम के लिए स्थान नहीं है। यदि तुझे जीवन से प्रयोजन है तो शीघ्र ही यहाँ से चला जा॥ ४५ ॥

१६

छप्पय—धनमित्र कहता है—हे मृगनयनी! हे दक्षा चित्रलेखा! तू नहीं जानती कि अनिन्द्य सुन्दर सागरचन्द्र यहाँ आकर ठहरे हुए हैं, क्योंकि सुरवाला ने जाकर सती की अनशन विधि को कुमार से कहा है। धनमित्र ने जो कुछ कहा था, वह सब चित्रलेखा ने अतिशीघ्र जाकर मृगांकलेखा को कह सुनाया। वह बोली—हे सखि! मेरा स्वामी यहाँ नहीं है फिर धनमित्र किसलिए साथ हैं अर्थात् यहाँ किसलिए आए हैं। मेरे प्रभु को अज्ञानी कहकर उनका परिहास कर रही हो। अरे! मेरा पाणिग्रहण करनेवाला स्वामी तो बड़ा सयाना है॥ १.२.३.४.५ ॥

गलि अंसु पवाहे हरिस तंदु, तदणंतरि विसइ समुद्दचंदु ॥ ६ ॥
णं अमियधार धण बुट्ठि विंदु, णं पिय मण उवहि छणिंद इंदु ॥ ७ ॥
ता पिक्खि पिया पिउ उत्तमंगि, पणमिउ ससिलेह सया उछंगि ॥ ८ ॥
उच्चाइ भणइ धणि अज्जु रइणि, जीवंतु य पिक्खि रमणि सइंणि ॥ ९ ॥
हा महु कारणि तणु खीण जाउ, खम किज्जइ सुंदरि हउं सपाउ ॥ १० ॥
चक्केसरिय मुह सुंणिउ वितंतु, हउं आइ ठिअउ संकंतु संतु ॥ ११ ॥
ससिलेह लवइ पिय तुंह ण दोसु, सुह असुह चिराणउं कम्म कोसु ॥ १२ ॥
सुहु दुहु भुज्जिइ जिअ अप्पि अप्पु, णिरुदइय उदइ किर किं वियप्पु ॥ १३ ॥

दोहा—पडुर उप्परि णेहु वहु, महिसी थण घण दुद्धु।
पामारु पीवण दे णही, इउ णिज कम्म विरुद्धु ॥ ११ ॥
जणि सुह कम्म उदय सया, सुह संगमु हुइ आइ।
गाडरविंद समूह लखि, वालु पिवइ पइ माइ ॥ १२ ॥

सोरठा—आवइ आवद वाहु जे णर णारी णिउण अवणि।
जिउं ससि पीडइ राहु तारायण णभ छाडिकइ ॥ ३ ॥
कुमरु वचन सु-रसाल रजनी अंति समइ लवइ।
तुम्ह रहियहु दृढु वाल, हम देसंतरि गमणु अव ॥ ४ ॥

तदनन्तर हर्ष और तन्द्रा से जिसकी आँखों से अश्रुओं का प्रवाह बह पड़ा ऐसे सागरचन्द्र ने उसके कक्ष में प्रवेश किया। उसका अश्रु-प्रवाह ऐसा लग रहा था मानों अमृत की धारा रूपी धन की बिन्दुओं की वृष्टि हो रही हो अथवा अपने प्रिय के मनरूपी समुद्र में पूर्ण चन्द्रमा ही प्रकट हुआ हो। उस प्रिया ने जैसे ही प्रिय को देखा उन्हें उत्तमांग से प्रणाम किया एवं प्रिय ने मृगांकलेखा को अपने अंक में भर लिया और ऊपर उठाकर कहने लगा—आज की रात्रि धन्य है, जो मैंने अपनी पतिव्रता पत्नी को जीवित देखा॥ ६.७.८.९॥

हाय! मेरे कारण तेरा तन क्षीण हो गया। हे सुन्दरी! मुझ पापी को क्षमा कीजिए। चक्रेश्वरी के मुख से सारा वृत्तान्त सुनकर मैं अत्यन्त शंकित होता हुआ यहाँ आया हूँ। मृगांकलेखा कहती है—हे प्रिये! आपका कोई दोष नहीं है। यह तो चिरकालीन शुभाशुभ कर्मों का भण्डार है, जिससे जीव अपने आप ही सुख-दुःख भोगता है। हे स्वामिन्! कर्म के उदय में विकल्प क्या करना॥ १०.११.१२.१३॥

दोहा—जैसे अपने पाडे के प्रति अति स्नेह के कारण महिषी के स्तनों में अधिक मात्रा में दुग्ध उत्पन्न हो जाता है किन्तु पामर दुष्ट कृषक लोग पाडे को दुग्धपान नहीं करने देते, क्योंकि पाडे का दूध पीना उनके विरुद्ध कार्य है अर्थात् पाडे के दूध पी लेने पर पामरों को पर्याप्त मात्रा में दूध नहीं मिलता॥ ११॥

भावार्थ—पाडे और भैस में जैसे परस्पर अधिक स्नेह होता है और वात्सल्यवशात् दुग्ध भी अधिक मात्रा में आने लगता है। इसी प्रकार पति और पत्नी में परस्पर प्रेम होता है जो क्रमशः परिस्थिति विशेष में बढ़ने लगता है किन्तु जैसे पामरजन पाडे को दुग्ध नहीं पीने देते, क्योंकि वह उनके विरुद्ध कार्य है, वैसे ही परस्पर बढ़ते प्रेम के बीच में पामरों की तरह अन्तराय कर्म का उदय उनमें प्रीति नहीं होने देता; क्योंकि भोगों की प्राप्ति भोगान्तराय कर्म के विरुद्ध है, अर्थात् वह जीव को सुख नहीं भोगने देता।

शुभ कर्म का उदय होने पर अनवरत शुभ पदार्थों का ही समागम होता है अशुभ वस्तुओं का नहीं; जैसे कि बहुत सारी गाड़रों के समूह को देखकर भी बालक उनमें से केवल अपनी ही माँ का दूध पीता है अन्य का नहीं॥ १२॥

भावार्थ—शुभ कर्म का उदय आने पर अनन्त जीवों के स्थित रहते हुए भी वे पौद्‌गलिक शुभ वर्गणाएँ उसी पुण्यार्थी की खोज कर उसके समीप पहुँच जाती है जिसने कि उनका बन्ध/संचय किया था। जैसे कि अनेक माताओं के मौजूद होने पर भी बालक अपनी माँ को खोज निकालता है।

सोरठा—पृथ्वी पर जो नर-नारी निपुण होते हैं उन्हीं पर आपत्तियाँ तथा बाधाएँ आती हैं। ठीक ही तो है—राहु नभ मण्डल में तारागण को छोड़कर चन्द्रमा को ही पीड़ित करता है, उसे ही ग्रसता है॥ ३॥

निशा की समापन वेला पर कुमार अत्यन्त मधुर वचनों से कहने लगा—हे दृढ़ बाले! तू यहीं रहना, अब मैं देशान्तर को जाता हूँ॥ ४॥

घत्ता— ता णारि पइंपइ थरहरि कंपइ, गुज्झ वितंतु ण जणु मुणए।
रइ रुइ णिरु आसा, पूरण मासा मज्झु वयणु किर को सुणए॥ १७॥

दुवई—सुण्हा सासु वइरु चिरु वुच्चइ महु जणु सयल णिंदए।
पउमा मांइ तुज्झ पिय पच्छइ गिहवास णिंकदए॥ ८॥

१७

पद्धरी— हा होइ पयड तुंह जाहि कंत, अण्णारिसु तिय भासहि हसंत॥ १॥
ससिलेह सइ पिय णेहु अब्भु, सिविणइ दंसणि जाई सगव्व॥ २॥
ता लवइ कुमरु हउ गुत्तु आउ, अप्पणु पइडंतह कुवइ राउ॥ ३॥
इम जंपि समप्पइ मुद्द रयण, णामंकिय णिय सव मुणहि सयण॥ ४॥
आसासि गइउ सम मित्त सोइ, पंडुर मुह गब्भ सचिन्ह होई॥ ५॥
आलसु लालसु उर तिवलि भंगु, भोयण अभाउ सिर पीडियंगु॥ ६॥
थण वत्तु किण्ह दुज्जण दुहग्गु, तणु उज्जलु णं सुयससु अभग्गु॥ ७॥
सग मास जाउ ता सिविणु दिट्ठु, णं बाल भाणु वत्तिसु पइट्ठु॥ ८॥
चडि सुर विमाणि णिवडियसु झत्ति, जग्गंतह हरिस विसाइ पत्ति॥ ९॥
जिण णामु सरिवि सा दाणु देइ, कम्महु विवाउ णिय मणि सरेइ॥ १०॥
सुह दुह कारणु दीसइ णिमित्तु, हिय पंकउ कंपइ चलइ चित्तु॥ ११॥
हा विह! ण वियाणमि कज्जु तुज्झु, णिरु होइ उदइ णर जम्मि मज्झु॥ १२॥
मणिधारि सरइ परमिट्ठि मंतु, दुह कम्म णिवारणु पाव अंतु॥ १३॥

घत्ता—सो कम्म विवाउ वंध उदइ संभवइ णिरु।
संहरइ ण पाउ पुव्व जम्मि संचिउ चिरु॥ १८॥

सिरि ससिलेह विवाह विजोउ सभत्तारि मिलाउ वण्णण णाम
पढमो संधि परिछेउ सम्मत्तो॥

घत्ता—थर-थर काँपती हुई वह मृगांकलेखा बोली—हे नाथ! आपके इस वृत्तान्त (आपका आगमन और मेरे साथ समागम) को लोग नहीं जानते हैं। रति सम्बन्धी आपकी रुचि और आशा पूर्ण हुई और मेरा मासिक धर्म भी पूर्ण हुआ है अत: कहीं कुछ हो गया तो मेरे वचनों को कौन सुनेगा?॥ १७॥

दुवई—सास-बहु का वैर तो चिरकाल से प्रसिद्ध है। सभी लोग मेरी ही निन्दा करेंगे और हे प्रिये! आपके जाने के बाद पद्मा माता मुझे घर से निष्कासित कर देगीं॥ ८॥

१७

पद्धरी—हाय! कान्त!! आप प्रकट होकर जाइए। अन्य स्त्रियों से हँसते हुए कहिए—सती मृगांकलेखा से प्रिया जैसा स्नेह फूट पड़ा है अर्थात् स्नेह हो गया है। 'वह गर्भवती है' ऐसा मुझे स्वप्न में दिखलाई दिया है। कुमार बोला—मैं यहाँ गुप्त रूप से आया हूँ। मेरे प्रकट होने पर राजा कुपित हो जाएगा। 'यह मेरी नामांकित रत्नजड़ित मुद्रा है, इसे सभी जानते हैं' इसे रखिए ऐसा कहकर कुमार ने वह मुद्रा सती को सौंप दी। इधर कुमार सती को आश्वस्त कर चले गए, उधर मृगांकलेखा का मुख पीला पड़ने लगा। गर्भ चिह्न प्रकट होने लगे॥ १.२.३.४.५॥

उसका प्रमाद और उसकी लालसाएँ बढ़ने लगी। उदर पर पड़नेवाली त्रिवलियाँ भंग होने लगीं। भोजन अरुचिकर हो गया और उसके शिरोभाग में पीड़ा होने लगी। उसके स्तनों के अग्रभाग/चुचुक दुर्जनों के दुर्भाग्य की तरह काले पड़ गए। उसका शरीर उज्ज्वल हो गया; मानों अखण्ड सुयश ही फैल गया हो। सात माह बीत जाने पर उसने स्वप्न में देखा, जैसे मेरे मुख में बाल-भानु प्रवेश कर रहा हो। दूसरे स्वप्न में उसने देखा मैं देव विमान में चढ़ गई हूँ और शीघ्र ही मेरा पतन हो गया है अर्थात् मैं नीचे गिर गई हूँ। निद्रा भंग होते ही वह हर्ष-विवाद से भर गई। जिनेन्द्र भगवान् का नाम-स्मरण कर उसने दान दिया एवं मन-ही-मन में कर्म के फल का स्मरण करने लगी॥ ६.७.८.९.१०॥

'सुर विमान में चढ़ना और गिरना' ये दोनों ही क्रमशः सुख और दु:ख के निमित्त कारण दिखलाई दे रहे हैं; सोचते ही उसका हृदय कमल काँपने लगा एवं चित्त चंचल हो गया। हा विधाता! मैं तेरे कार्य को नहीं जानती (तू क्या-क्या करेगा)। अब इस संसार में मेरा जन्म होता है तो पुरुष का ही जन्म हो, स्त्री का नहीं और वह सती दुष्कर्म निवारक, पापान्तक, पंच-परमेष्ठी वाचक उत्तम मन्त्र को मन में स्थापित कर उसी का स्मरण करने लगी॥ ११.१२.१३॥

घत्ता—निश्चित ही कर्म का फल, कर्म वन्धानुसार उदय में आता है; क्योंकि चिर-संचित पूर्व जन्मों के पापों का संहरण नहीं होता॥ १८॥

इस प्रकार श्री मृगांकलेखा चरित्र में बुधजनों के चित्त को अनुरंजित करने में सहायक भट्टारक श्री माहेन्द्रसेन मुनि के शिष्य पं. भगवतीदास विरचित मृगांकलेखा के विवाह, पति-वियोग और भर्तार-मिलाप का वर्णन करनेवाली प्रथम सन्धि का हिन्दी अनुवाद आचार्यप्रवर श्री शान्ति-वीर-शिव-ज्ञानसागर के शिष्य आचार्य श्री विद्यासागर मुनि के आज्ञानुवर्ती परम शिष्य राष्ट्रसन्त उपाध्याय श्री गुप्तिसागर मुनि द्वारा सम्पूर्ण हुआ।

॥ इति प्रथम सन्धि समाप्तम्॥

वीयउ संधि

सोरठा—उत्तम सुर जीउ, ससिलेहा उरि अवयरिउ।
णिरु आउ सुकीउ, भुंजि कप्पिधर संचरिउ॥१॥

दुवई— दासी पिप्पि गब्भ सम सुण्हा, थर हरि काय कंपिया।
सिग्घ सु जाइ तत्थ णिरु तं खणि, पउमा पदि पइंपिया॥१॥

१

पद्धरी— तव पुत्त पत्ति गुरु हार जाय, हउं तुम्हे पयासमि गुज्झ वाय॥१॥
आइण्णि तहा लहु जाइ जोइ, ष(ख)णि पिक्खि पवर पज्जलइ सोइ॥२॥
णं कोव हुयासणुं सित्तु घित्ति, दुव्वयण लवणि सा थिय अतित्ति॥३॥
हे कुल कलंक कारिणि अलज्ज! पइ किण्ह करिउ मुहुं गुत्त भज्ज॥४॥
सा आह सई सुमइंकलेह, सम मित्त समाइउ तिमिय देह॥५॥
तव तणरुह किर पच्छण्ण रइणि, गउ मुद्दा अप्पिसु चिण्हु सइंणि॥६॥
करवलउ तासु पिस्सहि सुमाइ, मुत्ताहल सज महु गिण्हि जाइ॥७॥
किंकरु पेसिवि पुच्छहि कुमार, अण्णारिसु हउं पाविणिय दार॥८॥
ता करहि दंडु णिरु मज्झु दण्डु, जं जाणसि तं तण खण्ड खण्डु॥९॥
ता हसि सासू जंपइ सपाव, पुंसलि जाणहि जणि वहु उवाव॥१०॥
महु पुत्तु ण सुणई तुज्झ णामु, आइण्णिसु छंडि सिग्घ धामु॥११॥
सो किम देसइ करि मुद्दि तुम्ह, छम्मे छम्महि किं धिट्ठि अम्ह॥१२॥
जो गच्छमाणु णवि णियइ वत्तु, सो रयणि आउ णिरु णेहि रत्तु॥१३॥

घत्ता—जो वास सहसकिर णवि मुणई, सुरगुरु मणि चिंततओ।
सहसा सो सइरणि फुड्डु लवए, झंप ण दोस वितंतओ॥१॥

दुवई—हे खलि! जाहि जाहि मा अच्छइ गच्छहि जत्थ तव रुई।
एरिसु मज्झु पुत्त कुकलत्तइ रत्त दूसइ किं हुइ॥२॥

द्वितीय सन्धि

सोरठा—कोई उत्तम कल्पवासी देव का जीव अपनी आयु पूर्ण कर वहाँ से चयकर शशिलेखा के उदर में अवतरित हुआ॥ १ ॥

दुवई—दासी ने पुत्रवधू को सगर्भा देखा तो उसकी काया थर-थर काँपने लगी और शीघ्र ही उसी क्षण जाकर पद्मा सेठानी को कहने लगी॥ १ ॥

१

पद्धरी—मैं आपसे एक गुप्त बात कह रही हूँ। आपकी पुत्रवधू भारी बोझवाली अर्थात् गर्भवती है। सुनते ही तत्क्षण उसने वहाँ जाकर देखा और देखते ही अतिशय रूपेण जल उठी। उसकी क्रोधाग्नि ऐसी भड़क उठी मानों किसी ने अग्नि में घृत डाल दिया हो। अत्यन्त दु:खित हो वह वहीं स्थित होकर दुर्वचन कहने लगी—हे कुल को कलंकित करनेवाली निर्लज्ज! तूने मेरा मुख काला कर दिया। गोत्र का नाश कर दिया॥ १.२.३.४॥

वह गुणगौरी सती मृगांकलेखा कहती है—हे अम्ब! आर्द्र देह वाले (मृगांकलेखा के प्रति कोमल भाव वाले) आपके पुत्र प्रच्छन्न रूप से मित्र सहित रात्रि में यहाँ आए थे और चिह्न स्वरूप अपनी मुद्रा देकर गए थे। हे मात! मोतियों से जड़ित यह उनका कर कंगन देखो; जो वे मुझे देकर गए हैं। किंकर को भेजकर कुमार से पूछ लीजिए, अन्यथा पाने पर मैं पापिनी कुट्टनी स्त्री कहलाऊँगी और आप जो दण्ड देंगी मुझे मंजूर होगा। यदि आप उचित समझें तो मेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देना॥ ५.६.७.८.९॥

सासू हँसी और पापयुक्त हो बोली—ओ पुंश्चलि! तू बहुत बहाने/उपाय जानती है। मेरा पुत्र तो तेरा नाम भी नहीं सुनता, सुनते ही शीघ्र घर छोड़ देगा। ओ धृष्टा! तू मुझसे छद्म-पर-छद्म क्यों कर रही है। यह तो बता तूने यह मुद्रा किस देश से बनवाई है। अरी! जिसने जाते हुए भी तेरा मुख नहीं देखा सो वह रात्रि में आकर तुझसे रति सम्बन्धी स्नेह करेगा?॥ १०.११.१२.१३॥

घत्ता—जिस आवास को सहस्र किरणोंवाला सूर्य भी नहीं जानता है और जिसका देव गुरु बृहस्पति भी मन से विचार नहीं कर सकते उस आवास में तू अचानक स्वैरिणी/व्यभिचारिणी कैसे हो गई? ओ स्वैरिणी! दोष पूर्ण वृत्तान्त को मत ढँक, स्पष्ट कह॥ १॥

दुवई—हे दुष्टा! जा-जा यहाँ मत ठहर। जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ चली जा। हे मेरे पुत्र की कुलटा स्त्री! तू रक्त को दूषित करनेवाली क्यों हुई॥ २॥

गाथा—इयं जंपिय पउमाए, परिवार णिवारणाय पुणरुत्तं।
अवगण्णिय सहि सहिया, गिहाउ णिव्वासिया एसा॥ १॥

रंभा धणसारणो, पेसिवि दासी कहा वियंतीए।
एसा परिक्खिऊणं धीरयव्वा, णियइ गेहम्मि॥ २॥

दोहा—ससिसायरि यह परहरी, रेहाणंमि ससंक।
पाप करमु तिय आदरिउ, निज कुल दिया कलंक॥ १॥

इह णयरी जो यह रहइ, तौ तिय करहिं अकाज।
जानु किजिउं वणि मेलिए, रहइ दुहूं कुल लाज॥ २॥

सोना सरवरि वरसई, कसि घसि दाहु जि दिंत।
असई पीतलि आढकी, जह तह पामर लिंत॥ ३॥

२

पद्धरी— आइण्णि वयण पिय माइ सुण्ह, सम धाइ गमइ णं चंद जुण्ह॥ १॥
पत्ता णिय पियर अवासि झत्ति, ठिय माय ताय तजिसु अममत्ति॥ २॥
वइयरु चित्ति सरेवि आसि, जं वुत्तु सासु व पाव रासि॥ ३॥
तदणंतरि बंधसु आउ जत्थ, धणसार पुत्तु मइ पवरु तत्थ॥ ४॥
णामेण धणंजउ धम्ममुत्ति, सम जणण पइंपइ सुट्ठ उत्ति॥ ५॥
सासू परिहउ विणु पिय सणेहि, धूयाण ठाणु णिय जणण गेहि॥ ६॥
जाया गच्छइ जलरासिचंदु, जामउ तुज्झु संसउ णिकंदु॥ ७॥
ता रक्खहु पुत्ती णिय अवासि, सच्चउ ण वियाणहु वयणु दासि॥ ८॥
अइ दुहिय-दुहिय मा करहु भद्दि, मा मुज्झहु पउमा सासु सद्दि॥ ९॥
हे ताय! ण महु सस होइ खुद्द, अवलोवहु तिंह करि दइव मुद्द॥ १०॥
किंकरु पेसिवि आणवहु पत्ति, संसाउ फेडिज्जइ ताय झत्ति॥ ११॥
सासुरि चत्ता पीहरि ण ठाणु, धुव धुव हिय फुट्टिवि मरइ जाणु॥ १२॥
हा करुणा साइर दय णिहांण, खलु किज्जइ महु गिर णिरु पमाण॥ १३॥
मउणे थक्कइ वणि धम्म धारु, तदणंतरि तहं आइउ तलारु॥ १४॥

गाथा—इस प्रकार दुर्वचन कहती हुई पद्मा के द्वारा उसे परिवार से निष्कासित करने के लिए बार-बार कहा गया तथा मृगांकलेखा की अवहेलना करते हुए सखी चित्रलेखा सहित गृह से निकाल दिया॥ १ ॥

पद्मा सेठानी ने रम्भा और धनसार श्रेष्ठी (मृगांकलेखा के माता-पिता) के निकट दासी भेजकर बीती हुई कथा कहलवा दी एवं इसे 'परीक्षा करके ही घर में रखना' यह सन्देश भी दे दिया॥ २ ॥

दोहा—सागरचन्द्र ने शंकित होकर इसका परित्याग कर दिया है; क्योंकि इसने पाप कर्म का आदर करके कुल को कलंकित किया है। इस नगरी में यदि यह रहती है तो अन्य स्त्रियाँ भी इसी भाँति अकृत्य करेगी, ऐसा जानकर इसे किसी जंगल में छोड़ दीजिए। जिससे दोनों कुलों की लाज बनी रहे॥ १.२ ॥

श्रेष्ठ सती स्वर्ण के समान होती है जैसे सोने के कसे, घिसे और तपाए जाने पर वह अधिक दीप्ति देता है, लोग उसे सुरक्षित रखते हैं। ऐसी ही स्थिति सतियों की होती है किन्तु असतियाँ पीतल की आढ़क/आढ़की (अनाज नापने का पाँच सेर का एक पात्र विशेष) के समान होती हैं जिन्हें नीच पुरुष भी जहाँ-तहाँ प्राप्त कर लेते हैं॥ ३ ॥

२

पद्धरी—अपने प्रिय की माता/सासू के वचन श्रवण कर पुत्रवधू मृगांकलेखा समता को धारण कर वहाँ से वैसे ही निकल गई जैसे चन्द्रमा की ज्योत्सना निकल रही हो। वह शीघ्र ही अपने पिता के सदन को प्राप्त हुई। वहाँ भी माता-पिता ने उसे निर्ममत्व भाव से छोड़ दिया। पाप की राशि स्वरूप सासू ने जो कुछ कहा उस सारी घटना को चित्त में स्मरण कर रही थी कि उसी बीच धनसार का श्रेष्ठ बुद्धिवाला पुत्र, मृगांकलेखा का भ्राता वहाँ पहुँचा। जिसका धनञ्जय नाम था, जो धर्म की मूर्ति था। वह अपने पिता के समक्ष इस प्रकार श्रेष्ठ वचन कहने लगा॥ १.२.३.४.५ ॥

पति का न स्नेह होने से सासू ने इसका तिरस्कार कर दिया और पुत्री को अपने पिता के घर में भी स्थान नहीं है? यह सागरचन्द्र की ही पत्नी है ऐसा जब तक आपका संशय दूर नहीं हो जाता तब तक पुत्री को अपने घर पर रखिए। दासी के वचनों को सत्य मत मानिए। हे भद्र! दुखिया को और अधिक दु:खी मत कीजिए। पद्मा सासू के वचनों पर मोहित मत होइये। (भ्राता की सांत्वना पाकर मृगांकलेखा कहने लगी) हे तात! मेरी सासू के समान क्षुद्र/तुच्छ मत होईए। मेरे पति के हाथ की मुद्रा को देखिए॥ ६.७.८.९.१० ॥

किंकर को भेजकर पत्र मँगवा लीजिए। जिससे आपका संशय शीघ्र ही दूर हो जाए। हाय! सासू ने घर से निकाल दिया और पिता के घर भी स्थान नहीं है। अब मैं हृदय को फोड़कर निश्चित ही मर जाऊँगी। करुणासागर! हा दया निधान! मेरे वचनों पर विश्वास कीजिए। इतना कहकर उसने मौन धारण कर लिया। इसी बीच कोतवाल वहाँ आ पहुँचा॥ ११.१२.१३.१४ ॥

हउं पउमा पेसिउ इत्थु आउ, तव तणया जाणमि णत्थि पाउ॥ १५॥
जउ करिमि ण वुत्तउ कुवइ सिट्ठु, महु सुब्भ भूमि धुव गमणु हिट्ठु॥ १६॥
ससिलेह ण रक्खण तम्ह जोगु, वणि मिल्लहु सिग्घ ण हसइ लोगु॥ १७॥
धणसारु असारु सुणे विवाय, कोहे पूरिउ हुइ साम छाय॥ १८॥
तणरुह वर वयणु ण सुणिउ आसि, सुपतिण्णउ पउमा भासि दासि॥ १९॥
दुभिक्खु रंक इव सुअ णिसारि, सिग्घं सुढक्कणु णिय दिण्ण दारि॥ २०॥

घत्ता— सो पउमा वयणइं पयलिय णयणइं चलइ तलारु भरंत हियउ।
ससिलेहा सत्थे णिरु परमत्थे चित्तलेह वणि गमणु कियउ॥ २॥

दुवई— लज्जा गुण वियार वर सुंदरि, अंसु मुअति गच्छए।
सुहु-दुहु करण सवणि सुणि वइयरु मणि सम भावि अच्छए॥ ३॥

दोहा— सुन्दरि वर नारी बिना, जिवइ न सायरचंदु।
वणवासउ इण नइ करइ, सेठि पवर मतिमंदु॥ ४॥
दयावंतु कुइ इउ कहइ, इस असई नहि रीति।
पूरव पाप उदइ सही भोगइ कम्मिक रीति॥ ५॥

ण णारी जड इउं कहइं कुमरि तजि किह काजि।
विणुं अपराध न दुहु सहइ, अवला जोवन साजि॥ ६॥
चनक दालि सम वर सई, रेहणि ठिय पीतंगि।
असई दालि मसूरि की, रहइ नरा तइ रंगि॥ ७॥
भणइ तलारु सुणहि सई, छाडि वियप्पु रु तंदु।
तिस मारगि धर जाइए, जह ठिउ जलणिहि चंदु॥ ८॥

३

पद्धरी— सा छंडि सई पुर गेहु णेहु, पहि गच्छइ वणि सुअ वत्थ देहु॥ १॥
पुच्छंती सायरचंदु मग्गु, रविकिरण तवइ सिकिया धरग्गु॥ २॥
खणि-खणि तरु तलि णिरु वीसमंति, अविलंविय पिय पह पुणु गमंति॥ ३॥
कम-कमल विद्ध दब्भग्ग णाल, पयरु रुहिर सवंती गमइ वाल॥ ४॥
दिंती धर कुंकम तिलउ सोइ, णिरु णाह णेहि मणु झत्ति ढोउ॥ ५॥

मैं 'पद्मा' माता के द्वारा भेजा गया यहाँ आया हूँ। आपकी पुत्री पाप कर्म को नहीं जानती। हे श्रेष्ठी! मैं न वह करूँगा, न वह कहूँगा, जिससे आप कुपित हों। चाहे मुझे नरक भूमि में क्यों ना जाना पड़े। यह मृगांकलेखा आपके द्वारा रखने योग्य नहीं है। इसे तत्काल ही वन में छोड़ दीजिए, जिससे लोग न हँसे। सेठ धनसार इस निस्सार वार्त्ता को सुनकर क्रोध से भर गया। उनकी कान्ति फीकी पड़ गई। वे उदास हो गए। अपने पुत्र के श्रेष्ठ वचनों को भी नहीं सुना और पद्मा की दासी ने जो कुछ कहा उसपर अच्छी तरह विश्वास कर लिया। पुत्री को खोटे भिक्षुओं और भिखारियों की भाँति निकालकर शीघ्र ही कपाटों को ढँक लिया अर्थात् बन्द कर दिया॥ १५.१६.१७.१८.१९.२०॥

घत्ता—पद्मा के आदेशानुसार झरते हुए नेत्रों तथा भरे हुए हृदय से कोतवाल चल पड़ा। शशिलेखा के साथ उसके उपकारार्थ चित्रलेखा ने भी वन की ओर गमन कर दिया॥ २॥

दुवई—लज्जा ही स्त्री का गुण है ऐसा विचार करती हुई वह उत्तम सुन्दरी अश्रु छोड़ती हुई वहाँ से चली गई। उसने सुख-दु:ख की हेतु भूत घटनाओं को कानों से श्रवण कर मन में साम्य भाव को धारण कर लिया॥ ३॥

दोहा—इस सुन्दर नारी के बिना सागरचन्द्र जीवित नहीं रहेगा, अत: हे श्रेष्ठी प्रवर मतिमन्द! इसे वनवास मत दीजिए। कोई दयावन्त कहता है, 'यह असतियों के मार्ग पर नहीं है।' पूर्व पाप के उदय से 'सती' कर्मों का फल भोग रही हैं॥ ४.५॥

कोई जड़बुद्धि अज्ञानी नर-नारी इस प्रकार कहने लगे—कुमार ने इसे किसलिए छोड़ा है? यह अबला यौवन सम्पन्न निरपराध दु:ख सह रही है। उत्तम सतियाँ चणक दाल सदृश्य होती हैं जो अत्याधिक रूप से सर्वांग पीत यानी निर्दोष होती हैं और असतियाँ मसूर की दाल के समान रक्त होती हैं, जिनमें पुरुप सदा अनुरक्त रहते हैं। कोतवाल कहता है—हे सती! सुनिए; विकल्प और तन्द्रा को छोड़िए और आप उस मार्ग को पकड़कर चली जाइए, जहाँ सागरचन्द्र स्थित हैं॥ ६.७.८॥

३

पद्धरी—सुत है उदरस्थ जिसमें ऐसी देहवाली अर्थात् गर्भिणी वह सती नगर और गृह का स्नेह छोड़कर वन मार्ग की ओर चली गई। सूर्य की किरणों से पृथ्वी के अग्रभाग की शिकिता/वालू तप रही थी ऐसे मार्ग पर वह सागरचन्द्र का मार्ग पूछती हुई चली जाती है। क्षण-क्षण में वृक्षों के मूल भाग में विश्राम करती हुई पुन: पति के मार्ग का आलम्बन ले चल पड़ती है। दर्भ के अग्रभागों से जिसके चरण कमल विंध, गए हैं तथा जिनसे रुधिर चूँ (बह) रहा है ऐसे कोमल पैरों से पृथ्वी पर मानों कुमकुम का तिलक देती हुई वह अपने मन में पति के स्नेह को ढोती हुई शीघ्रता से गमन करती है॥ १.२.३.४.५॥

अविराम धरा विस्सामधामि, थिरु थाइ ण सीमाराम गामि॥ ६॥
सा सुंदरि दुहि णिय णाह चत्त, कित्तिय दिणि सुण्णारणि पत्त॥ ७॥
विणु वंधुवग्ग संकडि दुगिज्झि, विलवइ सर तार सुभीमविंझि॥ ८॥
किर गब्भ भार छुह पीडियंगु, मुह कमल सुसइ तिस खर पइंगु॥ ९॥
हा णाह कत्थ सुहविल्लि कंद, कह पिक्खमि मण सुह उवहिचंदु॥ १०॥
दुत्थिय जण विविह सुपाव रेह, विहणा केवल दुहु चंद्दलेह॥ ११॥
णिम्माविय भाविय पाव-सार, महु सम दुह भायणु णत्थि दार॥ १२॥
हा! णह-जल-थल देवी वणाह, भासहि महु दुहु णिरु झत्ति णाह॥ १३॥
हा! पउमा पेसि ण पत्तु पुत्तु, वइयरु ण वियारिउ तासु वुत्त॥ १४॥
हा! ताय—ताइ रक्खिय ण धामि, हा भायर तव गिर थिय ण यामि॥ १५॥
विणु दोसे पइ परहरिय धीय, सय खंड ण जणणी जाउ हीय॥ १६॥

घत्ता— हा विहि हयास दुह विहि विहिया, आजम्मं तिसु जित्तिया।
महु पाविणि पाव-विवाग-किया, जलणिहि लहरि ण तित्तिया॥ ३॥

दुवई— णारि रुवंति रुवइ णिरु जलचर णह चारिय णहमंडले।
थलचर तत्थ रुवइं दुह दुहिया कंपइ वणु महिमंडले॥ ४॥

४

पद्धरी— वहु वसह वसुह ठिदि तत्थ पत्तु, सत्थाहिउ णामे चित्तगुत्तु॥ १॥
तदुहि दुहियउ तह भणइ इत्ति, कुलदेवि व मण्णइ तासु पत्ति॥ २॥
किं रुवहि तारसर वीण सद्दे, सुअ सुण्हा कासु ण भणहि भद्दे॥ ३॥
को दइयउ तुज्झु विसालणेत्ति, किर गच्छहि कत्थसु टाण खेत्ति॥ ४॥
हरि करि किडि तक्कर वणि समूह, भय तासिय णासिय हरिण जूह॥ ५॥

जहाँ की वसुन्धरा अविराम है अर्थात् जहाँ कोई विश्राम गृह वगैरह नहीं है तथा जहाँ ग्राम की सीमा पर बने हुए उपवनों में कोई रहनेवाला नहीं है। जिसे अपने ही पति ने त्याग दिया है ऐसी वह दुखित सुन्दरी कितने ही दिनों में शून्यारण्यों को प्राप्त हुई अत: सूने बीहड़ जंगलों में भटकती रही। वह बन्धु वर्ग से रहित अति ही संकीर्ण सघन, दुर्ग्राह्य भयंकर अटवी में विलाप करने लगी। गर्भ भार और क्षुधा से जिसके अंग पीड़ित हो रहे थे एवं सूर्य की प्रचण्डता से तृषा के कारण जिसका मुख-कमल सूख रहा था, ऐसी वह बाला मर्म भेदी उच्च स्वर में विलाप करने लगी—हा, मेरी सुखरूपी बेली के स्कन्द स्वरूप मेरे नाथ! आप कहाँ हो? मेरे मन रूपी सुखसागर के चन्द्र आपको कहाँ देखूँ?॥ ६.७.८.९.१० ॥

भाग्य ने केवल चन्द्रलेखा को ही दु:ख नहीं दिया, किन्तु सभी दु:खी विपत्तिग्रस्त जीव अनेक प्रकार की पाप की पंक्तियों को धारण करते हैं। मृगांकलेखा पुन: कहती है—हा! मेरे समान दु:ख की पात्रा अन्य कोई नारी नहीं है। यह सब मेरे द्वारा ही निर्मित/भावित पाप का फल है। हा! नभ देवता, जल देवता, भू देवता, वन देवताओं मेरे स्वामी से जाकर शीघ्र ही मेरे दु:ख को कहो। हा! पद्मा माँ ने अपने पुत्र को पत्र नहीं भेजा, न ही उनके द्वारा कही बातों पर विचार किया। हा! माता-पिता ने भी अपने घर में नहीं रखा; हा! भ्राता तूने भी मेरी बात को नहीं सुना। हे जननि! निर्दोष पुत्री का परिहार करने पर तेरे हृदय के सौ-सौ टुकड़े भी नहीं हुए॥ ११.१२.१३.१४.१५.१६ ॥

घत्ता—हे विधाता! तेरे द्वारा रचित इस दु:ख संविधान से मैं हताश हूँ। तूने मुझे जन्म भर के लिए जीत लिया। मुझ पापिनी का ऐसा ही पाप कर्म का उदय है जो समुद्ररूपी पति की लहर होकर भी अतृप्त हूँ॥ ३ ॥

दुवई—उस नारी के इस प्रकार रुदन करने पर जलचर जीव रोने लगे, नभमण्डल में नभचारी रोने लगे। भीमाटवी में उस दुखिया के दु:ख से सिंहादि क्रूर प्राणी भी रोने लगे एवं जंगल का सारा पृथ्वी मण्डल काँपने लगा॥ ४ ॥

४

पद्धरी—अपने बहुत सारे बैलों पर विपुल धन लादकर कोई चित्रगुप्त नामक सार्थवाह वहाँ आ पहुँचा। उस सार्थवाह की पत्नी ने मृगांकलेखा को कुलदेवी के समान समझा और उस दुखिया के दु:ख से द्रवित होकर सार्थवाह ने उससे कहा—हे भद्रे! करुणा जनक उच्च स्वर में विलाप क्यों कर रही हो? कहो ना तुम किसकी पुत्री और किसकी पुत्रवधु हो? हे विशाल नेत्रे! तेरा पति कौन है? तुम्हारा आवास कहाँ है और कहाँ जा रही हो? इस जंगल में सिंह, हाथी, जंगली सुअर एवं तस्करों का समूह भरा पड़ा है तथा भय से त्रसित भागता हुआ मृगों का समुदाय भरा हुआ है॥ १.२.३.४.५ ॥

सुणि वइयरु भासइ चित्तलेह, को लिहिय पुसइ किर कम्मरेह ॥ ६ ॥
महणे सुबंध किर जाहि जत्थ, णिव कडइ अवंतीसेणु तत्थ ॥ ७ ॥
सत्थाहु भणइ मा भउ करेहि, पुत्ती महु परियणि चित्तु देहि ॥ ८ ॥
अम्हाण गमणु तिह कडइ सोइ, विहि विहिय उल्लिहिय लाहु होइ ॥ ९ ॥
आइण्ण सई ससिलेह वुत्त, ठिय धम्म झाणि मण अत्ति चत्त ॥ १० ॥
सा चित्तगुत्त परियणि रमंत, ससिलेह सई पहि दिण गमंत ॥ ११ ॥
सत्थाहिव पत्ती करइ भत्ति, णिय पुत्ति व मण्णइ बहु ममत्ति ॥ १२ ॥
किर कालु गमइ सई सुद्ध भाउ, पुणु तत्थ कहंतरु अण्णु जाउ ॥ १३ ॥
इंधण जल कज्जि समीवि तम्मि, सा चित्तलेह गई घण वणम्मि ॥ १४ ॥
दूरंतरि पिक्ख तही सुसिग्घ, भिल्लाहिउ गहि गिहि गउ अविग्घ ॥ १५ ॥
सव्वत्थ णियंत ण लहिय केम, धुव तारु ण वासरि दिट्ठु जेम ॥ १६ ॥
णिय ठाणि ण पिक्खइ सहिय ज़ाम, पुणरवि अइणव दुहु होई ताम ॥ १७ ॥
ससिलेह रुवइ हा चित्तलेह, हा तुह ण वियाणमि भिण्ण देह ॥ १८ ॥
हा छंडि गई महु पावयारि, वसणागमि लव ण हियाणुसारि ॥ १९ ॥
हा सयल परम्मुह जाउ मुज्झ, सविसेस महादुहि सरमि तुज्झ ॥ २० ॥
हा कासु पयासमि गूढ मंतु, हा मइ ण वियाणिउ रुट्ठु कंतु ॥ २१ ॥
हा विहि विहडा विइय मज्झु माय, विणु जणणी डिंभहु कवण छाय ॥ २२ ॥
सा विलवंती संठविय सोइ, सत्थाहिवि साहि भविति लोइ ॥ २३ ॥

घत्ता— हरि बल चक्केसर, चंद्द दिणेसर, सुर णर वर पंडिय पवरा ।
गणहर रिसिसारा, णाण वियारा, कम्म उदय णिरु णडहि धरा ॥ ४ ॥

दुवई—पुत्ती कम्मु जम्मि चिरु संचिउ, भुत्ते विणु ण खुट्टए ।
सुह दुह पुण्ण पाव हलु चहुगइ, पण गइ विणु ण छुट्टए ॥ ५ ॥

उक्तं च—

अक्ष पक्ष्मकदालुप्तं, छिद्यन्तेऽथ सिरोरुहः ।
वर्द्धमानात्मनात्मेव, प्रसंगिन्यो विपत्तयः ॥

सार्थवाह के वचन सुनकर चित्रलेखा ने कहा—लिखी हुई कर्मरेखा को कौन मिटा सकता है? हे मेरे भ्राता! मैं वहीं जा रही हूँ जहाँ अवन्तिसेन भूपाल की छावनी है। सार्थवाह बोला—पुत्री! भय मत करो और मेरे परिजनों में अपने चित्त को लगाओ। हम लोगों का गमन भी कटक की ओर ही हो रहा है। यदि भाग्य में लिखा होगा तो निश्चित ही लाभ होगा। सार्थवाह के वचनों को सुनकर चित्रलेखा ने सती शशिलेखा को कहा—आर्तध्यान छोड़कर मन को धर्म ध्यान में स्थापित करो॥ ६.७.८.९.१०॥

वह सती मृगांकलेखा चित्रगुप्त के परिजनों में मन लगाती हुई मार्ग में दिन व्यतीत करने लगी। सार्थवाहाधिपति की पत्नी ने उसकी बड़ी भक्ति की और बड़े ही ममत्व भाव से सती को अपनी पुत्री के समान मानने लगी। इधर सती शुद्ध भाव से अपना समय बिता रही थी, उधर इसी बीच एक दूसरी ही घटना घटित हो गई। एक दिन चित्रलेखा अँधेरे में समीप के ही सघन वन में ईंधन और जल लेने हेतु गई थी कि वहीं पर दूर से ही भिल्लराज द्वारा देखी गई। जो उसे अतिशीघ्र ही पकड़कर निर्विघ्न रूप से अपने घर ले गया॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

सर्वत्र अच्छी तरह खोज लेने पर चित्रलेखा किसी तरह प्राप्त नहीं हुई जैसे कि दिन में ध्रुवतारा दिखलाई नहीं देता। जब मृगांकलेखा ने अपनी सखी चित्रलेखा को अपने स्थान पर नहीं पाया तो उसे पुनः एक नया दुःख उत्पन्न हो गया। मृगांकलेखा रोने लगी—हा चित्रलेखा! मैंने तुझे कभी अपने शरीर से भिन्न नहीं माना। हा! मुझ पापिनी को अकेला छोड़कर चली गई। कष्ट भी किसी को किंचित् मात्र भी अपनी इच्छानुसार नहीं मिलते। हाय! सारे ही परिजन-पुरजन मुझसे पराङ्मुख हो गए। हा! मैं महादुखिया तुझे ही विशेष रूपेण स्मरण करती हूँ॥ १६.१७.१८.१९.२०॥

हाय! अब मैं अपनी गुप्त मन्त्रणा अपने हृदय की बात किससे प्रकट करूँगी। हा! मैं नहीं जानती थी कि स्वामी मुझसे रुठ जाएँगे। हाय रे कर्म! तूने मुझे मेरी माता से भी अलग कर दिया। माता के अतिरिक्त शिशु को किसकी छाया किसकी शरण है? इस प्रकार विलाप करती हुई उसे सार्थवाहाधिपति ने ढाँढस बँधाया—पुत्री! जो होनहार है वह होकर ही रहती है॥ २१.२२.२३॥

घत्ता—नारायण, बलभद्र, चक्रवर्ती, चन्द्र, सूर्य, देव, राजा, पण्ड़ित-प्रवर, गणधर, ऋषीश्वर एवं तत्त्वज्ञानी सभी कर्मोदय से निश्चित ही इस पृथ्वी पर नाचते हैं॥ ४॥

दुवई—(सार्थवाह मृगांकलेखा को समझाता है) हे पुत्री! अनेक जन्मों में संचित कर्म भोगे बिना क्षीण नहीं होते हैं। चतुर्गति रूप सुख-दुःख तो पुण्य पाप के फल हैं। ये सब पंचम गति/सिद्ध गति बिना नहीं छूटते॥५॥

कहा भी है—नयन पलक कब बन्द हो जाए? सिर के केश कब उड़ जाए? और विपत्तियाँ भी कब स्वयं प्रसंग पाकर अपने आप वृद्धि को प्राप्त हो जाए? कहा नहीं जा सकता।

महिमा उवरागो वा ससिसूराणं ण ताराणं॥ ३॥

५

पद्धरी— आसासि सई दिण सत्त जाउ, सो लाड विसय वणि सत्थु आउ॥ १॥
तक्कर गणु तत्थ समूह ढुक्कु, तम णिसि जायउ संगरु गुरुक्कु॥ २॥
सत्थाहिव सुहड हणेवि झत्ति, लुट्टण पसरिय किर ठाणु पत्ति॥ ३॥
भय कंपिर तम णिसि सई सयाण, एगागिणि लुक्क णिगोह ठाण॥ ४॥
दिणु भुल्लि किरी अहणिसि चयारि, घण गहणि भमइ जिणगुण अधारि॥ ५॥
तह सूरु ण दीसइ तरु सकिण्ण, गय दारिय महिरुह साह-छिण्ण॥ ६॥
हरि णिहणिय जत्थ करिंद-जूह, धर मंडिय मुत्ताहल समूह॥ ७॥
अजयरि दीसहि तह गय गिलंति, सेरी वणु सेरि हु णिरु मिलंति॥ ८॥
दाढा कराल किडि घुरहरंति, मय माल तसिय ठिय तिणु चरंति॥ ९॥
आरामासण्ण पसाउ जत्थ, सा रइणि वसइ किर णारि तत्थ॥ १०॥
खणि सीह णिणाएं तसिय बाल, सुय जम्मु पसूय तदंतराल॥ ११॥
उज्जोउ करइ ठिदि ठाण तम्मि, णं बालभाणु उदयाचलम्मि॥ १२॥
णं कुलणह मंडणु उदय चंदु, सुहि दुहि सुय जम्मणि हुइ अणंदु॥ १३॥

घत्ता— उच्छंग्ग संग सिसु अंगिणीउ, मुद्धा रुवइ वराइया।
हे वच्छ! सुच्छ तुहु इत्थु भवे, कुच्छि अभग्गिणि आइया॥ ५॥

दुवई— अज्जु जि तुज्झ जणणु सुय हुंतउ, ऊसव णिरु करंतउ।
सुर-णर-खयर-णयर-सम परियण, सज्जण मणुहरंतउ॥ ६॥

गाथा— इच्चाइ विलवमाणा, सक्करुण हियया इह टिय पयडाए।
वणदेवी तह सहसा, एसा आसासिया एव॥ ४॥

मा रुइ सुण्णारण्णे, रुण्णे णवि होइ किंपि कज्जज्जंतो।
पुव्वकय दुक्कियाणं, सव्वं भव्वं धुवं होही॥ ५॥

गाथा—लाभ और हानि का महत्त्व तो बड़े लोगों को ही होता है, न्यून या क्षुद्र, दीन-हीनों के साथ नहीं; क्योंकि महिमा यानी उदय और उपराग अर्थात् ग्रहण, सूर्य और चन्द्र का ही होता है, ताराओं का नहीं॥ ३॥

५

पद्धरी—इस प्रकार आश्वस्त की गई सती के सात दिन बीत गए। इस बीच वह सार्थ काफिला लाड देश के वन प्रदेश में आ पहुँचा। उस वन में उन्हें तस्करों का समूह मिला। अँधेरी रात्रि में उन दोनों का (सार्थ समूह एवं तस्कर समूह) भयानक युद्ध हुआ। लुटेरे सार्थ प्रमुख चित्रगुप्त को मारकर शीघ्र ही जंगली आश्रय स्थलों को प्राप्त कर इधर-उधर बिखर गए। भय से काँपती वह सती अकेली ही अन्धकार युक्त रात्रि में वट वक्ष की ओट में छिप गई। वह भ्रमिता चार दिन एवं चार रात्रि तक गहन, दुर्गम विपिन में जिनेन्द्र प्रभु के गुणों का आधार लेकर भटकती रही॥ १.२.३.४.५॥

वह अटवी इतनी दुर्ग्राह्य थी कि वृक्षों की सघनता एवं हस्तियों से विदारित वृक्षों की छिन्न-भिन्न शाखाओं के कारण जहाँ नभमणि सूर्य भी दिखलाई नहीं देता था। जहाँ शार्दूलों द्वारा गन्धहस्ती जाति के हाथियों के मारे जाने से पृथ्वी मण्डल गज मुक्ताओं से भरा पड़ा था। जहाँ हाथियों को निगलते हुए अजगर दिखाई दे रहे थे। उस कान्तार प्रदेश में लम्बी-लम्बी आकृतिवाले जंगली भैंसें घूम रहे थे। जहाँ डरावनी दाढ़ोंवाले शूकर घुरघुरा रहे थे तथा उपवनों में कृष्ण वर्ण के उत्तम मृग तृण चरते हुए स्थित थे। जहाँ समीपवर्ती उद्यान का विस्तार था, वहीं रात्रि में वह नारी ठहर गई॥ ६.७.८.९.१०॥

सिंह गर्जना से वह बाला क्षण भर को भयभीत हो उठी और इसी बीच उसने पुत्र को जन्म दिया। जिस अन्धकार पूर्ण स्थान पर वह स्थित थी वह स्थान प्रकाश से ऐसा भर गया मानों उदयाचल पर वालसूर्य ही उदित हुआ हो अथवा जैसे कुलरूपी नभमण्डल में चन्द्रमा उदित हुआ हो। पुत्र के जन्म पर वह वाला सुखी-दुःखी होती हुई आनन्दित हुई॥ ११.१२.१३॥

घत्ता—उत्साहपूर्वक अपने शिशु को गोद में उठाकर वह बेचारी मुग्धा रोने लगी। हे वत्स! तू तो निर्दोष है किन्तु इस जन्म में तू मुझ अभागिनी की कुक्षि में आया है॥ ५॥

दुवई—हे पुत्र! यदि तेरे पिता आज यहाँ होते तो निश्चित ही नगर परिजनों के साथ, देव, मनुष्य, विद्याधर तथा सज्जनों के मन को हरण करनेवाला उत्सव करते॥ ६॥

गाथा—इत्यादि वचनों द्वारा अतिशय करुण हृदय से विलाप करती हुई जहाँ वह मृगांकलेखा स्थित थी; वहीं पर सहसा वनदेवी प्रकट हुई और सती को इस प्रकार आश्वासित करने लगी॥ ४॥

हे सुन्दरी! सूने जंगल में मत रो। रोने से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। पूर्वकृत दुष्कृत्य तो निश्चित रूपेण सभी भव्य जीवों के साथ लगे होते हैं॥ ५॥

पद्धरी— वणदेवि लवइ सुणि वइणु बाल, तुह कंतु मिलेसइ दाण-साल॥ १॥
मा कायरि होहि मयच्छि दच्छि, भुंजेसहि पिय-सुय तणिय लच्छि॥ २॥
इय भासि गई अमरी णिवासि, जा मुद्दा सायरचंद आसि॥ ३॥
णिरु कंठि ठवइ सिसु सिग्घ माइ, वर वच्छे वेढिवि जाम छाइ॥ ४॥
मंदिर किर कोण ठवइ गुणाल, आसण्ण पउमसरु दिट्ठु बाल॥ ५॥
तण खालणत्थि णिय जाइ पत्ति, जामा गच्छइ तिह ठाण इत्ति॥ ६॥
पच्छा खणि आमिस गंध लुद्ध, छुहिएण सारमेएण बुद्ध॥ ७॥
वत्ते गहि जाइ गुणालु वालु, पडियउ त दंतजंतेण भालु॥ ८॥
छेएण तेण णिसिजायरेण, णीयउ समणसउर णियडि तेण॥ ९॥
वइसवणु वणीस रु वसइ जत्थ, धणवइ णिरु णामे भज्ज सत्थ॥ १०॥
कीला किर कालु गमइ सयाणु, वर णाण विचक्खणु कल वियाण॥ ११॥
कोडीधउ धुव सिय णत्थि अंतु, पुर बाहरि किंकर सम रमंतु॥ १२॥
धर धारि सुणहु ता दारणत्थु, दसणे आच्छोडइ सिग्घ वत्थु॥ १३॥
वालइ आइंदणु सुणिवि सिट्ठ, हक्किसु कउ ले इगु डिंभु दिट्ठ॥ १४॥
णहू वेदिण्णउ पुत्तु सु तासु, सुह कम्मुदइ सुह हुइ ण कासु॥ १५॥

घत्ता— सो सिट्ठि सम्मियदिट्ठि, वालु गहिवि गिहि आइयउ।
तदणंतरि घर भिंतरि, तहि सिट्ठणि सुउ जाइयओ॥ ६॥

दुवई— वणि वरु भणइ सुणहि ससिवयणी सुंदरु सिसु लइज्जए।
धम्मु सुजम्मु जम्मि पवियाणहि ऊसव रम्मु किज्जइ॥ ७॥

गाथा—ठाणमि तस्स ठाविया तं णव लद्ध-कुमारमभिरामं।
वद्धावणयं जणमण कय अच्छरिय कय तेहि॥ ६॥

वित्तमि वारसाए, सुरिंददत्तो त्ति कुणइ विहि पुव्वं।
अभिरामं विय णामं वयसमणे धणवई धरए॥ ७॥

वेसमण समाणो सो, वेसमणो तद्दिणाउ संजाओ।
सा धणवई वि जाया, थिरजोणी तस्स माहप्पं॥ ८॥

पद्धरी—वनदेवी कहती है—हे बाले! मेरे वचन सुन, तेरा प्रिय बल्लभ दानशाला में मिलेगा। हे निपुणा! हे मृगनयनी! कायर मत हो। तू अपने भर्तार सहित पुत्र की विशाल लक्ष्मी को भोगेगी। इस प्रकार कहकर वह देवी अपने निवास पर चली गई। और उधर सागरचन्द्र की पत्नी आशान्वित हो गई। माता मृगांकलेखा ने शिशु को कण्ठ से लगा लिया। पश्चात् उत्तम वस्त्र में उस गुणवन्त बालक को आच्छादित/वेष्टित कर जहाँ मन्दिर के कोण में छाया थी; वहाँ रख दिया। उसने निकट ही एक पद्म सरोवर देखा और त्वरा गति से शरीर प्रक्षालनार्थ वहाँ पहुँच गई॥ १.२.३.४.५.६ ॥

तदनन्तर क्षणैक पश्चात् मांस गन्ध के लोभी एवं भूखे श्वान के द्वारा वह बालक जाना गया। कुत्ते ने बालक को मुख में दबा लिया। उस शिशु का सिर कुत्ते के दन्तरूपी यन्त्र के बीच पड़ गया। उस ग्रामशार्दूल के द्वारा वह पोटली फाड़ने के लिए सुमनसपुर के निकट ले जाई गई। वहाँ पर वैश्रवण नामक वणिकाधिपति अपनी धनवती नामक भार्या के साथ निवास करता था॥ ७.८.९.१० ॥

वह श्रेष्ठ विचक्षण ज्ञानी, कलाविज्ञ, सुजान श्रेष्ठी क्रीड़ा कर समय बिता रहा था। जिसकी करोड़ों श्वेत ध्वजाओं का अन्त नहीं था ऐसा वह वैश्रवण किंकरों सहित नगर के बाहर सुखपूर्वक रम रहा था। श्वान ने उस वस्त्र की पोटली को फाड़ने के लिए पृथ्वी पर रखा और शीघ्र ही दाँतों से पोटली को खोलने लगा। बालक रोने लगा उसका आक्रन्दन सुनकर सेठ वैश्रवण ने कुत्ते को ललकारा और ले जाते हुए एक शिशु को देखा। शिशु को किसी प्रकार की वेदना नहीं हुई। सच है शुभ कर्मोदय से किसे सुख नहीं होता॥ ११.१२.१३.१४.१५ ॥

घत्ता—वह सम्यग्दृष्टि सेठ बालक को लेकर अपने घर आया और गृह के भीतर जहाँ सेठानी सो रही थी, वहाँ पुत्र को ले आया॥ ६ ॥

दुवई—श्रेष्ठिवर्य बोले—हे चन्द्रवदनी! सुनिये, इस सुन्दर शिशु को लीजिए। संसार में धर्म से ही ऐसा उत्तम जन्म मिलता है अतः इस पुत्र का अतिसुन्दर जन्मोत्सव कीजिए॥ ७ ॥

गाथा—उस प्राप्त नवीन कुमार को उसके रखने योग्य स्थान अर्थात् प्रसूति गृह में स्थापित करके वैश्रवण वणिक ने जन-मन को आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली जन्मोत्सव सम्बन्धी बँधाईयाँ करवायी॥ ६ ॥

बारह दिन बीत जाने पर वैश्रवण और धनवती ने विधिपूर्वक नामकरण की सर्व क्रियाएँ कीं; और इन दोनों ने अति मनोहर 'सुरेन्द्रदत्त' नामकरण किया॥ ७ ॥

उस बालक के प्रभाव से वह वैश्रवण उसी दिन से वास्तविक वैश्रवण अर्थात् कुबेर के समान धनपति हो गया और धनवती भी सचमुच में 'धन्यवती' अर्थात् स्थिर योनि वाली गर्भवती हो गई॥ ८ ॥

जे जाया घण गहणे, जणणी णिरु रुवइ अडवि मज्झम्मि।
सो वालउ वर भुवणे, गाइज्जइ जुवइ जणिसारो॥ ९॥

जाया पुणु विण्णि सुया, कमसो णरदेव धणय णामेण।
वम्मह-लीला-सेलं, सो पत्तो चारु तारुण्णो॥ १०॥

७

पद्धरी— सु-सुरिंददत्तु णं कामएउ, परिणाविउ पिउणा पिय सहेउ॥ १॥
सुमयच्छि दच्छि गय-गमणि णारि, कंचण तणि तिय वसु-वीस-चारि॥ २॥
विसयहुं सुहु भुंजइ वर कुमारु, गुरुदेव भत्तु सत्थत्थ सारु॥ ३॥
विण्णाण कला कउसल पवीणु, णिय विहवे पोसइ हीणु दीणु॥ ४॥
एतह जणणी सु-मइंक लेह, सपत्त तहा णिय खालि देह॥ ५॥
ण णियंति वालु सुकुमालु पत्ति, ता चित्ति चमक्कि धसक्कि झत्ति॥ ६॥
चउदिसि धवि धाइ महीरुहम्मि, ता वालु ण पिक्खइ वणि धरम्मि॥ ७॥
खणि मुच्छि पडी सुमयच्छि जाम, सपाविवि चेयण पवणि ताम॥ ८॥
णं वज्जिहई वर जुवइ जत्थ, णयणं सु जलोलिय णियइ तत्थ॥ ९॥
णवि पस्सइ को वि ण जाणि मज्झि, हा देव पडी संकडि दुगिज्झि॥ १०॥
खणि मुच्छइ खणि चेयण लहेइ, सहि चित्तलेह खणि हक्क देइ॥ ११॥
आरडइ पडइ धर वारवार, आइंदइ णिंदइ जम्मुसार॥ १२॥
णिरु धाह मुयंती तेयतार, उरु णीर पवाहे धुवई दार॥ १३॥
दिगवारि झरइ णं सरय मेहु, हा धी धी दंपई रइ सणेहु॥ १४॥
हो वच्छ मच्छ पंकय विसाल, सिरि वच्छ पमुह लच्छण रसाल॥ १५॥
हा चंपइ वण्ण सुवण्ण देह, हा विंज्जण चच्चिय उद्धरेह॥ १६॥
पिय विरह सयल दुहु गउ सुपिक्खि, हा वाल उवण्ण कवण्ण रिक्ख॥ १७॥

कर्म की विडम्बना तो देखो। जिस जननी ने बालक को जन्म दिया वह दुर्ग्राह्य-अटवी में रो रही है और जिस शिशु ने जन्म लिया उसके प्रसूतिगृह में युवतियों द्वारा जन्मोत्सव सम्बन्धी गीत/सोहर गाये जा रहे हैं॥ ९॥

कालक्रम से उस धनवती ने नरदेव तथा धनद नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। वे दोनों क्रमश: कामदेव के क्रीड़ा पर्वत स्वरूप सुन्दर तरुणावस्था को प्राप्त हुए॥ १०॥

७

पद्धरी—सुरेन्द्रदत्त तो ऐसा लगता था मानों कामदेव ही हो। उसके पिता वैश्रवण ने आनन्दपूर्वक मृगनयनी, चतुरा, गजगामिनी, कंचन-वदनी, बत्तीस कन्याओं के साथ उसका विवाह किया। वह श्रेष्ठ कुमार सारभूत देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति करता हुआ विषय सम्बन्धी सुखों को भोगने लगा। विज्ञान, कला और कौशल में प्रवीण वह सुरेन्द्रदत्त अपने वैभव के द्वारा दीन-हीन अनाथों का पोषण करने लगा॥ १.२.३.४॥

इधर उसकी माता मृगांकलेखा अपने तन को प्रक्षालित कर वहाँ आई है जहाँ बालक को छोड़ गई थी। जब वहाँ अपने सुकुमार बालक को न देखा और न ही पाया है तो उसका हृदय आश्चर्य से घबरा गया है। चारों दिशाओं में जहाँ 'धव' के वृक्ष थे ऐसी वन-भूमि में वह दौड़ती रही परन्तु उसे कही भी बालक दिखलाई नहीं दिया; तब वह मृगनयनी क्षण भर में मूर्च्छित/चैतन्यहीन हो गिर पड़ी और दूसरे ही क्षण वन-पवन के द्वारा स्वयं चैतन्य हो गई। इस स्थिति में वह ऐसी लगती थी मानों वज्र से आहत युवती सजल नेत्रों से निहार रही हो। हा देव! मैं ऐसे निविड़, दुर्ग्राह्य वन में पड़ी हूँ जहाँ न मुझे कोई देखता है, न कोई मुझे जानता है॥ ५.६.७.८.९.१०॥

वह क्षण में मूर्च्छित हो जाती है, क्षण में चेतना युक्त हो जाती है और क्षण में सखी चित्रलेखा को पुकारने लगती है। विलाप करती हुई वह बार-बार धरती पर गिर पड़ती है। आक्रन्दन करती हुई अपनी स्त्री पर्याय की निन्दा करती है। अत्यन्त उच्च स्वर में धहाड़ मारती हुई वह नारी अश्रुरूपी जल-प्रवाह से अपना वक्षस्थल धोती है। उसके नेत्रों से झरता हुआ जल-प्रवाह ऐसा लगता है मानों शरद ऋतु के मेघ झर रहे हों। हा! ऐसे दम्पत्ति सम्बन्धी रति नेह को धिक्कार हो, धिक्कार हो। हे पुत्र! तेरा शरीर मत्स्य, पद्म, श्रीवत्स आदि प्रमुख और विशाल लक्षणों से सुन्दर है। हा! तेरी चम्पक वर्णी सुवर्ण देह ऊर्ध्व रेखाओं और व्यंजनों से विभूषित है। हाय वत्स! तू किस नक्षत्र में उत्पन्न हुआ था। तुझे देखकर मेरे प्रिय विरह जन्य दु:ख नष्ट हो गए॥ ११.१२.१३.१४.१५.१६.१७॥

जे जाया घण गहणे, जणणी णिरु रुवइ अडवि मज्झम्मि।
सो वालउ वर भुवणे, गाइज्जइ जुवइ जणिसारो॥ ९॥

जाया पुणु विण्णि सुया, कमसो णरदेव धणय णामेण।
वम्मह-लीला-सेलं, सो पत्तो चारु तारुण्णो॥ १०॥

७

पद्धरी— सु-सुरिंददत्तु णं कामएउ, परिणाविउ पिउणा पिय सहेउ॥ १॥
सुमयच्छि दच्छि गय-गमणि णारि, कंचण तणि तिय वसु-वीस-चारि॥ २॥
विसयहुं सुहु भुंजइ वर कुमारु, गुरुदेव भत्तु सत्थत्थ सारु॥ ३॥
विण्णाण कला कउसल पवीणु, णिय विहवे पोसइ हीणु दीणु॥ ४॥
एतह जणणी सु-मइंक लेह, सपत्त तहा णिय खालि देह॥ ५॥
ण णियंति वालु सुकुमालु पत्ति, ता चित्ति चमक्कि धसक्कि झत्ति॥ ६॥
चउदिसि धवि धाइ महीरुहम्मि, ता वालु ण पिक्खइ वणि धरम्मि॥ ७॥
खणि मुच्छि पडी सुमयच्छि जाम, सपाविवि चेयण पवणि ताम॥ ८॥
णं वज्जिहई वर जुवइ जत्थ, णयणं सु जलोलिय णियइ तत्थ॥ ९॥
णवि पस्सइ को वि ण जाणि मज्झि, हा देव पडी संकडि दुगिज्झि॥ १०॥
खणि मुच्छइ खणि चेयण लहेइ, सहि चित्तलेह खणि हक्क देइ॥ ११॥
आरडइ पडइ धर वारवार, आइंद्दइ णिंदइ जम्मुसार॥ १२॥
णिरु धाह मुयंती तेयतार, उरु णीर पवाहे धुवई दार॥ १३॥
दिगवारि झरइ णं सरय मेहु, हा धी धी दंपई रइ सणेहु॥ १४॥
हो वच्छ मच्छ पंकय विसाल, सिरि वच्छ पमुह लच्छण रसाल॥ १५॥
हा चंपइ वण्ण सुवण्ण देह, हा विंज्जण चच्चिय उद्धरेह॥ १६॥
पिय विरह सयल दुहु गउ सुपिक्खि, हा वाल उवण्ण कवण्ण रिक्ख॥ १७॥

कर्म की विडम्बना तो देखो। जिस जननी ने बालक को जन्म दिया वह दुर्ग्राह्य-अटवी में रो रही है और जिस शिशु ने जन्म लिया उसके प्रसूतिगृह में युंवतियों द्वारा जन्मोत्सव सम्बन्धी गीत/सोहर गाये जा रहे हैं॥ ९॥

कालक्रम से उस धनवती ने नरदेव तथा धनद नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। वे दोनों क्रमशः कामदेव के क्रीड़ा पर्वत स्वरूप सुन्दर तरुणावस्था को प्राप्त हुए॥ १०॥

७

पद्धरी—सुरेन्द्रदत्त तो ऐसा लगता था मानों कामदेव ही हो। उसके पिता वैश्रवण ने आनन्दपूर्वक मृगनयनी, चतुरा, गजगामिनी, कंचन-वदनी, बत्तीस कन्याओं के साथ उसका विवाह किया। वह श्रेष्ठ कुमार सारभूत देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति करता हुआ विषय सम्बन्धी सुखों को भोगने लगा। विज्ञान, कला और कौशल में प्रवीण वह सुरेन्द्रदत्त अपने वैभव के द्वारा दीन-हीन अनाथों का पोषण करने लगा॥ १.२.३.४॥

इधर उसकी माता मृगांकलेखा अपने तन को प्रक्षालित कर वहाँ आई है जहाँ बालक को छोड़ गई थी। जब वहाँ अपने सुकुमार बालक को न देखा और न ही पाया है तो उसका हृदय आश्चर्य से घबरा गया है। चारों दिशाओं में जहाँ 'धव' के वृक्ष थे ऐसी वन-भूमि में वह दौड़ती रही परन्तु उसे कही भी बालक दिखलाई नहीं दिया; तब वह मृगनयनी क्षण भर में मूर्च्छित/चैतन्यहीन हो गिर पड़ी और दूसरे ही क्षण वन-पवन के द्वारा स्वयं चैतन्य हो गई। इस स्थिति में वह ऐसी लगती थी मानों वज्र से आहत युवती सजल नेत्रों से निहार रही हो। हा देव! मैं ऐसे निविड़, दुर्ग्राह्य वन में पड़ी हूँ जहाँ न मुझे कोई देखता है, न कोई मुझे जानता है॥ ५.६.७.८.९.१०॥

वह क्षण में मूर्च्छित हो जाती है, क्षण में चेतना युक्त हो जाती है और क्षण में सखी चित्रलेखा को पुकारने लगती है। विलाप करती हुई वह बार-बार धरती पर गिर पड़ती है। आक्रन्दन करती हुई अपनी स्त्री पर्याय की निन्दा करती है। अत्यन्त उच्च स्वर में धहाड़ मारती हुई वह नारी अश्रुरूपी जल-प्रवाह से अपना वक्षस्थल धोती है। उसके नेत्रों से झरता हुआ जल-प्रवाह ऐसा लगता है मानों शरद ऋतु के मेघ झर रहे हों। हा! ऐसे दम्पत्ति सम्बन्धी रति नेह को धिक्कार हो, धिक्कार हो। हे पुत्र! तेरा शरीर मत्स्य, पद्म, श्रीवत्स आदि प्रमुख और विशाल लक्षणों से सुन्दर है। हा! तेरी चम्पक वर्णी सुवर्ण देह ऊर्ध्व रेखाओं और व्यंजनों से विभूषित है। हाय वत्स! तू किस नक्षत्र में उत्पन्न हुआ था। तुझे देखकर मेरे प्रिय विरह जन्य दुःख नष्ट हो गए॥ ११.१२.१३.१४.१५.१६.१७॥

घत्ता— अवमाण किया पिउ माइ णिरु, सहिय बिजोउ सहारियओ।
हा विहि किं कियउ णियांणु पइ, सुय संबंधु णिवारियओ॥ ७॥

गाथा—रे हियय तुज्झ पणया, अंजलि वंधो कओ य तुह एसो।
पज्जलिर जल णिखित्तं, तडत्ति फुट्टेसु लवणं वा॥ ११॥

८

पद्धरी— इय तारसरे विलवंति णारि, आइण्णि अइंदणु करुण धारि॥ १॥
सा गोव गिहणि ललिया विहांणि, णीया णिय धामि सई सयाणि॥ २॥
तिणि धीरविया धणसार धीय, णिक्कित्तिमि पिम्मि रमा विणीय॥ ३॥
हे पुत्ति ण सुहियउ णिच्च कोइ, ससि-सूर अवत्था घडइ लोइ॥ ४॥
जुव्वणि जर जम्मि मरणु वियाणि, सुहियउ णिरु होइ दुही णियाणि॥ ५॥
संजोइ विजोयहु इक्क सत्थु, आवइ ण गहिज्जइ को गिहत्थु॥ ६॥
दंपइ संजोउ विजोउ इत्ति, सियठाणि सवइ दारिद्द सत्ति॥ ७॥
सुहि दुहि ण करिज्जइ मणि वियप्पु, सिविणइ सिय दंसणि कवणु दप्पु॥ ८॥
ईसरु दारिद्द राउ रंकु, असई आइरु पइवइ कलंकु॥ ९॥
विह वसि णिरु णडइ सया सयाणु, किर कम्मे कासु ण मलिउ माणु॥ १०॥
मण भिंतरि चिंतइ चंदलेह, किं पामरि णारि णिय बुद्धि एह॥ ११॥
दुहु छंडि पइंपइ सुणहि भद्दि, णिरुवम मइ किं तव वीण सद्दि॥ १२॥
ता भासइ गोव वहू वियाणि, भद्दलउर णयरि णिवास थाणि॥ १३॥
णामे वसंतु सिट्ठी सयाणु, खडदंसण दाइउ णिच्च दाणु॥ १४॥
सो धम्म बंधु मह सुट्ठ सील, महुरी भामिणी गय-गमण लील॥ १५॥

घत्ता—प्रिय की माता अर्थात् सासू ने मेरा अपमान किया, घर से निकाल दिया। पक्ष में पिता और माता ने मेरा अपमान किया अर्थात् घर में नहीं रखा। मैंने सखी का वियोग सहा। हाय विधाता! मैंने ऐसा क्या निदान किया था जिसने तूने पति-पुत्र के सम्बन्ध को भी निवार दिया अर्थात् दोनों से मुझे पृथक् कर दिया॥ ७॥

गाथा—रे हृदय! मैं तुझे अञ्जलि बाँधकर प्रणाम करती हूँ, तू ऐसा है जैसे खोलते हुए जल में फेंकी गई लवण डली तड़-तड़कर फूट जाती॥ ११॥

८

पद्धरी—इस प्रकार उच्च स्वर में विलाप करती हुई उस सती के आक्रन्दन को गोप पत्नी ललिता नामक ग्वालिनी ने सुना। वह करुणावती सुजान स्त्री सती को अपने घर ले गई। उसने धनसार की दुहिता को धैर्य बँधाया और वह विनीत रमणी सती से नैसर्गिक प्रेम करने लगी। हे पुत्री! कोई सदा सुखी नहीं रहता। संसार में सूर्य और चन्द्र की अवस्थाएँ घटती रहती हैं। जिस प्रकार यौवन के साथ बुढ़ापा और जन्म के साथ मरण सुनिश्चित है उसी तरह सुखी जन नियम से दुःखी होते हैं॥ १.२.३.४.५॥

ऐसा सिद्धान्त है 'संयोग और वियोग दोनों एक साथ रहते हैं।' ऐसा कौन सा गृहस्थ है जिसे आपत्तियाँ ग्रहण न करती हों। दम्पत्ति का संयोग वियोग को तथा लक्ष्मी का आस्पद दारिद्य शक्ति को उत्पन्न करता है। इसलिए मन में विकल्प नहीं करना चाहिए क्योंकि लक्ष्मी तो स्वप्न में दिखाई देती है अर्थात् स्वप्न वत् अस्थिर है। उस पर क्या दर्प करना। जैसे ऐश्वर्यवान्, दरिद्री, राजा और रंक यदि ये कुत्सित शील वाले हैं तो इनका आदर पतिव्रता के लिए कलंक की बात है उसी प्रकार चपल लक्ष्मी का आदर बुद्धिमानों को अशोभनीय बात है। कर्माधीन सज्जन जन भी संसार में सदैव नट की तरह नाचते रहते हैं। कर्मोदय से किस जीव का मान मलिन नहीं होता?॥ ६.७.८.९.१०॥

मन-ही-मन चन्द्रलेखा विचार करती है, क्या इस बेचारी की यह अपनी ही बुद्धि है। अपने दुःख को छोड़कर वह सती कहती है—हे भद्रे! सुनो, आपकी बुद्धि तो उपमातीत है पर आपके वचन पीड़ा युक्त क्यों हैं? वह स्त्री कहती है—मुझे गोप-वधु जानिए! भद्दलपुर नगरी मेरा निवास स्थान है। वहाँ पर बसन्त नामक एक चतुर सेठ है जो षट्दर्शन का उत्तराधिकारी होने से नित्य ही दान देता है। उत्तम शील वाला वह श्रेष्ठी मेरा धर्म-भ्राता है। उसकी मधुरी नाम की भार्या है। जिसकी गमन लीला गज के समान है अर्थात् वह गजगामिनी है॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

तिंह घरि एकइया आउ साहु, महु तं दंसणि हुव धम्म लाहु ॥ १६ ॥
आइण्णि गिरा दय-धम्मु रम्मु, मइ छंडिउ पुत्ती पाव कम्मु ॥ १७ ॥
तं सुणि वइयरु संतोसु जाउ, जाणिउ किर तासु दयालु भाउ ॥ १८ ॥
तिट्ठइ तिह गेहि पच्छण्ण-वेसि, वणजारिणि उत्ति सया विदेसि ॥ १९ ॥
सुहि णिवसंती तिय धम्म झाणि, आइउ सो सिट्ठि जि तस्स ठाणि ॥ २० ॥

घत्ता— गोउलु णिरु पिक्खि सया वणिओ, धम्म ससा गिहि आईओ।
तहिं रुवरासि सु णियंतु सई, पावलीणुं मणुं जाईओ ॥ ८ ॥

दुवई— तणि अहिराम खाम मज्झंकिय, जिय सुर-राम सोहया।
अब्भुव रुव भूव-भामिणि इव, पिक्खिसु सिट्ठि सरहया ॥ ८ ॥

दोहा— ललिता प्रति वणि वरु लवइ, को तिय कंचण देह।
गोपि कहइ वणिजारिणी, धम्म सुता मम एह ॥ ९ ॥

सेट्ठि भणइ तुझ भय नहीं, राखहि सुंदरि धामि।
राइ सुणी नइ दारिसी, णेसी तिय णिज ठामि ॥ १० ॥

गाथा— किं किं ण कुणइ माया, परदार पसत्त चित्त चित्ताणं।
सा णिक्कलंक सीला, ण सहइ पर पुरिस णामंपि ॥ १२ ॥

विम्हइ वणि मणि चिंतइ, एसा महु गेहि णिच्च ठिय वाला।
कमेण किर मज्झ वसा, होही अवसं ण संदेहो ॥ १३ ॥

९

पद्धरी— तदणंतरि ललिया लवइ तासु, किं किज्जइ एयहु दिण्ण वासु ॥ १ ॥
सा परम सई सुंदरि सयाण, असई तिंह वासु अणंत ठाण ॥ २ ॥
एयहों सावेखउ होंहि गोह, तिंह मम्मु ण जाणहि जे अवोह ॥ ३ ॥
वणि जंपइ महु घरि चंद सूर, ण वियाणइ कोई जि जुण्ह पूर ॥ ४ ॥
हउ रक्खणि तिय णिय णिरु अवासि, जिम ठीय सुही तव धामि आसि ॥ ५ ॥

उसके भवन में एक साधु आया। मुझे भी उनके दर्शन का धर्म लाभ हुआ। हे पुत्री! उसके दया धर्म युक्त मनोहर वचनों को श्रवण कर मैंने पाप कर्म छोड़ दिया। गोप-वधु के इस वृत्तान्त को सुनकर मृगांकलेखा को सन्तोष हुआ। उसने गोप वधु के दयाभाव को जान लिया। और वह प्रच्छन्न वेश में उस गोप-वधु ललिता के घर पर ठहर गई यह कहते हुए कि मैं सदैव विदेशों में भ्रमण करनेवाली वनजारिन हूँ। मृगांकलेखा सुखी होकर धर्म ध्यानपूर्वक वहाँ निवास कर रही थी, इसी बीच वह बसन्त सेठ वहाँ पर आया॥ १६.१७.१८.१९.२० ॥

घत्ता—बसन्त वणिक सदा की भाँति अपनी धर्म बहिन के घर गोकुल निरीक्षण के लिए आया। वहाँ पर रूप की राशि सती मृगांकलेखा को देखते ही उसका मन पापयुक्त हो गया अर्थात् वह मृगांकलेखा पर मोहित हो गया॥ ८॥

दुवई—मृगांकलेखा को देखकर सेठ ने अपना शिर धुन लिया, 'ओह इसका शरीर सुन्दर है, कटि प्रदेश क्षीण है। इसने अपनी मनहर शोभा से देवों को भी जीत लिया है यह अद्‌भुत रूपवाली नारी राजरानी के समान है'॥ ८॥

दोहा—वणिक श्रेष्ठ ललिता गोपिका से कहता है—स्वर्ण देहवाली यह स्त्री कौन है? गोपी कहती है—यह वनजारिणी है और मेरी धर्मपुत्री है॥ १०॥

सेठ बोला—तुझे कोई डर नहीं है जो इस सुन्दरी को घर में रखे है? राजा इस नूतन स्त्री के विषय में सुनेगा तो इसे अपने राजभवन में ले जाएगा॥ ११॥

गाथा—परस्त्री में आसक्त चित्त क्या-क्या मायाचार नहीं करता? वह सती निष्कलंक शीलवती है जो परपुरुष का नाम भी नहीं सुनती। आश्चर्यान्वित हो श्रेष्ठी मन में विचार करने लगा—नित्य ही मेरे गृह मन्दिर रहती हुए यह बाला अवश्य ही क्रम-क्रम से मेरे अधीन हो जाएगी इसमें कोई सन्देह नहीं है॥ १२.१३॥

९

पद्धरी—अथानन्तर ललिता बसन्त से कहती है—असती के लिए तो अनन्त आवास स्थान होते हैं। यह तो महासती है, परम विदुषी है, इसे अपने घर में आवास देकर क्या करोगे। जों अज्ञानी पुरुष इन सतियों का मर्म/रहस्य नहीं जानते वे ही इनकी अपेक्षा रखते हैं। बसन्त सेठ कहता है—मेरे घर को चन्द्र, नभमणि सूर्य तथा ज्योत्स्ना का पूर कोई भी नहीं जानता। जैसे यह नारी आपके घर में सुखपूर्वक अवस्थित है, उसी तरह मैं भी इसे अपने घर में रखूँगा॥ १.२.३.४.५॥

वणि वाणी सुणि सा गोव णारि, ससिलेह समप्पिय सुहयकारि ॥ ६ ॥
गिरि गोव वहू चलि जाइ जत्थ, सा-सुंदरि सिट्ठि अवासु तत्थ ॥ ७ ॥
एयंत भवणि सुपछण्ण वित्ति, रक्खिय ण वियाणइ जेम पत्ति ॥ ८ ॥
तिंह वुत्तु ण तुज्झ णियासु भव्वु, कर णिज्जु कज्जु ठिय ठाणि सव्वु ॥ ९ ॥
दिण पंच-सत्त-दह-तिह णिवासि, सा अच्छइ भामिणि पुण्ण रासि ॥ १० ॥

वणि वरु णिसि अद्ध समइ सपाउ, सहसा चडि मंदिर सिहरि आउ ॥ ११ ॥
हिय सास भास सु-पछण्ण होइ, भय कंपिरु णिय पिय णियर लोइ ॥ १२ ॥
करिरंध अहोगइ णिवडमाणु, फुट्टिवि णिलाडु ठिउ चत्त पाणु ॥ १३ ॥
सुणि पत्ति धम्मक्कउ आइ दिट्ठु, तिणि झत्ति वियाणिउ पावि सिट्ठु ॥ १४ ॥

घत्ता—सिट्ठणि भय भीया पिक्खिसु तीया रुवरासिवर सुद्ध सई।
णरवइ णिरु दंडइ अह सिरु खंडइ जइ जाणइ किर कज्ज गई ॥ ९ ॥

गाथा—जामिणि विराम समए, पावी पावेण जम-मुहे पत्ते।
सहसा अणत्थ सत्थं, लहंति पावा किमच्छरियं ॥ १४ ॥

सारय मइंक धवला, मइंकलेहाय झत्ति वित्थरिया।
कित्ती कलंकमुक्कं, सीलं किं किं ण साहेई ॥ १५ ॥

दुवई—अद्धरयणि कड्ढिसु णिय मंदिरि, सुंदरि गहणि घल्लिया।
एगागिणि धारि मणि साहसु, जिणु सुमरति चल्लिया ॥ ९ ॥

१०

रोवइ वसंत परियणु सपत्ति, खणी धाह पमिल्लहि अद्धरत्ति ॥ १ ॥
णारी आइंदइ णाह णाह, हा कह गउ सामिय करि अणाह ॥ २ ॥
हा रोइ विसूई मुअउ कंतु, हा को ण वियाणइं मम्म अंतु ॥ ३ ॥
संकारु करिवि सज्जण जणेहि, मिलि सयल जलंजलि तासु देहि ॥ ४ ॥
पुणु परहरि सोउ सुकज्जि लग्ग, संसारिण के किर मणुव भग्ग ॥ ५ ॥

वणिक के वचन सुनकर ग्वालिन ने सौभाग्य को करनेवाली मृगांकलेखा को उसे सौंप दिया। वह गोप वधु स्वयं सुन्दरी सहित सेठ के आवास पर आई तथा मृगांकलेखा को उसके एकान्त भवन में इस प्रकार गुप्त रीति से रखा, जिससे सेठ की पत्नी भी उसे न जान सकी। सेठ मृगांकलेखा से बोला—हे भव्ये! तुझे बाहर निकलने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपने करने योग्य सारे दैनिक कार्य इसी स्थान पर करना। वणिक के महल में पुण्य की राशि उस सुन्दर नारी को रहते हुए पाँच, सात, दस अर्थात् बाईस दिन बीत गए॥ ६.७.८.९.१० ॥

एक दिन अर्द्धरात्रि में पाप युक्त हो वह सेठ महल के शिखर पर अचानक ही चढ़ आया और जैसे ही उसने अपने प्रिय समूह को देखा वह भय से काँप गया, उसकी हृदय गति, श्वांस और बोल रुक गए। शिखर में छिद्र कर नीचे उतरते हुए उसने अपना मस्तक फोड़कर प्राण त्याग दिए। धमाका यानी धम-धम की आवाज सुनकर सेठानी वहाँ आई और देखते ही उसने शीघ्र ही जान लिया कि सेठ पापी हो गया॥ ११.१२.१३.१४ ॥

घत्ता—रूप की राशि उस निर्दोष सती को देखकर सेठानी भयभीत हो गई। वह सोचने लगी—राजा निश्चित ही दण्ड देगा अथवा शिरच्छेद करेगा, न जाने क्या गति होगी?॥ ९ ॥

गाथा—रात्रि में विश्राम के समय पापी सेठ पाप के फलस्वरूप यम के मुख को प्राप्त हुआ। पापी जीव सहसा ही अनर्थ समूह को प्राप्त करते हैं इसमें आश्चर्य ही क्या है?॥ १४ ॥

शरच्चन्द्रवत् निर्मल और निष्कलंक कीर्ति ने मृगांकलेखा को सर्वत्र विस्तरित कर दिया। सच है शील से क्या-क्या सिद्ध नहीं होता?॥ १५ ॥

दुवई—सेठानी ने अर्द्धरात्रि में ही सुन्दरी को अपने भवन से निकालकर गहन जंगल में छुड़वा दिया। वह मन में साहस धारणकर जिनेन्द्र प्रभु का स्मरण करती हुई अकेली ही चल पड़ी॥ ९ ॥

१०

पद्धरी—बसन्त सेठ की पत्नी रोने लगी और अर्द्धरात्रि में ही अतिशीघ्र संकोचपूर्वक संकटकालीन आवाज द्वारा अर्थात् धाड मारकर परिजनों को पुकारने लगी। 'हे नाथ! हे नाथ!! हाय स्वामी मुझे अनाथ करके आप कहाँ चले गये' इत्यादि वचनों द्वारा आक्रन्दन करती है। पति के मर जाने पर वह रोती है, विसूरती है परन्तु उसकी मर्मान्तक पीड़ा को कोई नहीं जानता है, अथवा उसके पति की मृत्यु के रहस्य को किसीने नहीं जाना। सभी सज्जन पुरुषों ने मिलकर सेठ का अन्तिम संस्कार कर उसके शरीर को जलांजलि दी और शोक का परिहार कर अपने-अपने कार्यों में लग गए; सच है संसार में कौन मनुष्य नष्ट नहीं होता॥ १.२.३.४.५ ॥

गोवलि गच्छइ सु-मइंकलेह, परिभट्ठ मग्ग दिढ वम्म एह ॥ ६ ॥
णिग्गोह महीरुह अह णिविट्ठ, तम रइंणि पईठिय तहवि सिट्ठ ॥ ७ ॥
णिय कम्म सरुव णिरुव णत्थि, पुणु गच्छइ तत्थ ण कोइ सत्थि ॥ ८ ॥
मइरेह तवसि मढ णियडि जाइ, आसम णिवंसि खणि तत्थ थाइ ॥ ९ ॥
करुणारसि वुल्लइ तवसि सोइ, हे तणया तुज्झ ण सत्थु कोइ ॥ १० ॥
सा लवइ तिया सुणि ताय वाय, किर कम्मि विडंविय हउ वराय ॥ ११ ॥
जइ दिसहि मग्गु महु णयर गाम, तद्दिसि गच्छमि जह गोवधाम ॥ १२ ॥
हउ गोव वहु भुल्ली वणम्मि, णिसि सयल गमिय तरुगण घणम्मि ॥ १३ ॥
सुंदरि मंदिर पुरु णयरु एहु, सम्मुहु दीसइ णं सरइ मेहु ॥ १४ ॥
आइण्णि तवसि गिर गच्छमाण, पंविसंति सई सुपतोलि ताण ॥ १५ ॥
तग्गाम सामि किंकर णरेहिं, गहिया सा-सुंदरि असि करेहि ॥ १६ ॥
चंडी मंदिरि णिय पाव खित्त, वंदीयण मज्झि दुसज्झि घित्त ॥ १७ ॥

घत्ता— तत्थ जि णवणारी, णिरुवमसारी, काम एव सम गोह दसा।
पिक्खिवि ससिलेहा कंपिरदेहा, आइंदहि किंह आउससा ॥ १० ॥

दुवई— वइयरु चंदलेह आइण्णइ, भासइ इक्क भामिणी।
सुंदर राइ पत्ति सुय जम्मणि, पण जुग णर दह कामिणी ॥ १० ॥

दोहा— मरण जाणि रोवहि सवइ, हम ठिदि णिरु उणवीस।
अब सब वलि दीजहिं तुरित, तुझ आगमि हुव वीस ॥ ११ ॥

प्राणी सयल छुडाइसिउ, निज बल बुद्धि उपाइ।
मोनिकरी धीरजु धरउ, श्री भगवंत सहाइ ॥ १२ ॥

सुणि ससिलेह सई गिरा, आनंदित णर णारि।
भीतिचित्तमिव ठिय सकल, आतम धम्म विचारि ॥ १३ ॥

गाथा—तदणंतरि ते णीया, चंडी भवणे णहणण समयम्मि।
भासइ सुंदरु राओ, विणु जीविय गहह वरु दिण्णं ॥ १६ ॥

इधर गोकुल की ओर जाती हुई मृगांकलेखा मार्ग भूल गई। एक दृढ़ कवचवाले वट वृक्ष के नीचे बैठ गई और उसने वही स्थित रहकर शेष अँधेरी रात्रि बिता दी। अपने कर्मों का स्वरूप निरूपण करने के लिए अर्थात् अपना दु:ख प्रकट करने के लिए उसके पास कोई नहीं था। जब वह पुन: चलने लगी, तब वहाँ उसका कोई साथी नहीं था। वह मतिरेख नामक तपस्वी के मठ के निकट आई और वहीं आश्रम में एक क्षण के लिए विश्राम हेतु ठहर गई। करुण रस युत स्वर में उस तपस्वी ने कहा—हे पुत्री! तेरे साथ कोई नहीं है?॥ ६.७.८.९.१० ॥

वह भामिनी कहने लगी—हे तात! मेरी बात सुनो, मैं कर्म से विडम्बित हूँ। जिस दिशा की ओर मार्ग गया है वही मेरा नगर/ग्राम है। जहाँ ग्वालों का धाम है मैं उसी दिशा में जा रही हूँ। मैं गोप-वधु हूँ, वन में मार्ग भूल गई हूँ। मैंने सारी रात्रि सघन तरुवरों के नीचे व्यतीत की है। हे सुन्दरी! यह सामने जो दिखलाई पड़ रहा है, वह मन्दिरपुर नगर है जो ऐसा लगता है मानों शरद् ऋतु का मेघ हो। तपस्वी के ऐसे वचन आकर्ण्य कर उस जाती हुई सती ने प्रतोली में प्रवेश किया॥ ११.१२.१३.१४.१५ ॥

'उस ग्राम स्वामी के किंकर पुरुष जो हाथों में तलवार लिए थे' के द्वारा वह सुन्दरी पकड़ ली गई। दुसाध्य बन्दीजनों के मध्य घिरी हुई वह सुन्दरी पाप के क्षेत्र स्वरूप चण्डी मन्दिर में ले जाई गई॥ १६.१७ ॥

घत्ता—वहाँ पर पहले से ही अनुपम रूपवाली नव नारियाँ तथा कामदेव के समान दस सुभट उपस्थित थे। वे सब मृगांकलेखा को देखकर कम्पित देहवाले हो गए अर्थात् काँप गए; अब जीवन कैसे बचेगा? कहकर आक्रन्दन करने लगे॥ १० ॥

दुवई—चन्द्रलेखा ने सारी घटना सुनी। एक स्त्री कहने लगी—सुन्दर नामक राजा की पत्नी पुत्र जन्म पर पाँच युगल अर्थात् दस पुरुष एवं दस स्त्रियों की बलि देना चाहती है॥ १० ॥

दोहा—अपना मरण जानकर सब रो रहे हैं; क्योंकि अभी तक हम लोग उन्नीस थे, तेरे आने से पूरे बीस हो गए हैं अत: तत्काल ही सबकी बलि दी जाएगी॥ ११ ॥ मैं अपनी बुद्धि बल रूपी उपाय के द्वारा सकल प्राणियों को छुड़वाती हूँ। आप सभी मौनपूर्वक धैर्य धारण कीजिए। श्री अरिहन्त भगवान् ही सहायक हैं॥ १२ ॥ शशिलेखा के ऐसे वचनों को सुनकर समस्त नर-नारी आनन्दित हुए। वे आत्म धर्म का विचार करते हुए भित्ति चित्र की भाँति स्थित हो गए॥ १३ ॥

गाथा—तदनन्तर वे सभी वध के समय चण्डी भवन में ले जाए गए। सुन्दर राजा बोला—जीवन के अतिरिक्त दिए जानेवाले वरदान को ग्रहण करो। दसों पुरुष और दसों नारियाँ देवी के सम्मुख वध के लिए बैठाए गए। उन्हें जीवनदान को छोड़कर कुल धर्म की शिक्षा दी जाने लगी॥ १६.१७ ॥

दस पुरिसा दस णारी, देवि पुरो अइत्थ हणणिज्जा।
कुल धम्मो णिरु सीसइ, जीविय दाणं च मुत्तूण॥ १७॥

उक्तं च—

कुल धम्मो कुलि समओ, णिवडिउ एयस्स जीवाणं।
कंपिर तणूण जीयं हरिऊणं दिज्जए अवरं॥ १॥

जो णिय जीविय कज्जे, चएइ अम्मा वईय रज्जंपि।
कह तज्जि घाय पावे, फिट्टइ अवरेहि दाणेहिं॥ २॥

मेरुगिरि कणय दाणं, धण्णाण देउ कोडि रासीउं।
एक्क वहेइ जीवं, णहु छुट्टइ तेण दाणेण॥ १८॥

एवं विचिंतयंतो भणिज्जमाणो वि तेण पुणरुत्तं।
वंदिगण भीयमणो, ण किंपि पडि जंपियं तस्स॥ १९॥

एवं विचिंतयंतो, भणिज्जमाणो वि तेण णवि लवियं।
गहियं णिरु मउण वउ, ससिलेहा पुरउ ठिय तस्स॥ २०॥

मग्गइ वरु राइदियं, किव किज्जइ अवणिणाह तिवि हिज्ज।
कित्ति पवट्टइ लोए, सप्पुरिसाणं च दाय णिरु इक्कं॥ २१॥

तं राए पडिवण्णं, जंपइ ससिलेह माय कज्जमिणं।
पढमं चिय मे मारसु, पुरउं चंडिय एगाए॥ २२॥

सो आह को विसेसो मरणे पच्छाव पुव्वओ विहए।
सा आह मया पढमं, मारी जं ते ण पिच्छामि॥ २३॥

अच्छीहि पिक्खणाओ, सोऊ सवणे हि पाउ जं बहुलं।
जीव वहंतो पढमं, मरेमि जइ तो भवे भव्वं॥ २४॥

कहा भी है—

कम्पित शरीरवाले जीवों को एवं निपतित जीवों में से एक जीव को छोड़कर शेष जीवों की बलि देनी चाहिए; यही कुल धर्म, कुल शास्त्र का सिद्धान्त है॥ १॥

जो अपने जीवन के लिए अम्मा देवी के लिए अपना राज्य भी छोड़ देता है, उसका घात करने में पाप कहाँ? वह तो अन्य दानों के द्वारा दूर हो जाता है॥ २॥

सुमेरु पर्वत के बराबर स्वर्ण का दान करने से अथवा अन्य धन-धान्य की करोड़ों ढेरियाँ/राशियाँ दान देने पर भी इन दानों के द्वारा एक जीव के वध से होनेवाला पाप नहीं छूटता॥ १८॥

इस प्रकार विचार करते हुए राजा के द्वारा कहे गए पुनरुक्त वचनों के प्रति भीत मनवाले बन्दीजनों ने कुछ भी नहीं कहा॥ १९॥

राजा के इस प्रकार विचार करते हुए बार-बार कहे जाने पर उन बन्दीजनों ने कुछ भी नहीं कहा और मौन व्रत धारण कर मृगांकलेखा के सामने खड़े हो गए॥ २०॥

भावार्थ—भयभीत बन्दीजनों ने राजा के उपर्युक्त विरोधी वचनों को 'एक ओर तो राजा कह रहा है कि कम्पित देह, निपतित में से एक को छोड़कर अन्य जीवों की बलि देना चाहिए यही कुल धर्म और कुल समय है; दूसरी ओर सुमेरू पर्वत बराबर स्वर्णादिक दान से एक जीव के वध से होनेवाला पाप नहीं छूट सकता', सुनकर सभी निरुतर रहे कि इस जड़मति राजा को कौन और कैसे समझाए?

मृगांकलेखा नृपति से उनके द्वारा दिया गया वरदान माँगती है—हे अवनिपति! कृपा कीजिए। इन बन्दीजनों को छोड़ दीजिए। इससे लोक में आपकी कीर्ति विस्तरित होगी तथा सत्पुरुषों का यही एक श्रेष्ठ दान है॥ २१॥

राजा के द्वारा स्वीकृत मृगांकलेखा कहती है—माता के इस बलि कार्य हेतु चण्डीदेवी के समक्ष पहले मुझ अकेली को मारिए॥ २२॥

राजा बोला—इसमें क्या विशेषता है। पहले मरो या बाद में? वह बोली—मैं पहले मारी जाऊँगी तो अपनी आँखों से इन प्राणियों को मरते हुए तो नहीं देखूँगी॥ २३॥

हे नरेश! आँखों से देखा जानेवाला पाप कानों से सुने जानेवाले पाप की अपेक्षा अधिक होता है। यदि इन जीवों के वध होने से पूर्व मैं मारी जाऊँगी तो लोक में यह कार्य श्रेष्ठ होगा॥ २४॥

ठाव ण जिय जत्थ वहा, अखमा हं राइ किं सु दव्वेण।
जो थावरेसु कंपइ, सो किं तस वहणु पस्सेई॥ २५॥

सुंदर बुद्धि सुंदरु, णामे भूवो पयंपए जाम।
तं गच्छ मए मुक्की, जं एसा एरिसा बुद्धि॥ २६॥

सा लवइ हो! महीस! मइ इक्के घादणेण वर कज्जं।
एसा सव्ववि वंजण, णहि लक्खण चच्चिओ कोई॥ २७॥

पुणराह भूमिणाहं, लक्खण वर बुद्धि तुज्झ सारिच्छी।
णहि भूवलए वीया, मइ मुक्की गच्छ कमलच्छी॥ २८॥

सा आह भाय णाहं, एक्का गच्छामि कहवि जीवंती।
पच्छा मारीजंतो, मुत्तुं सव्वेइ मे वंदे॥ २९॥

मइ इक्कं चिय णिहणेसु, वरमिह मुच्चे सु सव्व वंदाणि।
मह तणुणा उवयारो, जइ हवइ ण किं मए पत्त॥ ३०॥

११

पद्धरी— आइण्णि गिरा ससिलेह राउ, सिरु विहुणइ मणि चिंतइ अपाउ॥ १॥
उवयार सार यह णारि कोइ, मुद्धातिय भणहि अयाण लोइ॥ २॥
पर-पाणवहा कारणि सा एह, अणुकंपे अप्पइ मरणु देह॥ ३॥
अम्हारिस जीव वहंति मूढ, तिय णेह गेहि पावेण छूढ॥ ४॥
णिरु थक्कइ महि-वइ मोणि जत्थ, मंती आहासइ कज्जु तत्थ॥ ५॥
वलि पूय केज्जि किर पढम गोह, दारिज्जहि जणि वसु तुरिय सोह॥ ६॥
णारी णिहणणि णवि होइ सिद्धि, पूयापमाणुं णवि वंस विद्धि॥ ७॥
णरवइ जंपइ सुणि मंतिसरा, णिय वाय वंधु महुसम उदरा॥ ८॥
किं किज्जइ सिज्जइ मंतु कोइ, वाया अवाय जस हाणि होइ॥ ९॥

जहाँ जीवों का वध हो रहा हो वहाँ मैं ठहरने में भी असमर्थ हूँ, तब राजा के द्वारा दिए जानेवाले श्रेष्ठ द्रव्य अथवा वर से क्या प्रयोजन? जो स्थावर एकेन्द्रिय जीवों पर अनुकम्पा करता है सो क्या वह त्रस जीवों का वध देख सकता है? कदापि नहीं॥ २५॥

तब सुन्दर मति एवं सुन्दर नाम वाला भूपाल बोला—हे देवी! जब तेरी ऐसी दया युक्त बुद्धि है तो तू जा। तू मेरे द्वारा मुक्त की जाती है॥ २६॥

वह कहने लगी—भो पृथ्वीपति! मुझ अकेली के वध से आपका कार्य सफल हो जाएगा; क्योंकि इन सबमें उत्तम लक्षणों और व्यंजनों (सामुद्रिक लक्षणों) से चर्चित कोई भी नहीं है॥ २७॥

क्षितीश्वर पुन: कहता है—तेरे समान उत्तम लक्षण एवं उत्तम बुद्धि वाला इस पृथ्वी मण्डल पर दूसरा कोई नहीं है इसलिए हे कमल लोचने! तू मेरे द्वारा मुक्त की जाती है, तू जा॥ २८॥

वह मृगांकलेखा कहने लगी—हे भ्रात! हे नाथ! मैं अकेली कहाँ जीवित रहूँगी? पीछे मारी जाऊँगी। आप इन सबको मुक्त कर दीजिए। मैं आपको प्रणाम करती हूँ॥ २९॥

मुझ एक अकेले के वध कर देने पर इन सब बन्दीजनों को छोड़ देना सर्वोत्तम होगा। हे नरेश! यदि मेरे इस तन के द्वारा इतना सा भी उपकार नहीं होता है तो इसे प्राप्त करने से क्या लाभ?॥ ३०॥

११

पद्धरी—शशिलेखा के वचनों को कर्णगत कर राजा अपना शिर धुन लेता है और मन में निराकरण का उपाय सोचता है। अहो! यह नारी तो उपकार की कोई सार स्वरूप मूर्ति है। इस संसार में अज्ञानी जन ही स्त्रियों को मुग्धा कहते हैं। पर-प्राणियों का वध हो रहा है? इस कारण यह अनुकम्पा की साक्षात् मूर्ति मरण हेतु अपना शरीर अर्पित कर रही है और मुझ जैसा अज्ञानी, मूढ़, जीवों का वध कर रहा है? मैं इस नारी के स्नेह को पाकर पाप से छूट जाऊँगा? ऐसा सोचकर महीपति मौन धारण कर चुपचाप वहीं बैठ गया तब बलि कर्म में नियुक्त मन्त्री कहने लगा॥ १.२.३.४.५॥

स्त्री के वध मात्र से कार्य की सिद्धि नहीं होती। बलि पूजा के लिए प्रथम, चतुर्थ एवं अष्टम युगल का वध किया जाएगा; क्योंकि पूजा के अपमान होने पर वंश की वृद्धि नहीं होती। राजा बोला—हे मन्त्रीश्वर! मेरी बात सुनो। ये सभी मेरे तात एवं सहोदर तुल्य हैं, अत: कोई ऐसा कार्य कीजिए अथवा मन्त्र सिद्ध कीजिए, जिससे मेरे वचनों की भी रक्षा हो अर्थात् मृगांकलेखा को अभय रूप दिया गया वचन भी खण्डित न हो अन्यथा मेरे यश की हानि होगी॥ ६.७.८.९॥

तदणंतरि लवइ सई सयाणि, देवाणंपिय! णिय सुणि णियाणि ॥ १० ॥
अंधे णट्टणु तिय वहिर गीउ, ऊसर धर खित्ति सु-धण्ण वीउ ॥ ११ ॥
संढे किर काइ पिया कडक्ख, थिय लवण विहूणे विविह भक्ख ॥ १२ ॥
अण्णाण तवे किं कम्म णासु, णिज्जर लहु वंधणु अहिउ तासु ॥ १३ ॥
णर-णाण-विहूणे काइगुट्ठि, पय सक्कर जरिय ण होइ पुट्ठि ॥ १४ ॥
विसियर जिम डंकिउ विसय सिट्ठु, चव्वंत लवइ रुइ णिव्वु मिट्ठु ॥ १५ ॥
णाणी णरु मणइं धम्मसारु, तणु धणु जीवणु जाणइ असारु ॥ १६ ॥

घत्ता— असरणु जीउ सरण रहियओ, इंदु कालि कवलिज्जए।
पडिउ सीह कमि हरिण सिसो, पियरिहि किम रक्खिज्जइ ॥ ११ ॥

गाथा—जय देवया वि रक्खइ, मंतो तंतो य खित्तवालो य।
मियमाणं पि मणुस्सं, णर णियरा अक्खया होंति ॥ ३० ॥

पूयंतो णरु मूढो, गह भूय पिसाय जोइणी जक्खं।
आउक्खएण मरणं, चक्की हरि रुद्द इंद अहमिंदा ॥ ३१ ॥

अप्पाणं पि चवंतो, जइ सक्कदि रक्खिदुं सुरिंदो वि।
तो किं छंडदि सग्गं सव्वुत्तम भोय संजुत्तं ॥ ३२ ॥

आइण्णि णिच्छएण, पसंसिऊण च सा सई राया।
मुंचइ सह वंदेहि, पलाइमाणं हि पत्तीव ॥ ३३ ॥

वंदियणु सुपहिट्ठिय, सइयार कुलदेवयव्व संथुविया।
तस्सा गिराइ तत्तो, वंदे सव्वं गया सु पुरं ॥ ३४ ॥

दुवई— सुंदरु राउ जाउ साहम्मिउ, तणु दयधम्मि मंडियओ।
भज्जा मंति जुत्त सम परियणि, हिंसा कम्मु छंडियओ ॥ ११ ॥

तदनन्तर सुविज्ञ गुणगौरी (सती) मृगांकलेखा बोली—हे देवानुप्रिय नरेश! ध्यानपूर्वक मेरी बात सुनिए—अन्धे को नृत्य का, वधिर को मंगलगीत का, ऊसर भूमि को उत्तम श्रेष्ठ शालि ब्रीह्यों का तथा नपुंसक को प्रिया के कटाक्षों का क्या मूल्य? लवण और घृत रहित विविध भक्ष्य पदार्थों से क्या लाभ? क्योंकि इनसे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार अज्ञान तप से क्या लाभ? क्या अज्ञान तप से कर्म नाश होता है? नहीं, इससे निर्जरा कम, कर्म बन्धन अधिक होता है। ज्ञान रहित मनुष्य शरीर की गठरी मात्र है जैसे कि मनुष्य की पुष्टि दुग्ध और शर्करा के द्वारा ही नहीं होती है। विषधर के डसने से विष ही निर्मित होता है और विषाक्रान्त व्यक्ति रुचिपूर्वक निम्ब का चर्वण करता हुआ उसे मीठा कहता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष धर्म को ही सारभूत मानता है तथा तन, धन, जीवन को असार अर्थात् तुच्छ मानता है॥ १०.११.१२.१३.१४.१५.१६॥

घत्ता—यह जीव शरण रहित है। इन्द्र भी काल कवलित हो जाता है अर्थात् चन्द्र भी राहु द्वारा ग्रस लिया जाता है। सिंह के चरणों में पड़े मृग-शिशु की क्या उसके माता-पिता रक्षा कर सकते हैं?॥ ११॥

गाथा—यदि देवता, मन्त्र-तन्त्र, क्षेत्रपाल भी रक्षा कर सकते होते तो मरते हुए उनके आत्मीय जन निश्चित ही अक्षय हो जाते॥ ३०॥

ग्रह, भूत-पिशाच, योगिनी (यक्षिणी) और यक्ष की पूजा करता हुआ यह मूढ़ मनुष्य आयु क्षय हो जाने पर निश्चित ही मरण को प्राप्त होता है। चाहे वह चक्रवर्ती हो, नारायण, रुद्र, इन्द्र व अहमिन्द्र भी क्यों न हो॥ ३१॥

यदि सुरेन्द्र भी स्वर्ग से च्युत होते हुए अपने आपको रक्षित करने में समर्थ होता; तो सर्वोत्तम भोगों से संयुक्त स्वर्ग को क्यों छोड़ता?॥ ३२॥

सती का निश्चय अर्थात् तर्कपूर्ण तथ्य सुनकर राजा ने उसकी प्रशंसा करके सभी बन्दीजनों को पलायमान करती हुई सेना विशेष की तरह छोड़ दिया॥ ३३॥

जो बन्दीजनों के द्वारा सुप्रतिष्ठित थी तथा स्वीकृत कुल देवता की तरह जिसकी स्तुति की गई थी ऐसी उस मृगांकलेखा की वाणी से तृप्त हुए सभी बन्दीजन अपने नगर की ओर चले गए। 'मैं ग्रन्थकार पण्डित भगवतीदास उस सती की वन्दना करता हूँ॥ ३४॥

दुवई—सुन्दर नामक राजा सती का साधर्मी अर्थात् जिनधर्मी हो गया। उसका तन दया धर्म से अभिमण्डित हो गया। उसने अपनी भार्या, मन्त्री एवं परिजनों सहित हिंसा कर्म छोड़ दिया॥ ११॥

छप्पय— [illegible] पिक्खइ मयारि अइ दीह देह ॥ १ ॥
[illegible] सिर विघड विडंबिय वयणु जासु ॥ २ ॥
[illegible] जिग गुंजा पुंजुव अरुण पूरु ॥ ३ ॥
[illegible] गग मइ चिलडावणुं जम समाणु ॥ ४ ॥
[illegible] मणि चिंतइ मह ससि सूर सच्छि ॥ ५ ॥
[illegible] भो भो केसरि करिजूह काल ॥ ६ ॥
[illegible] मणसा पर अण्णाहिलास होइ ॥ ७ ॥
[illegible] अण्णाहिसु जाहि पलाइ झत्ति ॥ ८ ॥
[illegible] पन्नइ तिहि पुरउ सयाणकूलु ॥ ९ ॥
[illegible] गिरि सरि सरवर काणण सहस्स ॥ १० ॥
[illegible] पत्ता णिगोह तरु तलि अविग्ग ॥ ११ ॥
[illegible] पिच्छइ सा रक्खसि वियड दंति ॥ १२ ॥
[illegible] पसरइ गिलणत्थव काल रत्ति ॥ १३ ॥

घत्ता— तहणंतरि सई सु-मणि सरए, पंच परम गुरु मंतु णिरु।
सरणोत्तम मंगलु तुरिओ तिह, विग्घ विणासणु पावहरु ॥ १२ ॥

गाथा— अकलंक सीलरेहा, मइंकलेहा पइंपए तत्तो।
जय मह सायरचंदो, इक्को भत्ता इह भवम्मि ॥ ३६ ॥

मह विजय कप्प-पाइव, चिंतामणि कामधेणु महिमाए।
सीलमहि महिम रक्खसि, णिहियासा हवसु तो सहसा ॥ ३७ ॥

णिम्महिय कम्म मम्मो, जय जिण धम्मो जयम्मि विप्फुरए।
पाविट्ठ धिट्ठ रक्खसि, सहसातो हवसु णिहयासा ॥ ३८ ॥

हालाहल लहरी इव, अविरल विलसंत अमय लहरीहि।
तस्सा चारु गिराहिं, उवसंता रक्खसी तत्तो ॥ ३९ ॥

१२

छप्पय—वह चन्द्रलेखा नगर की ओर गमन करती हुई चली जा रही थी। उसने अति दीर्घकाय वाले सिंह को देखा। जिसकी कराल-जबाड़, नुकीलें नख जिसके मुख की विकराल विडम्बना प्रकट कर रहे थे। जिसकी जिह्वा लपलपा रही थी, जो अत्यन्त भूखा एवं क्रूर था। जिसके नेत्र गुंजाफल के समूह के समान लालिमा युक्त थे। जो अपनी पूँछ पसारकर गर्जना करता हुआ गजों के कुम्भ विदीर्ण करने के लिए यम के समान था। जिसे देखकर उस मृगाक्षी की देह काँप गई॥ १.२.३.४.५ ॥

वह बाला प्रचण्ड स्वर में बोली—हे गजयूथों के यम स्वरूप केशरि! यदि मैंने अपने प्रिय पति सागरचन्द्र के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष की मन के द्वारा अभिलाषा भी की हो तो तुम अपनी शक्ति से मेरे शरीर को कवलित कर लीजिए अन्यथा यहाँ से शीघ्र ही भाग जाइए। इतना कहते ही उस बाला के वचन अचानक ही सफल हो गए। वह केशरि बाला के अनुकूल होकर उसी के सामने से चला गया। अपने मार्ग में गमन करती हुई उस नारी को हजारों पर्वत, सरिताएँ, सरोवर तथा जंगल मिले॥ ६.७.८.९.१० ॥

रात्रिन्दिन द्रुत गति से गमन करती हुई उसने बाधाओं से रहित एक वट वृक्ष के तल को प्राप्त किया अर्थात् वहाँ पहुँची। रात्रि के समापन में जब एक प्रहर क्षीण होने को शेष रह गया था, तब रात्रि के अन्तिम प्रहर में विकराल दाँतों वाली एक राक्षसी को देखा। अन्धकार के समान जिसकी कृष्ण देह थी ऐसी वह राक्षसी कालरूपी रात्रि के समान मृगांकलेखा को निगलने के लिए फैलती जा रही थी॥ ११.१२.१३ ॥

घत्ता—इसी बीच सती अपने मन में विघ्न-विनाशक, पाप-प्रहारक, पंच परम गुरु मन्त्र/णमोकार मन्त्र, चारों मंगल, चारों उत्तम और शरणों (चत्तारि मंगल, चत्तारि उत्तम, चत्तारि सरणं) का स्मरण करने लगी॥ १२ ॥

गाथा—निष्कलंक शील की शोभा रूप वह मृगांकलेखा कहने लगी—यदि इस जन्म में मेरा सागरचन्द्र ही एक भर्ता है, जो मेरी इस महाविजय का कल्प वृक्ष है। शील की महिमा में चिन्तामणि रत्न और कामधेनु के समान है तो मेरी इस शील की महामहिमा से यह राक्षसी अचानक ही निहताशा हो जाए अर्थात् इसकी मुझे नष्ट करने की इच्छा समाप्त हो जाए॥ ३६ ॥

जिसमें कर्म के मर्म नष्ट हो जाते हैं ऐसा जैन धर्म जयशील हो। इसी की विस्फुरणा अर्थात् प्रकटीकरण रूप प्रभाव से वह पापिष्ठा, धृष्टा, राक्षसी सहसा ही आशा रहित हो गई॥ ३७ ॥

महा-भयानक कालकूट जहर की लहर के समान वह राक्षसी निरन्तर शोभायमान उस अमृत लहरी रूप मृगांकलेखा के सुन्दर वचनों के द्वारा उपशान्त हो गई॥ ३८ ॥

शील ही है परिवार जिसका ऐसी वह शीलवती उसी वट वृक्ष के नीचे ठहर गई। पश्चात् प्रभात समय अपने शरीर के खेद की परवाह नहीं करती हुई नगर में चली गई॥ ३९ ॥

छप्पय— सा पुरउ गमंतिय चंदलेह, पिक्खइ मयारि अइ दीह देह ॥ १ ॥
दाढाकरालु खर णहर तासु, णिय वियड विडंविय वयणु जासु ॥ २ ॥
जीहा ललंति अइ छुहिउ कूरु, दिग गुंजा पुंजुव अरुण पूरु ॥ ३ ॥
लंगूलु पसारिय गज्जमाणु, गय घड विहडावणुं जम समाणु ॥ ४ ॥
भय कंपिर देह मयच्छि दच्छि, मणि चिंतइ महु ससि सूर सच्छि ॥ ५ ॥
उद्दामसद्दि जंपइ सुवाल, भो भो केसरि करिजूह काल ॥ ६ ॥
जय णिय पिय विणु मइ अवरु कोइ, मणसा णर अण्णाहिलास होइ ॥ ७ ॥
तउ महु तण कवलु करहि सुसत्ति, अण्णारिसु जाहि पलाइ झत्ति ॥ ८ ॥
इय तग्गिरा य सहसा सहलु, वच्चइ तिह पुरउ सयाणकूलु ॥ ९ ॥
तिय गच्छमाण णिय मग्गि तस्स, गिरि सरि सरवर काणण सहस्स ॥ १० ॥
दिणु रइणिय गच्छइ णारि सिग्घ, पत्ता णिगोह तरु तलि अविग्घ ॥ ११ ॥
पहरीण खीण रजणी समंति, पिच्छइ सा रक्खसि वियड दंति ॥ १२ ॥
तम सम किर कज्जल काय दिंति, पसरइ गिलणत्थव काल रत्ति ॥ १३ ॥

घत्ता— तदणंतरि सई सु-मणि सरए, पंच परम गुरु मंतु णिरु।
सरणोत्तम मंगलु तुरिओ तिह, विग्घ विणासणु पावहरु ॥ १२ ॥

गाथा—अकलंक सीलरेहा, मइंकलेहा पइंपए तत्तो।
जय महु सायरचंदो, इक्को भत्ता इह भवम्मि ॥ ३६ ॥

मह विजय कप्प-पाइव, चिंतामणि कामधेणु महिमाए।
सीलमहि महिम रक्खसि, णिहियासा हवसु तो सहसा ॥ ३७ ॥

णिम्महिय कम्म मम्मो, जय जिण धम्मो जयम्मि विप्फुरए।
पाविट्ठ धिट्ठ रक्खसि, सहसातो हवसु णिहयासा ॥ ३८ ॥

हालाहल लहरी इव, अविरल विलसंत अमय लहरीहि।
तस्सा चारु गिराहिं, उवसंता रक्खसी तत्तो ॥ ३९ ॥

छप्पय—वह चन्द्रलेखा नगर की ओर गमन करती हुई चली जा रही थी। उसने अति दीर्घकाय वाले सिंह को देखा। जिसकी कराल-जबाड़, नुकीलें नख जिसके मुख की विकराल विडम्बना प्रकट कर रहे थे। जिसकी जिह्वा लपलपा रही थी, जो अत्यन्त भूखा एवं क्रूर था। जिसके नेत्र गुंजाफल के समूह के समान लालिमा युक्त थे। जो अपनी पूँछ पसारकर गर्जना करता हुआ गजों के कुम्भ विदीर्ण करने के लिए यम के समान था। जिसे देखकर उस मृगाक्षी की देह काँप गई॥ १.२.३.४.५॥

वह बाला प्रचण्ड स्वर में बोली—हे गजयूथों के यम स्वरूप केशरि! यदि मैंने अपने प्रिय पति सागरचन्द्र के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष की मन के द्वारा अभिलाषा भी की हो तो तुम अपनी शक्ति से मेरे शरीर को कवलित कर लीजिए अन्यथा यहाँ से शीघ्र ही भाग जाइए। इतना कहते ही उस बाला के वचन अचानक ही सफल हो गए। वह केशरि बाला के अनुकूल होकर उसी के सामने से चला गया। अपने मार्ग में गमन करती हुई उस नारी को हजारों पर्वत, सरिताएँ, सरोवर तथा जंगल मिले॥ ६.७.८.९.१०॥

रात्रिन्दिन द्रुत गति से गमन करती हुई उसने बाधाओं से रहित एक वट वृक्ष के तल को प्राप्त किया अर्थात् वहाँ पहुँची। रात्रि के समापन में जब एक प्रहर क्षीण होने को शेष रह गया था, तब रात्रि के अन्तिम प्रहर में विकराल दाँतों वाली एक राक्षसी को देखा। अन्धकार के समान जिसकी कृष्ण देह थी ऐसी वह राक्षसी कालरूपी रात्रि के समान मृगांकलेखा को निगलने के लिए फैलती जा रही थी॥ ११.१२.१३॥

घत्ता—इसी बीच सती अपने मन में विघ्न-विनाशक, पाप-प्रहारक, पंच परम गुरु मन्त्र/णमोकार मन्त्र, चारों मंगल, चारों उत्तम और शरणों (चत्तारि मंगल, चत्तारि उत्तम, चत्तारि सरणं) का स्मरण करने लगी॥ १२॥

गाथा—निष्कलंक शील की शोभा रूप वह मृगांकलेखा कहने लगी—यदि इस जन्म में मेरा सागरचन्द्र ही एक भर्ता है, जो मेरी इस महाविजय का कल्प वृक्ष है। शील की महिमा में चिन्तामणि रत्न और कामधेनु के समान है तो मेरी इस शील की महामहिमा से यह राक्षसी अचानक ही निहताशा हो जाए अर्थात् इसकी मुझे नष्ट करने की इच्छा समाप्त हो जाए॥ ३६॥

जिसमें कर्म के मर्म नष्ट हो जाते हैं ऐसा जैन धर्म जयशील हो। इसी की विस्फुरणा अर्थात् प्रकटीकरण रूप प्रभाव से वह पापिष्ठा, धृष्टा, राक्षसी सहसा ही आशा रहित हो गई॥ ३७॥

महा-भयानक कालकूट जहर की लहर के समान वह राक्षसी निरन्तर शोभायमान उस अमृत लहरी रूप मृगांकलेखा के सुन्दर वचनों के द्वारा उपशान्त हो गई॥ ३८॥

शील ही है परिवार जिसका ऐसी वह शीलवती उसी वट वृक्ष के नीचे ठहर गई। पश्चात् प्रभात समय अपने शरीर के खेद की परवाह नहीं करती हुई नगर में चली गई॥ ३९॥

सा सीला परिवारा, णिग्गोह तल्लम्मि वसइ तत्थेव।
पुरउ पभायं समए, वच्चइ अवगणिय तणु खेया॥ ४०॥

दोहा—जे बीते सुहि दिवसडे, ते थिरु थाहि ण णित्त।
विहवसि पडी अवत्थडी, काइ विसूरहि चित्त॥ १४॥

खेउ तंदु तजि सा सई, करि उज्जमु धविधाइ।
सिद्धारथ णामइ णयरि, झत्ति पहूंची आइ॥ १५॥

णयर णियडि सरवरु सजल, करइ पान तसु णीर।
खेद खिन्न सूती तहां, मढ भिंतरि धरि धीर॥ १६॥

१३

पद्धरी— संझा ठिय रयणि विहाणु जाउ, पह कामसेण तह वेस आउ॥ १॥
दासी जण परियअ णेय सत्थि, कंचण वर भूसण सुहम वत्थि॥ २॥
दिग जोवइ जाम सई पसुत्त, दासी-सम गणिया ताम वुत्त॥ ३॥
यह अच्छरि विज्जाहरि किंणरि, छण इंद वत्ति वर रुवसारि॥ ४॥
अमरी खयरी किं णाय-कण्ण, तणि तत्त समुज्जल कणय वण्ण॥ ५॥
णह मणि दिवंत यह राय पुत्ति, वरवत्थ विहूसण सोह जुत्ति॥ ६॥
सुमुणाल-डाल भुय वाल तस्स, ण वियाणिय सा दइया हि कस्स॥ ७॥
सुंदरि सुकुमालि मयच्छि दच्छि, एयहुं कम कमले वसइ लच्छि॥ ८॥
यहु रमणी रयणुं सरुव-सार, तरुणी तम णासणि तेयतार॥ ९॥
जो चल्लइ सुंदरि अम्ह सत्थि, चिंतामणि णगु णिरु चडइ हत्थि॥ १०॥
तदणंतरि जग्गि सई उविट्ठ, आइंदमाण तह रुव दिट्ठ॥ ११॥
अवलोइमाण ससिलेह पत्ति, तिह कंठि लग्ग वेसा झडत्ति॥ १२॥
पुत्ती ण वियाणहि कांइ मज्जु, तव पाणिग्गहणु जायउ असज्झु॥ १३॥
हउ तत्थ गई तिह कालि वाल, आइंदमाणु लज्जिय उताल॥ १४॥
ले चल्लिय मंदिरि भणइ तासु, तुहु महु संगइ दिण लहुव आसु॥ १५॥
वहु दिणि दिट्ठ सु उवण्ण णेहु, समदासि समग्गि तुज्झ गेहु॥ १६॥
विलसहि जिम जाणहि करि उछाहु, सुहि कालु जाइ तं जम्म लाहु॥ १७॥
वर वत्थ विहूसण अप्पि उत्तु, महु वयणु करहि जुत्तु वि अजुत्तु॥ १८॥

दोहा—जो सुख के दिन बीत गए वे नित्य स्थिर नहीं रहे। तब कर्म वश पड़ी हुई अवस्था से हे चित्त तुम दु:खी क्यों होते हो॥ १४॥

खेद और तन्द्रा त्यागकर वह सती पुरुषार्थ कर अति क्षिप्र गति से गमन करती हुई सिद्धार्थ नामक नगर आ पहुँची॥ १५॥

नगर के निकट ही जल से भरा हुआ एक सरोवर था। मृगांकलेखा ने उसके जल को पिया और खेद-खिन्न होने के कारण धैर्य धारण कर वहीं मठ के भीतर सो गई॥ १६॥

१३

पद्धरी—सायंकाल वह वहीं ठहर गई। रात्रि बीती। किसी तरह प्रभात हुआ और प्रात:काल ही कामसेना नामक वेश्या उसी मार्ग पर आई। अनेक दासियों का परिकर जिसके साथ था, जो स्वर्ण के उत्तम-आभूषण एवं चीन पट्ट के सूक्ष्म वस्त्र पहने हुए थी। उसने अपनी आँखों से उस ओर देखा जहाँ सती शयन कर रही थी। अपनी दासियों से उस गणिका ने कहा—पूर्णचन्द्र के समान अद्भुत रूप की सारभूत क्या यह अप्सरा है, विद्याधरी है या कोई सामान्य नारी है? यह देव कन्या है, खेचरी अथवा नाग कन्या है? इसकी कनकवर्णी देह तप्त स्वर्ण के समान अत्यन्त उज्ज्वल है॥ १.२.३.४.५॥

यह कोई राज कन्या है। इसके नख मणि के समान दैदीप्यमान हैं तथा उत्तम वस्त्राभूषणों से शोभा युक्त है। इस बाला की भुजाएँ सुन्दर कमल-नाल के समान है। नहीं जानती हूँ कि यह किसकी पत्नी है? यह सुन्दरी सुकुमार है, मृगनयनी है, निपुणा है। अरे इसके चरण-कमलों में तो लक्ष्मी निवास करती है। यह नारी रत्न रूप का अत्यन्त सारभूत तत्त्व है अर्थात् रूप का निचोड़ है। यह भामिनी अन्धकार को विनष्ट करने के लिए तेजस्वी नक्षत्र के समान है। यदि यह सुन्दरी हमारे साथ चलती है तो समझिए निश्चित ही चिन्तामणि नग मेरे हाथ लग जाता है॥ ६.७.८.९.१०॥

इसी बीच मृगांकलेखा जाग्रत होकर बैठ गई। उसने वहाँ एक रोते हुए रूप को देखा। मृगांकलेखा को अपनी ओर देखते हुए पाकर वह वेश्या शीघ्र ही उसके कण्ठ से लिपट गई और कहने लगी—हे पुत्री! क्या तू मुझे नहीं जानती है', मैं तेरे विवाह के समय असाध्य अर्थात् मरणासन्न थी। हे बाले! मैं विवाह के समय तेरे पिता के घर गई थी। लगातार रुदन करता हुआ तेरा मुख लज्जा युक्त था। उस समय तेरा-मेरा समागम बहुत ही अल्प दिनों के लिए हुआ था, ऐसा कहती हुई वह वेश्या मृगांकलेखा को अपने घर ले गई॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

तू बहुत दिनों बाद दिखी है इसलिए मुझे तुझपर अत्याधिक स्नेह उत्पन्न हो रहा है। मेरे भवन में तेरे समान उम्रवाली समूची दासियाँ हैं। तुम जैसा जानों वैसा उत्साहपूर्वक मौज करो। यदि सुखपूर्वक समय बीतता है तो ही जन्म लेने का लाभ है। वेश्या ने उसे उत्तम वस्त्राभूषण भेंट किए और कहा—तुम मेरे वचनानुसार कार्य करो; चाहे मेरे वचन उचित हों या अनुचित॥ १६.१७.१८॥

संसारु ण जाणइ धम्म सारु, णर जम्मि सहलु वेसा वयारु ॥ १९ ॥
सुह कारणि दिज्जइ अत्थ दंडु, सुह कारणि तउ मण इंदि दंडु ॥ २० ॥
सुह कारणि भरिए राइ दंडु, ... ॥ २१ ॥
सो सुहु संसारि हिलासु तोसु, वेसत्तणि लब्भइ रयण कोसु ॥ २२ ॥
वर वत्थ विहूसण रइ विलासु, रुवा विण मण वंछिउ ण कासु ॥ २३ ॥

घत्ता— आइण्णि समलु वेसा वयणु, सुद कर कमल णिहित्त सई।
जइ जंपसि मुहु एह गिर, इत्ति घडइ महु मरण गई ॥ १३ ॥

गाथा— समसीले वर मरणं, जीविय हलु पत्ति सया वि अकलंकं।
कुल सील सेल वज्जं, सकुला किं णियंति वेसत्तं ॥ ४१ ॥

दोहा— हे हयासि दासीन तूं, वेस्सा लवइ सकोप।
गाडर अंवरि अम्ह घरि, थाइ कि उज्जल वेसु ॥ १७ ॥

वेसा मंदिरि पइसरइ, सा सकुला किंउ होइ।
वहु वसु देकरि मइ लई, तुझ जाणइ सब कोइ ॥ १८ ॥

मानु वचन मेरा सहि, तूं दासी विख्यात।
इणि मंदिरि सुखु भोगवहि, फिरि तुझ करउं अजात ॥ १९ ॥

रुदनु करइ मानइ नहीं, मिले पडौसी आइ।
अवला एक अनेक बुधि, पूछी सकुला जाइ ॥ २० ॥

सुणि वितंतु ससिलेह कउ, रुदनु करइ पुनि सोइ।
अघडु घडइ सिखि जलु झरइ, विहवसि काइ न होइ ॥ २१ ॥

जिन्ह डरु नांही दइय को, कुल जण लाज ण जासु।
जिन्ह सम बोलि विगूचिए, को समुझावइ तासु ॥ २२ ॥

यह संसार धर्म के मर्म को नहीं जानता। अरे! मनुष्य जन्म की सफलता तो वेश्या व्यापार में ही है। सुख के लिए ही अर्थ दण्ड दिया जाता है। मन और इन्द्रिय नियमन भी सुख का ही कारण है। सुख के लिए राजदण्ड भरा जाता है। इसलिए इन्द्रिय सुख ही संसारी सुखाभिलाषियों को हर्ष उत्पन्न करता है। वेश्याएँ इस सुख द्वारा रत्नकोष प्राप्त करती हैं। उत्तम वस्त्र, दिव्यालंकार, रति-विलास, मनवांछित पदार्थ रुपाजीवी अर्थात् वेश्याओं के अतिरिक्त किसी को भी प्राप्त नहीं होते हैं॥ १९.२०.२१.२२.२३॥

घत्ता—वेश्या के पाप युक्त वचनों को श्रवण कर सती ने अपने निर्दोष कर-कमलों से उसे बैठाया और कहा—यदि तूने मुझसे पुनः इस प्रकार पाप वचन कहे तो मेरे मरण की स्थिति शीघ्र ही निर्मित हो जाएगी, अतः मैं मर जाऊँगी॥ १३॥

गाथा—शील के साथ मर जाना श्रेष्ठ है, क्योंकि जीवन का फल सदा निष्कलंक रहने से प्राप्त होता है। कुल परम्परा से चले आए शील रूपी पर्वत को छोड़कर क्या कुलीन कुलवन्तियाँ वेश्यावृत्ति की ओर निहारती हैं?॥ ४१॥

दोहा—क्रोधित होकर वेश्या कहने लगी—हे हतभाग्ये! तू मेरी दासी है। मेरे वेश्यालय में तो गाडरों का अम्बार है (भेड़िया धसान चाल अर्थात् बिना परिणाम विचारे अनुकरण करनेवालों का ढेर है) वहाँ तेरा यह उज्ज्वल वेष क्या स्थिर रहेगा? कदापि नहीं॥ १७॥

जो वेश्या मन्दिर में पहुँच जाती है क्या वे कुलीन होती है? 'मैं तुझे बहुत सारा धन देकर लाई हूँ' यह बात सभी लोग जानते हैं॥ १८॥

तू मेरे वचनों को प्रामाणिक मान। तू मेरी विख्यात दासी है। मेरे इस वेश्यालय में सुख-भोग, फिर मैं तुझे कुजात अर्थात् वेश्या बना दूँगी॥ १९॥

उस शील-शैला ने वेश्या की बात नहीं मानी और रुदन करने लगी। उसकी आवाज सुनकर सारे पड़ोसी आ गए। वह बेचारी अकेली एक थी और अनेक बुद्धिमानों के द्वारा वह कुलवती पूँछी जाने लगी अर्थात् पड़ोसी जन उसके कुल और जाति के सम्बन्ध में पूछने लगे॥ २०॥

सभी लोगों की बातों को सुनकर वह कहती है, कैसी अनहोनी घटना घट रही है? अग्नि में से जल झर रहा है। कुलवती से कुल, जाति आदि पूँछी जा रही है। हा! कर्मवश क्या-क्या नहीं होता? और वह पुनः रोने लगी॥ २१॥

जिसे पति का भय नहीं, जिसे कुटुम्बियों की लाज नहीं, जिनके समक्ष वचन उलझन में पड़ जाते हैं उन्हें कौन समझा सकता है?॥ २२॥

पद्धरी— तदणंतरि रुवजि इक्कु आइ, सा पिक्खि सई मणि करुण थाइ॥ १॥
हा! हा! यह सकुल सई सयाण, इयरह भासइ हा हलि अयाण॥ २॥
यह होइ ण वेसा जुत्त पत्ति, माया भावे पइ छलिय सत्ति॥ ३॥
तुह णरवर भय ण हयासि दुट्ठ, वसु लेहि देहि महु णारि सुट्ठ॥ ४॥
णिरु मरणिय ढोवइ यह पणामु, खणि पेसमि तिह घर धामु थामु॥ ५॥
सुणि कोवे जंपइ कामसेण, साइणि सिसु वंछइ इयर लेण॥ ६॥
धुत्ते धुत्तत्तणु घडइ केम, णिव भउ दरिसावहि मज्झु तेम॥ ७॥
हे जाइ लवहि किं ण भूव पासि, मइ आणी सकुला रुवरासि॥ ८॥
आइण्णि गिरा किर इयर जीव, मणि धरइ वियप्पु सया सईव॥ ९॥
पावी पावे खउ जाइ सिग्घ, धम्मी धम्मे तिट्ठइ अविग्घ॥ १०॥
एत्तह ससिलेह सईसु जत्थ, संकल मंजीर भरिय सु-तत्थ॥ ११॥
तद्दिणि सा वेस मुई विसूइ, तक्कर गिहि मूसि गए विहूइ॥ १२॥
तक्कामसेण जणणी वियाणि, संकल खणि छिन्न सई णियाणि॥ १३॥
कमि णिवडि रुवइ सई सुट्ठ भद्दि, अवराहु खमहि महु वीण सद्दि॥ १४॥
ससिलेह गहइ किर मउणि जाम, सु-पच्छण्ण जीव गई राइ धाम॥ १५॥
आहासइ सुंदरि मज्झु गेहि, तव जोगिय णरवइ णारि णेहि॥ १६॥
कणयद्धउ जाणि सरुव पत्ति, पेसिउ पडिहारु सयाणु झत्ति॥ १७॥
णिव उत्ति लवइ कुल पत्ति पासि, हे अंवि चलहि महिवइ णिवासि॥ १८॥
आइण्णि लवइ ससिलेह वाय, किम हक्कारइ महु भूउ ताय॥ १९॥

घत्ता— किं णियणु पर पत्ति सिउ णिउ णिय णीय सयाणओ।
असगाहे जइ णिरु णेहि मई तउ जम णयरिं पयाणओ॥ १४॥

दुवई— हउं किर भमउ भिक्ख परएसणि रुवारी दिणहि महो।
असई दासि णडी णिव मंदिरि, वच्चइ सिय लाहे लहो॥ १२॥

१४

पद्धरी—इसी बीच एक वेश्या आई। सती को देखकर उसका मन करुणा से भर गया। हाय! हाय! यह तो ज्ञानशीला कुलवती सती है। दूसरी बोली—यह तो भोली, अज्ञानी है। यह वेश्या कर्म से युक्त नहीं होगी। (कामसेना वेश्या की ओर संकेत करके) इसे तो इसने मायाचार एवं छल-बल से प्राप्त किया है अर्थात् इधर लाई है। हे निर्लज्ज दुष्टे! तुझे राजा का भय नहीं? पैसा लेकर इस श्रेष्ठ नारी को मुझे दे दे। इसे मैं शीघ्र ही इसके घर पहुँचा दूँगी, अन्यथा निश्चित ही यह नारी मृत्यु को भेंट हो जाएगी॥ १.२.३.४.५॥

उक्त स्त्री के वचन सुनकर क्रोधित हो कामसेना कहने लगी—यह शाकिनी की बच्ची दूसरी कला चाहती है। अरे धूर्तों का शरीर धूर्तता से ही क्यों न बनेगा। अरे! मुझे राजा का भय दिखलाती हैं। अरी! ओ राजा के पास जा और कह कि मैं रूप की राशि कुलीन स्त्री को अपने घर लाई हूँ। कामसेना के वचनों को आकर्ण्य कर अन्य लोग सती के प्रति मन में विकल्प करने लगे। पापी पाप के कारण शीघ्र ही नष्ट हो जाता है तथा धर्मात्मा धर्म में निर्विघ्न तिष्ठता है॥ ६.७.८.९.१०॥

इधर मृगांकलेखा सती जहाँ थी वहीं उस वेश्या ने उसे सांकल और मंजीरों से जकड़ दिया। उसी दिन चोर सोती हुई वेश्या को मारकर उसका धन-वैभव चुराकर ले गए और सती की सांकल क्षण भर में अपने आप टूट गई। जब कामसेना वेश्या की माता ने यह जाना तो निर्दोष सती के चरणों में गिरकर रुदन करने लगी तथा दीन शब्दों में कहने लगी—हे भद्रे! मेरा अपराध क्षमा कीजिए। शशिलेखा ने मौन ग्रहण कर लिया अत: वह वेश्या की माता प्रच्छन्न वेश में राजभवन में पहुँच गई॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

वह नृपति से कहने लगी—हे नरपति! मेरे गृह में रूप की निधि स्वरूप एक रूपस्वी नारी है। जो आपके स्नेह योग्य है। कनकध्वज ने उसे रूपसी जानकर शीघ्र ही एक चतुर प्रतिहारी को भेजा। उस कुलधर्मा पतिव्रता के समीप जाकर प्रतिहारी ने राजा के कथन को कह सुनाया—और कहा—हे अम्ब! आप राजा के आवास पर चलिए। प्रतिहारी के वचन कर्णगत होते ही मृगांकलेखा ने कहा—हे वप्प! मुझे राजपिता ने किसलिए बुलवाया है॥ १६.१७.१८.१९॥

घत्ता—नृप तो नीति-निपुण है, न्यायासीन होकर परस्त्री में आसक्त क्यों हो रहे हैं? यदि मुझे दुराग्रह पूर्वक ले जाया गया या मेरे साथ स्नेह बुद्धि की गई तो मैं यम नगर प्रयाण कर जाऊँगी॥ १४॥

दुवई—मैं तो भिक्षार्थ भ्रमण करनेवाली परदेशिनी हूँ, मैं रूपोपजीविनी नहीं हूँ। धन प्राप्ति की इच्छा से ही आश्रित होकर असती/वेश्या, दासी और नटी/नर्तकी राजमन्दिर जाती है॥ १२॥

पद्धरी— आइण्णि गयउ पडिहारु जत्थ, सहराउ णिविट्ठउ पिक्खि तत्थ॥ १ ॥
वइयरु पडिहारे गुत्तु वुत्तु, णर णाहु पइंपइ मंति जुत्तु॥ २ ॥
आणाहि सिविया आरोवि तीय, जिमि किं पि वियप्पु ण करइ जीय॥ ३ ॥
णिव वयणि गइउ मंती सु-जत्थ, रुवा मंदिरि ठिय णारि तत्थ॥ ४ ॥
पुत्ती णिव आइसु चलहि सिग्घ, सिविया आरुहि वच्चहि अविग्घि॥ ५ ॥
णर णाह पसाए अजस हाणि, महिणाहु सयल तिय ताउ जाणि॥ ६ ॥
वसुहाहिउ अम्ह सु-धम्म धारु, तसु पिक्खि गलइ अरिमाण फारु॥ ७ ॥
आइण्णि गिरा सब्भावसार, सिविया आरुहि भय गमय दार॥ ८ ॥
मणि चिंतइ झत्ति ण सुट्ठु कज्जु, विणु पय पिय रुवे पडउ वज्जु॥ ९ ॥
णिव णियडि ण होइ उवाउ कोइ, णिय बुद्धि वियारें कज्जु होइ॥ १० ॥
जिम सीलु रयणु थिरु थाइ मज्झु, किर सिज्झइ अणुसारे असज्झु॥ ११ ॥
आवंत संत मणि करि वियारु, गहिला महिला हुइ लवइ चारु॥ १२ ॥
किर पंक पिक्खि णिय वत्तु लित्तु, मइ णाहि एह वर चारु खित्तु॥ १३ ॥
दारिवि तणि अंवर लवइ आलु, रइ खित्त उवरि भुज्जइ कवालु॥ १४ ॥
पाहणि हणि अप्पणु गहइ सासु, खणि हसइ भसइ गाइज्जमाणु॥ १५ ॥
पुणु गेहि णीय आउल स वाल, वियराल रुवि भिउडी कराल॥ १६ ॥
मंती णिव लवइ वितंतु सव्वु, हा हा सरु जंपइ लोउ भव्वु॥ १७ ॥

घत्ता— कर गिण्हि लवडि सिरि झत्ति हणइ, मंतावाइ जो आवए।
आरडइ णडइ धर झत्ति वडइ, हसइ तसइ रुइ गावए॥ १५ ॥

दुवई— अवणीणाहु लवइ मंतीसम सा सचेय तिय किज्जए।
गुणियण सुट्ठ सयल आवाहिवि वहु वसु तांह दिज्जइ॥ १३ ॥

दोहा— पडहघोसु सुणि सवै गुणी, आए तिंह पुर मांहि।
मंत जंत वादी बहुल, तंतु फुरइ कुइ नांहि॥ २३ ॥

पद्धरी—सती के निर्णीत वचनों को श्रवण कर प्रतिहारी राजा के पास गया और उसने वहाँ मन्त्री सहित बैठे हुए राजा को देखा। प्रतिहारी ने राजा से गुप्त वार्त्ता को कहा। राजा, मन्त्री से मन्त्रणा करते हुए बोले—हे मन्त्री! उस स्त्री को शिविका में आरोहण करके ले आइए। जिससे कोई भी प्राणी किसी प्रकार का विकल्प/चर्चा न करे। नृप के वचनानुसार मन्त्री वहाँ गया जहाँ वेश्यालय में मृगांकलेखा अवस्थित थी। मन्त्री मृगांकलेखा से कहता है—हे पुत्री! राजा का आदेश है, शीघ्र चलो। शिविका में बैठकर निर्बाध गमन करो॥ १.२.३.४.५ ॥

नरनाथ की कृपा से अयश की हानि होती है। पृथ्वीपति को सकल स्त्रियों का पिता जानो। हमारा वसुधापति तो सम्यक् धर्म का धारक है, उन्हें देखकर तो शत्रुओं का बढ़ा हुआ दर्प गल जाता है। सद्भाव से युक्त मन्त्री की वाणी को सुनकर सती ने निर्भय होकर शिविका में आरोहण किया। मन-ही-मन विचार करती है 'शीघ्रता में कोई कार्य अच्छा नहीं होता।' प्रिय के बिना इस प्राप्त रूप पर वज्र पड़े। राजा के सम्मुख कोई उपाय नहीं होता, अपनी बुद्धि के अनुसार विचार करने पर ही कार्य होता है॥ ६.७.८.९.१० ॥

अब मैं ऐसा कोई उपाय करती हूँ जिससे मेरा शील रत्न स्थिर रह सके। निश्चित ही बुद्धि-अनुवर्तन रूप उपाय से असाध्य कार्य सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार विचार करती आती हुई वह गहिला/उन्मत्त, भूताविष्ट स्त्री जैसी बन गई और सुन्दर-सुन्दर वचन बोलने लगी। कीचड़ को देखते ही मुख पर लपेट लिया। शरीर पर पड़े वस्त्रों को फाड़कर यह स्थान मेरे लिए श्रेष्ठ नहीं है इत्यादि मिथ्यालाप करने लगी। अपने ऊपर धूल डाल ली, पत्थर मारकर अपना कपाट/सिर फोड़ लिया एवं दीर्घ उच्छवासें लेने लगी। वह गाती हुई क्षण में हँसती है, क्षण में बोलती है॥ ११.१२.१३.१४.१५ ॥

जिसका रूप विकराल हो गया था, जिसकी भृकुटि डरावनी हो गई थी ऐसी वह व्यग्र बाला किसी तरह राजमन्दिर तक लाई गई। मन्त्री ने राजा से सारा वृत्तान्त कहा। भव्य लोग हाय! हाय!! शब्द उच्चरित करने लगे॥ १६.१७ ॥

घत्ता—जो भी मन्त्रवादी आते उन्हें देखते ही वह हाथ में लाठी लेकर शीघ्र ही उनके शिर पर मार देती। रोती है/चिल्लाती है/नाचती है। झट धरती पर गिर पड़ती है। रुचिपूर्वक गाने लगती है। भयभीत हो जाती है। हँसती है॥ १५ ॥

दुवई—पृथ्वीपति मन्त्री से कहते हैं—समस्त श्रेष्ठ मन्त्रवादियों का आह्वान कर इस स्त्री को स्वस्थ किया जाए तथा मन्त्रवादियों को प्रचुर मात्रा में धन दिया जाए॥ १३ ॥

दोहा—पटहघोष अर्थात् मुनादी सुनकर सारे गुनिया, बहुत से मन्त्र-तन्त्रवादी उस सिद्धार्थ नगर में आए, किन्तु किसीका कोई भी तन्त्र स्फुरित अर्थात् सफल नहीं हुआ॥ २३ ॥

तिंह अवसरि भूपति भणइ देउ अद्धु भंडारु।
वाहि हरइ भामिणि तणी, पावइ जीवनु सारु॥ २४॥

गाथा—आइट्ठो णरवइया, णिय णयर सु-रक्खियो कणयवाहू।
णीसेस सत्ति जुत्तो, सु-पसिद्धो मंतवाईसु॥ ४२॥

जालामालिणि देविय, कुमारि देहम्मि सो वि एगंते।
अवयरिया परि पुच्छइ, तस्सा दोसस्स पज्जंतं॥ ४३॥

कण्णमुहेण देवी, जंपइ हे वच्छ णत्थि एयाए।
अण्णो वि को वि दोसो, सुरक्खय चत्ताण का वत्ता॥ ४४॥

इत्थी सुपत्तरेहा, मइंकलेह इमा पसिद्धाए।
सायरचंदस्स पिया, दिव्व वसा इत्थ संपत्ता॥ ४५॥

णिय सील रक्खणत्थं, गहिला जाया णियम्मि गेहम्मि।
तुमए ठावेयव्वा, दट्ठव्वा गोत्त देविव्व॥ ४६॥

आएसो वि सुणित्ता, देवीसु विसज्जिऊण णरणाहे।
पडिवोहिय ते सिग्घं, आणइ लच्छी व पच्चक्खं॥ ४७॥

सुर विहिय पाडिहेरा, पए पए पयड सील माहप्पा।
णिच्चं अच्चिज्जंती, जणेहि सा चिट्ठए तत्थ॥ ४८॥

चिंतइ चित्ते भत्ता चिट्ठइ अण्णत्थ अहयमण्णत्थं।
अण्णत्थ सा सही विहु, सहियव्वो कम्म परिपागो॥ ४९॥

घत्ता—तदणंतरि वणि आउ मुणी, परमावहि वर धारओ।
मूलोत्तर गुण गण णिलओ, जो भव-साइरि तारओ॥ १६॥

दुवई—महिवइ णयर लोइ सम जाइवि, मुणिवर चरण वंदए।
धी धीरा उर मणि रसि रंजणु सो णिउ अप्पु णिंदए॥ १४॥

इस अवसर पर राजा कहते हैं—जो भी इस भगिनी के शरीर की व्याधि को दूर कर देगा, वह जीवन के सार को प्राप्त करेगा। उसे राज्य का अर्ध कोष दे दिया जाएगा॥ २४॥

गाथा—नृपति द्वारा उपदिष्ट वचनों से एक सुप्रसिद्ध मन्त्रवादी कनकबाहू ने अपनी अशेष शक्ति से अपने नगर को सुरक्षित अर्थात् कीलित कर दिया तथा एकान्त में कुमारी के शरीर में ज्वालामालिनी देवी को अवतरित करके उसने मृगांकलेखा के शरीर सम्बन्धी दोषों को पूछा॥ ४२॥

कन्या के मुख से देवी कहती है—हे वत्स! एक अपनी शील रक्षा को छोड़कर इसमें अन्य कोई भी दोष नहीं है अर्थात् यह मनस्विनी केवल अपने शील की सुरक्षा चाहती है एतदर्थ शील सुरक्षार्थ उसने ऐसा रूप धारण किया है। इसमें कोई अन्य बाधा नहीं है॥ ४३॥

स्त्रियों की शोभा को जिसने प्राप्त कर लिया है ऐसी मृगांकलेखा नाम से प्रसिद्ध यह सागरचन्द्र की प्रिया है, दैव वश यह इस अवस्था को प्राप्त हुई है॥ ४४॥

अपने शील रक्षण हेतु यह स्त्री पागल बन गई है। इसे आपके द्वारा अपने राजमन्दिर में लेकर रखी जाना चाहिए तथा कुलदेवी की तरह देखी जाना चाहिए॥ ४५॥

आदेश के अनुसार प्रतिबोधित राजा ने देवी को विदा करके शीघ्र ही मृगांकलेखा को बुलाया, जो ऐसी ज्ञात होती थी मानों प्रत्यक्ष लक्ष्मी हो॥ ४६॥

देवों कृत प्रातिहार्य यानि चमत्कार विशेष ने पद-पद पर शील के माहात्म्य को प्रकट किया॥ ४७॥

नित्य ही लोगों द्वारा अर्चित की जाती हुई वह आर्या वही अवस्थित हो गई अर्थात् राजमन्दिर में ठहर गई॥ ४८॥

वह चित्त में विचार करती है पति दूसरी जगह है, मैं दूसरी जगह हूँ, सखी भी अन्यत्र है। कर्म का फल तो निश्चित ही सहना पड़ता है॥ ४९॥

घत्ता—तदनन्तर मूल और उत्तर गुणों के निलय, परमावधि ज्ञान के धारक, संसार-समुद्र के तारक एक परम तपोधन मुनि वन में पधारे॥ १६॥

दुवई—भूपति ने नगरवासियों के साथ वन में जाकर मुनीश्वर की चरण वन्दना की। वह धीमान, रमणी-रस-अनुरंजित नृपति मुनिवर के समक्ष आत्म निन्दा करने लगा॥ १४॥

१६

पद्धरी— सामिय संसारु असारु एहु, मुक्खहु किर धम्मवएसु देहु ॥ १ ॥
ता रिसिवरु भासइ सुणि णरेस, सायारधम्मि दंसणु विसेस ॥ २ ॥
सम्मत्ते सग्गा वासि ठाइ, मिच्छत्ते माणउ णरइ जाइ ॥ ३ ॥
अणुवय महवय महिरुहहुं मूलु, सम्मत्तु पावि णर कण्ण मूलु ॥ ४ ॥
ते कज्ज पहिलारउ सयत्तु, भुवि भव्वु ण वुच्चइ तासु चत्तु ॥ ५ ॥
अट्ठारह-दोस विमुक्क देउ, अरहंतु भडारउ विगयलेउ ॥ ६ ॥
गुरु सव्वावरण विहीणु जोइ, वर धम्मु अहिंसा तं जि होइ ॥ ७ ॥
जो वि ते मण्णइ पावहारि, सो णरु आणा सम्मत्त धारि ॥ ८ ॥
रयणत्तय विहि सिव पह विहाणु, तं मग्गा समत्तु सु जीव जाणु ॥ ९ ॥
जो सुणइ सलाइ पुरिस पुराणु, रुइ तं उवएस समत्त ठाणु ॥ १० ॥
मूलोत्तर गुण रिसि सुणि सुकीय, तं सुत्त समत्तहु लाहु जीय ॥ ११ ॥
णिरु वीय मंत मुणि सत्तिसार, तं वीय समत्तु भणहि अमार ॥ १२ ॥
संखेवे सुणि जिण उत्ति सुत्तु, संखेव सम्मत्तु गणेसि वुत्तु ॥ १३ ॥
वर अंग पुव्व वाणी विसाल, वित्थरु सुणि रुइ वित्थार चाल ॥ १४ ॥
सुसम्मत्तु अत्थ भासहि सयाण, तुस मास, घोसु लउ किय णियाण ॥ १५ ॥
अवगाढ अंग पुव्वाहवगाहु, सु-सम्मत्त जुत्त वुच्चंत साहु ॥ १६ ॥
परमावगाढु सम्मत्तु सोइ, लद्धिसु णिरु केवलणाणि होइ ॥ १७ ॥

घत्ता— महिणाहु अवर ससिलेह सई, आइण्णइ रिसि वुत्तओ।
दहविहि वइ अरु सुसम्मत्त णिरु विमलु अहव मल जुत्तओ ॥ १७ ॥

दुवई— खडणाइदण मूढ तिगु वुत्तउ, वसुमद जुद पयासिया।
संकाइ अट्ठदोस संकिउ, समलु सम्मत्तु भासिया ॥ १५ ॥

पद्धरी—स्वामिन्! यह संसार असार है। इससे मुक्ति पाने के लिए धर्मोपदेश दीजिए। वे ऋषिवर्य बोले—हे नरेश! सागार धर्म में सम्यग्दर्शन का विशेष महत्त्व है आप उसे सुनिए। सम्यक्त्व की संगति से जीव स्वर्ग को प्राप्त करता है तथा मिथ्यात्व को मानने से नरक जाता है। सम्यग्दर्शन अणुव्रत एवं महाव्रत रूपी महावृक्ष का मूल है जिसे प्राप्त कर जीव अग्रभाग पर स्थित होता है। सम्यग्दर्शन रूप प्रथम कार्य के लिए प्राणी सतत प्रयत्नशील रहता है। जो उस सम्यग्दर्शन को छोड़ देता है वह लोक में श्रेष्ठ नहीं कहलाता॥ १.२.३.४.५॥

भावार्थ—जैसे वृक्ष का मूल उसकी जड़ होती है, जड़ के जरिए ही वृक्ष में स्कंध, टहनियाँ, शाखा-प्रशाखाएँ निकलती हैं और वृक्ष वृद्धिंगत होता हुआ उच्चता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार धर्म की जड़ सम्यग्दर्शन है। इसी के सहारे जीव के अन्य व्रत, गुण भी वृद्धि को प्राप्त होते हुए स्वयं के साथ जीव को भी उच्चता के शिखर तक पहुँचा देते हैं।

क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, भय, स्मय, विस्मय, राग, द्वेष, मोह, अरति, चिन्ता, खेद, स्वेद और निद्रा इन अष्टादश दोषों से मुक्त तथा विगत लेप अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय रूप मलों से रहित अर्हन्त भट्टारक देव होते हैं। सर्वावरणों से रहित योगी/गुरु होता है और अहिंसा ही उत्तम धर्म है जो इन्हीं गुरुओं के होता है। पापापहारी देव, गुरु और धर्म इन तीनों को जो मानता है, निश्चित ही वह आज्ञा सम्यक्त्व का धारी कहलाता है। रत्नत्रय ही विधि अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही शिव पथ का कारण है हे जीव इसे ही मार्ग सम्यक्त्व जानो। जो पुरुष त्रेसठ शलाका पुरुषों के पुराण अर्थात् जीवन वृत्त को सुनता है, वह जीव उपदेश सम्यक्त्व का पात्र/स्थान है॥ ६.७.८.९.१०॥

मुनियों के मूल और उत्तर गुणों को सुनकर जीव को जिस सम्यक्त्व का लाभ होता है उसे सूत्र सम्यक्त्व जानिए। जो शक्त्यानुसार सारभूत बीज मन्त्रों को जानता है उसको कामजेता ऋषिजन बीज सम्यक्त्व कहते हैं। जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित सूत्रों को संक्षेप में श्रवण कर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे गणधर देव संक्षेप सम्यक्त्व कहते हैं। श्रेष्ठ ग्यारह अंग और चौदह पूर्व रूप विशाल जिनेन्द्र वाणी को सुनकर जो रुचि उत्पन्न होती है उसे विस्तार सम्यक्त्व जानिये॥ ११.१२.१३.१४॥

'तुषमासघोष' पद ही जिस सम्यक्त्व का निदान है अर्थात् इस पद का अर्थ ही जिस सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण है उसे विज्ञ जन अर्थ सम्यक्त्व कहते हैं। अंग और पूर्व रूप श्रुतज्ञान में अवगाहन करके जो सम्यग्दर्शन से सम्पन्न होता है उसे साधु पुरुष अवगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं। क्षायिक लब्धिरूप केवलज्ञानी के जो सम्यक्त्व होता है उसे परमावगाढ़ सम्यक्त्व जानिए॥ १५.१६.१७॥

घत्ता—ऋषि द्वारा उक्त दस प्रकार के उत्तम सम्यग्दर्शन को श्रवण कर भूपति ने निर्मल अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन एवं साध्वी पतिधर्मा मृगांकलेखा ने द्वितीय समल/क्षयोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त किया॥ १७॥

दुवई—तदुपरान्त ऋषिवर ने षडानायतन सहित तीन मूढ़ताओं को कहा। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि और सुन्दर रूप (शरीर) इन अष्ट मदों को प्रकाशित किया। शंकादि अष्ट दोषों से संकीर्ण सम्यग्दर्शन को समल सम्यग्दर्शन कहा है॥ १५॥

पद्धरी— साभरण देव पूया पमाणु, वंदणु थुइ कित्तणु भत्तिठाणु ॥ १ ॥
तं दव्व देव मूढत्तु वुत्तु, पुण पाहुड दव्व ठवइ अजुत्तु ॥ २ ॥
पुणु खित्तमूढ णरु लोइ भासि, चइय अपूय रक्खइ अवासि ॥ ३ ॥
णिय णयर धामि पुर देसवासि, पूया अवगण्णइ पावरासि ॥ ४ ॥
सो तित्थ भूमि धावइ अयाण, पडिमा वड वण्णइ दुग्गठाणु ॥ ५ ॥
पुणु कालमूढ जिण सुत्ति वत्तु, णहि तित्थणहु सम सरण जुत्तु ॥ ६ ॥
पूया अयालि वय विहि अयालि, गुर वयणु ण मण्णइ जाम कालि ॥ ७ ॥
णिय कज्जि समप्पइ थप्पिदेणु, भणु तस्स काल मूढत्तुएणु ॥ ८ ॥
अहुणा देवहु किर भाव मूढ, मण भिंतरि चिंतइ चित्त गूढु ॥ ९ ॥
सव्वह वंदणु णिंदणु ण कासु, वर बुद्धि सया णिरु घड़इ जासु ॥ १० ॥
अइसइ देवत्तणु सयल मज्झि, घिय कज्जु अज्जु किं पइ असज्झि ॥ ११ ॥
इत्तउ किं लोउ अयाणु सव्वु, गिर भाव देव मूढउ सगव्वु ॥ १२ ॥

अहुणा परोक्ख मूढत्तु वुत्तु, अरहंत णवइ कुलदेव जुत्तु ॥ १३ ॥
कुलदेव देवि वंदण विहाणु, णिय गुत्त कित्ति सुर सत्ति दाणु ॥ १४ ॥
अइसइ वड पुरिसहुं ठाणि जस्स, वंदणु तियाल महु होउ तस्स ॥ १५ ॥
सु परोक्ख देव मूढत्तु होइ, अप्पां ण वियाणइ गोहु सोइ ॥ १६ ॥
पुणु पयडु देव मूढत्तु अत्थि, जिणु वंदइ हरिहर वम्ह सत्थि ॥ १७ ॥
सम वंदणु पूयणु भत्ति जुत्त, सम सो-मण्णइ अहिमणि खुत्त ॥ १८ ॥
सुपयक्ख मूढ वुत्तउ अणाणु, ण वियाणइ सग्ग-पवग्ग ठाणु ॥ १९ ॥
भासमि णिरु लोइ पयक्खमूढु, अहुणा णवि रक्खामि भव्व.गूढु ॥ २० ॥
चंडी मुंडी सीयल सयालि, गुग्गा दुग्गा दिणिवर सयालि ॥ २१ ॥
इच्छिच्छइ पुत्त कलत्त लच्छि, वसि होइ मूढु णरु णिरु मइच्छि ॥ २२ ॥

घत्ता— जणि सत्थ मूढु सग गणि भणिया, दव्व खित्त सम काल हो।
पुणु भाव परोक्ख पयड कहमि, लोइ सुत्त जड वाल हो ॥ १८ ॥

१७

पद्धरी—आभरणों से युक्त सरागी देवों की पूजा, वन्दना, स्तुति, कीर्तन एवं भक्ति इत्यादि स्थानों को देव मूढ़ता कहा है। इन्हें द्रव्यादिक का उपहार देना भी अयुक्त ठहराया है। इसे ही द्रव्य देव मूढ़ता कहा गया है। अब लोक प्रसिद्ध क्षेत्रं मूढ़ता को कहते हैं—अपूज्य चैत्य/प्रतिमा (पद्मावती, क्षेत्रपाल, भैरव, यक्ष, मानभद्र, नागबाबादि) को अपने घरों में रखना या अपने नगर, ग्राम, पुर अथवा देश में स्थापित करना इन्हें स्थान देना, इनकी पूजा करना पाप की राशि रूप क्षेत्र मूढ़ता में परिगणित है। अज्ञानी जन इनकी पूजा के लिए तीर्थ स्थलों की ओर भागते हैं अथवा वटवृक्ष के मूल अर्थात् तल में दुर्गा की प्रतिमा स्थापित करना अथवा उनका स्थान बनवाना इसे लोक क्षेत्र मूढ़ता कहा जाता है॥ १.२.३.४.५॥

अब जिन सूत्र में वर्णित काल मूढ़ता को कहता हूँ—'तीर्थ के समान अन्य कोई योग्य शरण नहीं है' ऐसा मानकर पूजा के अयोग्य काल में तीर्थों पर पूजा करना तथा व्रतविधान के अयोग्य समय (संक्रान्ति, मेघाच्छन्न, ग्रहणकाल अथवा दुष्काल, सांध्यकालादि दुर्दिनों) में व्रतादिक करना तथा इस समय गुरुओं के वचन न मानकर अपने कार्य की सिद्धि हेतु इस अकाल तीर्थ वन्दना व व्रतादिक हेतु रखे हुए द्रव्य को देना, काल मूढ़ता कहलाती है॥ ६.७.८॥

अब भाव देव मूढ़ता को कहता हूँ—जो मन-ही-मन ऐसा गूढ़ चिन्तन करता है कि 'सभी देव वन्दनीय हैं, किसी की भी निन्दा नहीं करना चाहिए।' उनकी ऐसी बुद्धि सदा सृजित होती रहती है कि मुझे तो सकल देवों में देवत्व/अतिशय अथवा श्रेष्ठता दृष्टिगत होती है। उनका कहना है क्या आज दूध से घृत कार्य असाध्य है? नहीं। अर्थात् जिस प्रकार दुग्ध से घृत निकालना असाध्य नहीं है उसी प्रकार सर्व देवों में अतिशय प्रकट होना असाध्य नहीं है। क्या सारा संसार इतना मूर्ख है जो इतनी सी भी बात नहीं जानता? ऐसे दर्प-युक्त वचन एवं भाव को देव मूढ़ता कहा है॥ ९.१०.११.१२॥

अब परोक्ष मूढ़ता को कहते हैं कुल देवता के साथ अरिहन्त को नमस्कार करना परोक्ष देव मूढ़ता कहलाती है। इन कुल देवता और कुल देवी के वन्दन-पूजन तथा दान से इन देवों की शक्ति/माहात्म्य से अपने गोत्र की कीर्ति होती है। जिस स्थान पर महान पुरुषों का अतिशय प्रकट हुआ है उस स्थान को मेरा त्रिकाल नमन हो। ऐसा कहनेवाला भद्र पुरुष जो अपने आपको नहीं जानता उसीके परोक्ष देव मूढ़ता होती है॥ १३.१४.१५.१६॥

अब पुनः प्रत्यक्ष देव मूढ़ता को कहते हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश के साथ जिनेन्द्र को नमस्कार करता है। भक्तिपूर्वक दोनों की समान रूप से वन्दना और अर्चना करता है तथा अभिमान में निमग्न हो दोनों को समान मानता है उसी अज्ञानी के प्रत्यक्ष देव मूढ़ता की गई है क्योंकि ऐसा अज्ञानी जीव स्वर्ग-अपवर्ग को नहीं जानता॥ १७.१८.१९॥

हे मृगाक्षी! अब परोक्ष देव मूढ़ता को कहता हूँ, उसे तुमसे छिपाकर नहीं रखता हूँ। चण्डी, मुण्डी, शीतला, शतालि (सम्प्रदाय विशेष का संस्थापक, जो भविष्यत काल का अट्ठारहवाँ तीर्थंकर होगा) गुग्गा,

१८

पद्धरी— एयारह अंग पढइ सयाणु, सगतच्च पयत्थ णवहि वियाणु ॥ १ ॥
पंचत्थिकाय खड दव्व जुत्त, गदि ठिदि लक्खण मुत्तवि अमुत्त ॥ २ ॥
अवयासु अयास अकाउ कालु, धुव विअ उवाद णिरु अंतरालु ॥ ३ ॥
गुण दव्व पजाइ लवइ सुसत्थु, ण वियाणइ हेय उवाद वत्थु ॥ ४ ॥
ते णरु सु दव्व सुद मूढु होइ, णिय अप्प पयाउण मुणइ सोइ ॥ ५ ॥
सुद खित्त मूढु भासिउ पुराणि, वहु सत्थ वखाणइ णीय ठाणि ॥ ६ ॥
मल धातु उवद्दव-अंतरालु, भय रोय णउंसग ठाणि चालु ॥ ७ ॥
मइहीणं तहा णर णारि दुट्ठ, आयमु सिधंतु सवणि अपुट्ठ ॥ ८ ॥
किर एय अणेय णयहु सुभेउ, णिच्छइ ववहार सुणंत खेउ ॥ ९ ॥
तह भासइ सत्थु सुणइ सयाणु, सो सत्थ खित्त मूढउ वियाणु ॥ १० ॥

किर काल सत्थ मूढउ रिसीसु, संकंति अमावस गहणु दीसु ॥ ११ ॥
सुदु भणइ अकालिए अयाणु सोइ, णिरु पढइ पढावइ मुक्खु लोइ ॥ १२ ॥
भासइ ण सुणइ सु तियाल वेल, ठिदि थाइ समाइग ठाणि केल ॥ १३ ॥
सुद भाव मूढु जणि जाणु संत, सुपमत्त उसंतहु आइ अंत ॥ १४ ॥
अहवा सत्तम गुण ठाण आइ, अंतिम गुणि खीण कसाइ थाइ ॥ १५ ॥
विय भाय सुक्कज्झाणि वियाणु, एकत्त वितक्क विचार ठाणु ॥ १६ ॥
थुइ करइ जिणेसर कव्व जुत्ति, वहु सत्थ पढइ दिट्ठंत सुत्ति ॥ १७ ॥
सुद्धप्प विसइ णहि दिट्ठि जासु, किर भाव सत्थ मूढुत्तु तासु ॥ १८ ॥

दुर्गा, सूर्य आदि से पुत्र, कलत्र और लक्ष्मी आदि मेरे आधीन हों, इस प्रयोजन से मूर्खजन इनकी पूजा करते हैं उन्हीं के परोक्ष देव मूढ़ता होती है ॥ २०.२१.२२ ॥

घत्ता—सूत्र के विषय में जो जड़ हैं उन अज्ञानी जीवों के लिए गणधर जैसे सत्पुरुषों ने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रत्यक्ष, परोक्ष और लोक इस तरह सात प्रकार की मूढ़ताएँ कही हैं। उन्हींको मैं कहता हूँ ॥ १८ ॥

१८

पद्धरी—जो एकादश अंग को पढ़ता है। सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, पंचास्तिकाय, गति, स्थिति, मूर्त, अमूर्त लक्षणों से युक्त छहों द्रव्यों को, अवकाश देनेवाले आकाश द्रव्य को, अकायवान् काल द्रव्य को, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को तथा आगम में वर्णित द्रव्य-गुण-पर्यायों को तो जानता हैं किन्तु हेयोपादेय वस्तु तत्त्व को नहीं जानता ऐसे पुरुष निज आत्म-प्रकाश को नहीं जानते; वे निश्चित ही द्रव्य श्रुत मूढ़ होते हैं ॥ १.२.३.४.५ ॥

अब पुराणों में कथित क्षेत्र श्रुत मूढ़ता को कहते हैं। जो नीच स्थानों में अर्थात् वर्जित, गर्हित प्रदेशों में बहुत शास्त्रों का व्याख्यान करते हैं। जहाँ पर मल-मूत्र, शरीरगत सप्त धातुएँ विसर्जित हों, जहाँ उपद्रव हो, भय हो, रोग या रोगी-जन हों। जहाँ नपुंसकों के स्थान हों या उनका आवागमन हो। जहाँ मतिहीन दुष्ट स्त्री-पुरुष रहते हों। जहाँ आगम-सिद्धान्त के श्रवण वा पृच्छना की परम्परा न हो। नयों के एक या अनेक भेदों में, निश्चय और व्यवहार दोनों नयों के श्रवण में जहाँ लोगों को खेद उत्पन्न होता हो। वहाँ जो सुविज्ञ सत्शास्त्रों को पढ़ता अथवा सुनता है उसके क्षेत्र श्रुत मूढ़ता जानना चाहिए ॥ ६.७.८.९.१० ॥

मकरादि संक्रान्तियाँ, अमावस्या, ग्रहण दिखलाई देने पर अथवा दिग्दाह के समय को ऋषिजन अकाल कहते हैं। जो अज्ञानी मूर्खजन इस अकाल में शास्त्र व्याख्यान करते हैं, पढ़ते-पढ़ाते हैं उसे कालश्रुत मूढ़ता जानो और जो सुधीजन इस अकाल में त्रिकाल संध्याओं में न शास्त्र स्वाध्याय करते हैं, न ही सुनते हैं अपितु एक ही स्थान पर स्थित होकर कौतुक वश सामायिक की स्थापना कर क्रीडा करते हैं, उसे भावश्रुत मूढ़ता जानों। प्रमत्त गुणस्थान को आदि लेकर उपशान्त कषाय गुणस्थान तक शास्त्र को जानता हुआ जीव भावशास्त्र मूढ़ होता है अथवा सप्तम् अप्रमत्त गुणस्थान को आदि लेकर क्षीण कषाय गुण स्थान के अन्तिम समय तक अर्थात् एकत्व वितर्कवीचार नामक द्वितीय भाग तक भावश्रुत मूढ़ता जानिए ॥ ११.१२.१३.१४.१५.१६ ॥

जो जीव जिनेश्वर की काव्यमय स्तुति करता है। नीतियों को देखता हुआ अनेक शास्त्रों को भी पढ़ता है, फिर भी जिसके द्वारा शुद्धात्मा का विषय दृष्टिगत नहीं होता है अर्थात् आत्मा का अनुभव या साक्षात्कार नहीं किया जाता है। उस जीव के निश्चित ही भावशास्त्र मूढ़ता होती है अर्थात् वह भावश्रुत मूढ़ है ॥ १७.१८ ॥

एवहि परोक्ख सुणि सत्थ मूढु, तिय जोइ ण गोयर वत्थु गूढ॥ १९॥
जे सुहुम अद्धवसाण जाणि, वेदा ण तासु सुह असुह ठाणि॥ २०॥
सु-परोक्खमूढु सुद धारु होइ, अहवा सोयारु अयाणु कोइ॥ २१॥
भणि सत्थमूढु सु-पयक्ख गोहु, अप्पणु णवियाणइ तच्च बोहु॥ २२॥
अरहंत देउ दय धम्मु सारु, णिग्गंथु जईसरु गुरु अमारु॥ २३॥
अप्पणु उवएसु करइ सयाणु, अप्पा आराहणि सइ अणाणु॥ २४॥

घत्ता— सुद मूढ सत्त गणहरि भणिया, एयदेसि णिरु भासिया।
अहुणा गुरु मूढ वियाणि गुणी, जेण ण चित्ति पयासिया॥ १९॥

गाथा— सग भणिया गुरु मूढा, दव्वसु खित्तेण काल भावेण।
पयड परोक्खसु लोए, ते वि समासेण वोच्छामि॥ ५०॥

दव्व जडो गुरु उत्तो, पण भेयं भासियं हि जिण सुत्त ते।
तस्स मुणिज्जइ भेओ, आयरु दय दाण दव्वस्स॥ ५१॥

पसत्थो य कुसीलो, संसत्तो संत सेव मयचारी।
एदे पंच वि सवणं, जिण धम्म परंमुहा भणिया॥ ५२॥

वसही सुहि पडिवद्धो, अहवा उवयरण करण रइ रत्तो।
गिह ठाण दाण दच्छो, पासत्थो णाम सो होइ॥ ५३॥

कोहाइ किण्ह लेसो, वय गुण चरिए सुमग्ग परिभट्ठो।
संघस्स आएसकारी, कुसील सवणोत्ति णायव्वो॥ ५४॥

विज्जेण य मंतेण य, जोइसि कुसलत्तणेण परिभट्ठो।
रायाइ सेवयारी, संसत्तो णाम सो हादि॥ ५५॥

हे नृपेश! इसी प्रकार परोक्ष शास्त्र मूढ़ता को सुनो। परोक्ष शास्त्र मूढ़ जीव के द्वारा सूक्ष्म/गूढ़ वस्तु न तो दृष्टिगत होती है, न ही ज्ञान गम्य। जो सूक्ष्म अध्यवसायों को जानता है किन्तु उनके शुभ-अशुभ स्थानों को नहीं जानता वह परोक्ष श्रुत मूढ़ता का धारी होता है अथवा वह अज्ञानी सागार कहलाता है.। जो पुरुष न तो अपनी आत्मा को जानता है और न ही तत्त्वज्ञान को। अरहन्त 'देव' कहलाते हैं, सारभूत दया ही 'धर्म' है, निर्ग्रन्थ ही यतीश्वर हैं तथा कामजेता ही 'गुरु' कहलाते; इत्यादि को नहीं जानता हुआ भी स्वयं को सयाना/चतुर समझकर अपना ही मनमाना उपदेश करता है, ऐसा अज्ञानी जीव आत्माराधना करता हुआ भी प्रत्यक्ष श्रुत मूढ़ कहलाता है॥ १९.२०.२१.२२.२३.२४॥

घत्ता—इस प्रकार गणधर देव ने सात प्रकार की श्रुत (शास्त्र) मूढ़ताएँ कही हैं जो मेरे द्वारा एक देश कही गई। हे गुणज्ञ! अब गुरु मूढ़ता को जानो; जिनके द्वारा चित्त उद्योतित अर्थात् ज्ञान को प्राप्त नहीं होता॥१९॥

गाथा—द्रव्य गुरु मूढ़ता, क्षेत्र गुरु मूढ़ता, काल गुरु मूढ़ता, भाव गुरु मूढ़ता, प्रत्यक्ष गुरु मूढ़ता, परोक्ष गुरु मूढ़ता और लोक गुरु मूढ़ता के भेद से जो सात प्रकार की गुरु मूढ़ताएँ कही गई हैं उन्हें भी मैं संक्षेप में कहता हूँ॥ ५०॥

जिन सूत्र में पाँच प्रकार की द्रव्य गुरु मूढ़ता कही गई है। उनका आदर करना, उन पर दया करना तथा उन्हें द्रव्यादिक का दान देना इसीके भेद जानना चाहिए॥ ५१॥

पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न एवं मृगचारी/(स्वेच्छाचारी) ये पाँचों प्रकार के श्रमण जिन धर्म से पराङ्मुख कहे गए हैं॥ ५२॥

जो वसतिका में सुखपूर्वक प्रतिबद्ध अर्थात् ठहरे रहते हैं अथवा पिच्छि कमण्डलु, शास्त्र, शिष्यादि उपकरणों एवं स्पर्शन, रसनादि इन्द्रियों में रागपूर्वक अनुरक्त रहते हैं। जो गृह और आश्रय भूत स्थान का दान देने में दक्ष हैं वे पार्श्वस्थ श्रमण कहलाते हैं। ५३॥

जो क्रोधादिक कषायों में और कृष्ण लेश्या में संसक्त होते हैं। व्रत, गुण और चारित्र (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों, अट्ठाईस मूलगुण पंच महाव्रत, ईर्यादि पंच समिति, स्पर्शनादि पंचेंद्रिय निरोध, सामायिकादि षडावश्यक, केशलोंच, अचेलकत्व, अस्नान, अदन्तधावन, भूशयन, स्थिति भोजन/खड़े होकर आहार लेना एवं एक भुक्ति अर्थात् एक बार भोजन करना) मुनिचर्या रूप श्रेष्ठ मोक्षमार्ग से परिभ्रष्ट होते हैं फिर भी संघ के आदेश को मानते हैं, उन्हें कुशील श्रमण जानना चाहिए॥ ५४॥

जो विद्या, मन्त्र एवं ज्योतिष्क कुशलता के कारण सम्यक् मार्ग से परिभ्रष्ट हैं। राजादिक की सेवा यानि चाटुकारी करते हैं, वे संसक्त नामक श्रमण कहलाते हैं॥ ५५॥

जिणवयणं अगणंतो, मुक्ककरोचरण णाण परिभट्ठो।
करणालसु भय तासो, वय वज्जिउ संत सेवओ भणिउ॥ ५६॥
आयरिय उत्ति मुत्तो, हंढइ सच्छंद्दो हु एगागी।
जिणसुत्तं दूसंतो, मयचारी णाम सो होदी॥ ५७॥

एयं पंचण्हं पि य, समणाणं दाण णमण वंदणयं।
लज्ज-भय गारवेण (या), किज्जइ दव्वेण भावादो॥ ५८॥

एयाणं अवमाणं, करणेदय उगूहणं गहिए चित्तो।
भावे वंदण मिच्छं, मज्झत्थं थाइ भविय जणे॥ ५९॥

अणुकंपा उवगोहण, चित्ते मउणे अह व दाणेण।
संसण-णिंदण-उत्ती, पडिवज्जिय तत्थ मज्झत्थं॥ ६०॥

घत्ता— दंसण वयहीणु सयाणु जई, पर आइर तप्पर सवणो।
मायावी माणी मग्ग चुओ, दव्वमूढ गुरु सेवगणो॥ २०॥

जो जिनेन्द्र वचनों की परवाह नहीं करते हुए कर्म बन्धन से मुक्त करनेवाले ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट हैं तथा इन्द्रियासक्त हैं। भय और कष्ट से जिन्होंने व्रतों को छोड़ दिया है ऐसे साधु को अवसन्न श्रमण कहते हैं। आचार्य के वचनों का उल्लंघन कर जिन सूत्र को दूषित करता हुआ जो स्वच्छन्द होकर अकेला घूमता है वह मृगचारी श्रमण कहलाता है ॥ ५६.५७ ॥

इन पाँचों ही प्रकार के श्रमणों को लज्जा से, भय से, गारव से तथा द्रव्य और भाव से न तो दान देना चाहिए, न प्रणाम करना चाहिए और न ही इनकी वन्दना करना चाहिए ॥ ५८ ॥

इनकी भावपूर्वक वन्दना करना मिथ्यात्व है, एतदर्थ भविकजनों को इनका अपमान न करते हुए इनके प्रति अन्त:करण में दया एवं चित्त में उपगूहन गुण धारण करके मध्यस्थ भाव रखना चाहिए ॥ ५९ ॥

इन्हें मौनपूर्वक भाव रहित (श्रद्धादि सप्त गुण और नवधा भक्ति रहित) चित्त में अनुकम्पा और उपगूहन ग्रहण करके दान देना चाहिए तथा प्रशंसा और निन्दात्मक वचनों को छोड़कर इनमें मध्यस्थ रहना चाहिए ॥ ६० ॥

विशेषार्थ—यहाँ आशय यह है कि इन पार्श्वस्थादि पाँचों प्रकार के श्रमणों की जो जिनसूत्र/धर्म को दूषित करते हैं; भावपूर्वक वन्दना नहीं करना चाहिए। 'ये दया के पात्र हैं' ऐसी चित्त में अवधारणा करके इनके प्रति अनुकम्पा का भाव धारण करना चाहिए। इनके दोषों को उद्घाटित करने से व्यक्ति विशेष का नहीं प्रत्युत जैनधर्म एवं जैन धर्मावलम्बियों का उपहास होता है, ऐसा विचार कर उसके दोषों को ढँकना चाहिए ताकि चन्द्रवत् निर्मल पवित्र जैनधर्म की अप्रभावना न हो। ऐसे श्रमणों की प्रशंसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे उन्हें बल/समर्थन मिलता है और वे मनमाने ढंग से लोगों को ठग कर पथ भ्रष्ट करने लगते हैं, अस्तु इस पाप से बचने के लिए इनकी प्रशंसा नहीं करना चाहिए क्योंकि इनकी प्रशंसा जघन्य कोटि का अपराध है और अपराध का समर्थन भी अपराध है।

दूसरी बात इनकी निन्दा भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इनके निमित्त से जब हमारी जिह्वा रूपी कामधेनु निन्दा रूपी घास चरने लगती है तो हमें नीच गोत्र एवं नरकायु के बन्ध स्वरूप फल/दूध देती है।

इन्हें 'मौनपूर्वक दान देना चाहिए' इसका अभिप्राय यह है कि मन में नवधा भक्ति एवं श्रद्धा, भक्ति आदि दाता के सप्त गुण रहित हो उपेक्षा बुद्धि या करुणा बुद्धि से दान देना चाहिए, सच्चे हितकारी गुरु समझकर नहीं। यहाँ एक प्रश्न है यदि इन्हें दान अर्थात् आहारादि न दिया जाए तो क्या हानि है ? समाधान यह है कि यदि इन्हें आहारचर्या न कराई जाए तो ये अधिक उच्छृखल होकर उन्मार्गी हो जिन धर्म से द्वेष करनेवाले धर्म द्रोही बन जाएँगे, जिससे लोक में जिनलिंग का अपवाद होगा। इस अपवाद से वचने के लिए ही मौन अर्थात् अनुत्साह भाव से इन्हें आहारादिक देने का विधान किया है।

घत्ता—जो सम्यग्दर्शन एवं व्रतों से रहित शव्दाडम्बरी ज्ञानी साधु है तथा जो दूसरों के आदर में तत्पर मायाचारी, मानी एवं मोक्षमार्ग से च्युत श्रमण है इनकी सेवा करनेवाले सेवकगण द्रव्य गुरु मूढ़ता में परिगणित है अर्थात् वे द्रव्य गुरु मूढ़ कहलाते हैं ॥ २० ॥

१९

पद्धरी— पुणु खित्तमूढ गुरु गणि पवुत्तु, अप्पणु थिर थाइ सणेहि भुत्तु ॥ १ ॥
पुरगामि णयरि चेई अवासि, थिरु थाइ सया जम धम्मु भासि ॥ २ ॥
अप्पणु देवलु करि देइ दव्वु, अप्पणु देवलु भणि मुणि सगव्वु ॥ ३ ॥
सो खित्तमूढ गुरु जणि अयाणु, तिंह भाव विहूणउ करुण दाणु ॥ ४ ॥
गुरु कालमूढु भासमि सुणेहु, दिणु रइणि भमइ पोसइ सुदेहु ॥ ५ ॥
आहारु णिहारु अयालि जासु, खडवस्स किया णवि कालि तासु ॥ ६ ॥
अप्पणु मणि चिंतइ करइ सोइ, सो कालमूढु गुरु मुणह लोइ ॥ ७ ॥
अहुणा परोक्ख गुरुमूढ भेउ, मणि संयउ आणि ण मुणइ हेउ ॥ ८ ॥
णग्गउ गुरु होउ चउत्थ कालि, खडसंहण सत्ति ण थाइ चालि ॥ ९ ॥
मायाविय सेवइ णाण हीणु, आभिंतरि भाउ ण मुणइ दीणु ॥ १० ॥

णवि दीसइ अज्जु रिसीस वित्ति, रिसि दीसहि भव्व विदेह खित्ति ॥ ११ ॥
अविवेय ण जाणइ सव्व भेउ, सव्वह सामण्णइ अरुइ हेउ ॥ १२ ॥
सु-परोक्खमूढ यहु अवणि ठाणि, वहु वंधइ पाउ सु-धम्म हाणि ॥ १३ ॥
गुर पयड मूढ भासइ गणेसु, णिरु णाण चरण बुज्झइ ण लेसु ॥ १४ ॥
अणुवय सु महव्वय वित्ति भेउ, ण वियाणइ किरिया कम्म हेउ ॥ १५ ॥
तणि सुहमवत्थ वहु मुल्ल दव्वि, सिय-रत्त पीय गहि गहिय गव्वि ॥ १६ ॥
कंचण उवयरण रयण दिवंत, रायाइ यसइ जणि कमुघिवंत ॥ १७ ॥
जिह मग्गु णं धारण धेय चारु, विज्जाविहीण मउ पवर फारु ॥ १८ ॥
विसयालस णिद्दा भुत्त दुट्ठ, ण वियाणहि सिविणइ वित्ति सुट्ठ ॥ १९ ॥
ते पयड पिक्खि लोयहु समाणु, अप्पणु मणि मण्णइ जणु सयाणु ॥ २० ॥
पिय मण्णि पिया मह कवण अम्हि, गुर पयड मूढमइ घडइ तम्हि ॥ २१ ॥

पद्धरी—अब पुनः गणीश क्षेत्र मूढ़ता को प्रकृष्ट रूप से कहते हैं। अपने निकट रहनेवाले स्नेही श्रावकों से भोजन ग्रहण करते हैं। पुर, ग्राम, नगर और चैत्यालयों में सदैव स्थिर रहते हैं और मुनि धर्म का उपदेश करते हैं। अपना देव मन्दिर बनवाकर उसीमें द्रव्य देते हैं और 'यह मेरा देवालय है' ऐसे अभिमान युक्त वचनों को बोलते हैं। ऐसे अज्ञानियों को क्षेत्र गुरु मूढ़ता जानों, इन्हें भाव रहित होकर करुणा बुद्धि से दान देना चाहिए॥ १.२.३.४॥

अब मैं काल गुरु मूढ़ता को कहता हूँ, (हे पुत्री) उसे सुनो! जो दिन-रात भ्रमण करता है, शरीर का पोषण करता है, असमय में जिनका आहार-निहार होता है, जिनके षडावश्यक सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और ध्यान रूप क्रियाओं का कोई भी समय निश्चित नहीं है तथा 'जो अपने मन में सोच लेता है वही करता है' ऐसे गुरु को संसार में काल गुरु मूढ़ जानो॥ ५.६.७॥

अब परोक्ष गुरु मूढ़ता के भेदों को कहता हूँ, क्योंकि लोग मन में संशय तो रखते हैं परन्तु हेतुओं को नहीं जानते। वे कहते हैं, 'निर्ग्रन्थ मुनि तो चतुर्थकाल में ही होते हैं, क्योंकि चारित्र स्थिर रखनेवाली छठी संहनन शक्ति अर्थात् (पश्चातानुपूर्वी से क्रम से) वज्रवृषभनाराच संहनन रूप शक्ति सम्प्रति में नहीं है।' वे मूढ़ साधुओं के अन्तरंग परिणामों को नहीं जानते और ज्ञानहीन इन मायाविदों की सेवा करते हैं। वे कहते हैं, अद्यतन समय में ऋषियों का चारित्र दिखलाई नहीं पड़ता। श्रेष्ठ ऋषीश्वर तो विदेह क्षेत्र में ही दिखलाई देते हैं। वे अविवेकीजन साधुओं के सर्व भेदों (पार्श्वस्थादि) को नहीं जानते तथा असम्यक् हेतुओं द्वारा सभी साधुवृन्द को एक समान मानते हैं। ऐसी मान्यता को पृथ्वी तल पर परोक्ष गुरु मूढ़ता माना गया है। यह परोक्ष गुरु मूढ़ता धर्म की हानि करती है और अनेक पाप कर्मों को बाँधती है॥ ८.९.१०.११.१२.१३॥

अब गणधर देव प्रत्यक्ष गुरु मूढ़ता को कहते हैं—जो ज्ञान और चारित्र को लेशमात्र भी नहीं जानता। अणुव्रत और महाव्रत रूप चारित्र के भेदों को भी नहीं जानता। कर्मास्रव के हेतुओं और हेतु भूत पच्चीस क्रियाओं को भी नहीं जानता तथा गर्विष्ठ होकर अपने तन पर सूक्ष्म (चीनपट्ट) और श्वेत, रक्त, पीतादि वस्त्र तथा बहुमूल्य द्रव्यों (अँगूठी, मालाएँ, अगंदादि) को धारण करता है॥ १४.१५.१६॥

जो रत्नों से दैदीप्यमान स्वर्ण के उपकरण रखते हैं तथा राजादिक के स्वजनों के चरणों में पड़ते हैं। जिनका मोक्षमार्ग ग्रहण का उद्देश्य ही सुन्दर नहीं है। जो विद्या विहीन है, जिनका मद उत्कृष्ट रूप से विस्तीर्ण है। जो विषयों के कारण आलसी हैं तथा निद्रा के द्वारा खाए गए हैं। वे दुष्ट पुरुप स्वप्न में भी श्रेप्ठ आचरण को नहीं जानते। ऐसे पुरुष अपने आपको भले ही विज्ञ समझते हो किन्तु वे प्रत्यक्ष ही सामान्य लोगों की भाँति देखे जाते हैं। 'हम लोगों में कौन पिता या पितामह/श्रेष्ठ या पूज्य माना जाता है' ऐसी जिनकी मति होती है उन्हीं जीवों में प्रत्यक्ष गुरु मूढ़ता घटित होती है॥ १७.१८.१९.२०.२१॥

पुणु लोयमूढु जणि भणिउ सोइ, सव्वइ सम जाणइ गुणु ण कोइ ॥ २२ ॥
जे मग्ग सिट्ठ अहवय पहाण, णवि याणइ वुहियण रिसि अयाण ॥ २३ ॥
पिक्खा पिक्खी तिह भत्ति दाणु, लोयहु पहि चल्लइ णिरु सयाणु ॥ २४ ॥
वड मण्णहि एयह अम्हि कउण, यह वित्ति परंपर सुट्ठ सउण ॥ २५ ॥
तेलोइ मूढ गुर पह समग्ग, अविवेई माणुस ते अभग्ग ॥ २६ ॥
णर भवि किर धम्मु विवेय सारु, सिय अत्थि णत्थि वाणी वियारु ॥ २७ ॥

घत्ता— जह एयहं णाणा णेग जह, जणि सारत्तु पयासियउ।
जिण वयणह सिव सुह समणह, सारउ दंसण सुभासियउ ॥ २१ ॥

दुवई— संपइ परम धम्मु रिसि भवि भुवि, सिद्धि सु होह कारओ।
पियदिट्ठ मुट्ठि संधाणु जोइ, वउ पढमु अहिंसा तासु होई ॥ १६ ॥

२०

पद्धरी— तिरयण सुद्धिय दर चवइ सच्चु, णिय कज्जइ कारणि किं असज्झु ॥ १ ॥
एरिसु वीयउ वउ हवइ तं पि, उवयार सार मूसउ सुगंपि ॥ २ ॥
पट्टणि कव्वडि वा मढ पएसे, रह पह चच्चरि पुर गाम देसि ॥ ३ ॥
घरि आवणि णट्ठा उ जड ण लेई, पर धणु सो तिज्जउ वउ धरेइ ॥ ४ ॥
घण-थण भर णमिय सुमज्झ एस, लावण्ण रूव जुव्वण विसेस ॥ ५ ॥
पिच्छिवि पर रमणि मणोहिराम, अहिलसइ जो ण उव्वहिय काम ॥ ६ ॥
पुरिसहु तुरियउ वउ एम होइ, णारि हि विवरीउ चवंति जोइ ॥ ७ ॥
हय गय धय रहवर चामरांह, मणि भूरि चंद मुत्तिय घराह ॥ ८ ॥
जंपाण जाण परियण कणांह, उच्छाण महिसि खर गोह णाह ॥ ९ ॥
एदाण संख कीरइ सु जं जि, पभणिज्जइ वउ पंचमउ तं जि ॥ १० ॥

अब लोक में व्याप्त लोक मूढ़ता को कहता हूँ—जो सबको एक समान मानते हैं, जिनकी दृष्टि में कोई गुण विशेष नहीं है। जो श्रेयोमार्ग अथवा व्रत प्रधान मार्ग को नहीं जानते तथा जो बुधिवन्त ऋषियों और अज्ञानियों में अन्तर नहीं मानते। जिनकी भक्ति और दान देखा-देखी होता है। जो निरे सयाने होकर भी लौकिक पथ पर चलते हैं। ये लोग तो अपने आपको ही बड़ा मानते हैं, हमें कौन बड़ा मानता है, तथा जो यह मानते हैं कि यही आचार संहिता सुन्दर है, गुण युक्त है, वे लोग लोक मूढ़ हैं और उनका समग्र गुरु पथ लोक मूढ़ता से संसक्त है। ऐसे मनुष्य अविवेकी हैं, अभागी हैं। मनुष्य जन्म में धर्म का विवेक ही सारभूत है, और स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति रूप जिनेन्द्रवाणी के विभेद ही प्रयोजनीय हैं॥ २२.२३.२४.२५.२६.२७॥

घत्ता—जिसमें एक के अनेक भेद हो जाते हैं तथा जिसके अन्तर्गत सारभूत तत्त्व प्रकाशित होता है ऐसे जिन वचन सज्जन पुरुषों को शिव सुख के कारण भूत है, मैं उसी सारभूत दर्शन को प्रकाशित करता हूँ॥ २१॥

दुवई—पृथ्वी पर आज भी भव्य जीवों के लिए ऋषियों का परम धर्म शिव सुख का कारक है। जिसकी दृष्टि प्रिय है तथा जिसके कर-पल्लव जुड़े हुए हैं अर्थात् जिनकी आँखों में मैत्री, करुणा, दया है एवं जो विनय सम्पन्न हैं उन जीवों के पहला अहिंसाणुव्रत होता है॥ १६॥

२०

पद्धरी—जो रत्नत्रय के शुद्धिकारक वचनों के अतिरिक्त सर्वप्रकार के वचनों के परित्यागी हैं उनके निज कार्य (सत्य धर्म) की सिद्धि में कौन सा कारण (असत्यालाप) असाध्य होगा अर्थात् उसे झूठ बोलने की आवश्यकता ही नहीं होती। उसी प्राणी के दूसरा सत्याणुव्रत होता है। जो उपकारी सारभूत एवं सुगम है ऐसे तृतीय व्रत को सुनो—जो पत्तन, कर्वट, मठ प्रदेश, एकान्त स्थान, मार्ग, चौराहा, पुर, ग्राम, देश, घर, जंगल व उद्यान में नष्ट हुए पर द्रव्य को न तो उठाता है, न ही चुराता है वही तृतीय अचौर्याणुव्रत का धारक होता है॥ १.२.३.४॥

स्थूल स्तनों के भार से झुक गया है मध्य भाग जिसका ऐसी लावण्यमयी रूपवती विशेष यौवन सम्पन्न पर-स्त्रियों को देखकर जो उनकी अभिलाषा नहीं करता है एवं जिनके कामोत्पन्न नहीं होता है उन्हीं के यह चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रत होता है। नारियाँ इससे विपरीत अर्थात् पर-पुरुषों का त्याग करती हैं। जो हाथी, घोड़ा, ध्वजा से युत श्रेष्ठ रथ, चामर, अनेक चन्द्रकान्तादि मणिरत्न, मुक्ताफल, भवन, शिविका, वाहन, परिजन, स्वर्ण, वृषभ, भैंसा, खच्चर और सुभट इत्यादि वस्तुओं का प्रमाण करता है उसी सुजन के यह परिग्रह परिमाण नामक पंचम व्रत कहा गया है॥ ५.६.७.८.९.१०॥

घत्ता— ए अणुवय पडिय संप्पय पंचउ पालिज्जो वि णरु।
सग्ग लइ सोक्ख विसलइ जाइ ताहं माहप्पि वरु॥ २२॥

दुवई— सुरसिहि वरुण पवण णेरइए, जम धण दिसा दिव्वहे।
करि परिमाणु फिरइ दिसि विदिसा, गुणवउ पढम कय सुहे॥ १७॥

२१

पद्धरी— रयणांहरणामल पर पयास, घणसार सार सेरिंघ वास॥ १॥
झुसुर-वर वर मयणाहि गंध, सव लहण सपरिमल भरिय रंध॥ २॥
णेही रोहस रसिल्लु भोज्ज, इयरा वि भक्ख कय सुक्ख सज्ज॥ ३॥
इन्हं जं किज्जइ संख भाउ, वीयउ गुण वउ ते गलिय गाउ॥ ४॥
केई पवंग विसदंसयाह, चरणाउह मर पारावयाह॥ ५॥
सुव सारमेय सारीउ साल, विस धाइ लोहपहरण पहाल॥ ६॥
सण जालपास महु सारपंख, कुसि पारा कत्थ राइ लक्ख॥ ७॥
ण किणंति जे वि णउ विक्कणंति, पालंति ण णउसंग्गुहु कुणंति॥ ८॥
तीयउ गुणवउ परु ते सुठाइ, इयरे सुद वत्तिहिं खयहु जाइ॥ ९॥

घत्ता— सण्हाए करि अणुराए, गुणवयाइ जो पालए।
दुक्खं चिउ भव भवि संचिउ, पाव पडलु उद्दालए॥ २३॥

दुवई— गुणवय भणिय जेम जणि गणहरि, तेम वि अवर अक्खिया।
सिक्खावय चयारि चिरु वुच्चिय, तिहुवण वईय लक्खिया॥ १८॥

घत्ता—जो नर अणुव्रतों की प्रतिज्ञा से सम्पन्न होकर इन पंचाणुव्रतों का पालन करता है, वह स्वर्ग को प्राप्त कर सुखपूर्वक विलास करता है। यह व्रतों का ही उत्तम माहात्म्य है॥ २२॥

दुवई—जो पूर्व दिशा, आग्नेय, पश्चिम, वायव्य, दक्षिण, नैऋत्य एवं धन की दिशाओं अर्थात् उत्तर और ईशान इन दिव्य दिशाओं और विदिशाओं की सीमा निर्धारित करके घूमता है उसी के सुखपूर्वक यह प्रथम दिग्व्रत नामक गुणव्रत होता है॥ १७॥

२१

पद्धरी—उत्तम दैदीप्यमान रत्नों के आभरण, कर्पूर, उत्तम सेरिंघ अर्थात् शृंगारिक कुंकुम, सिन्दूर, उत्तम सुगन्ध, ताम्बूल, श्रेष्ठ कस्तूरी, नाना वर्णी पराग पुंजों से भरे हुए हैं छिद्र जिसके ऐसे पुष्पों का समूह आदि वस्तुएँ तथा जिनके किनारों से रस चूँ रहा है ऐसे रसीले भोज्य पदार्थ। इनके अतिरिक्त सुखोत्पन्न करनेवाले अन्य भक्ष्य पदार्थों का जो विनयशील प्राणी प्रमाण कर लेता है उसीके भोगोपभोग नामक द्वितीय गुणव्रत होता है। वानर, विषधर, आयुध के समान पैरवाले उलूक, कबूतर, शुक, श्वान, सारिका, साल नामक पक्षी विशेष तथा विष, लौह धातु के पैने आयुध, उत्तम ढाल, सन (जिसके तन्तुओं से रसियाँ बनाई जाती हैं), जाल, पाश, मधु, चित्र-विचित्र पंख अथवा पासा खेलने का रंग-बिरंगा काष्ठ फलक (चौपड़), हल की फाल, पारद, कत्था, सुन्दर लाख इत्यादि पदार्थों को जो न खरीदते हैं, न ही बेचते हैं, न संग्रह करते हैं और न कपि आदिक को पालते हैं, उन्हींके यह अनर्थदण्ड त्याग नामक तृतीय उत्कृष्ट गुणव्रत स्थापित होता है तथा अन्य खोटे श्रुतों में प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है॥ १.२.३.४.५.६.७॥

घत्ता—हे पुत्री! इन गुणव्रतों का जो अनुराग पूर्वक पालन करते हैं, उन जीवों के भव-भव में संचित पाप-पटल उत्पाटित हो जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं॥ २३॥

दुवई—गणधर देव ने जिन गुणव्रतों को लोगों के लिए कहा, उन्हीं गुणव्रतों को अन्य आचार्यों ने भी कहा है। अब त्रिभुवनपति के द्वारा चारों शिक्षाव्रतों के लक्षण कहे जा रहे हैं॥ १८॥

पद्धरी— सुणि भो भवियण थिरु देइ कण्णु, सु पयत्ते थिरु मणु करि पसण्णु ॥ १ ॥
उट्ठिवि सिज्जइ सु-पहाइ कालि, वंदियइ देउजिण कय सु हालि ॥ २ ॥
कीरिज्जइ छवासाय विसुद्धि, मज्झण्णि जिणहो कय परम बुद्धि ॥ ३ ॥
अहिसेउ कुणि वि वंदिय हि पाय, बहु थुवि गिराइ परिगलिय राइ ॥ ४ ॥
अवरण्ह समए जिणणाह थुत्ति, किज्जइ महुरक्खर भास जुत्ति ॥ ५ ॥
तं सिक्खा कउ पढमिल्लु होइ, उत्तमु सु पसिद्धउ मच्च लोइ ॥ ६ ॥
वे कालए जं पणमियए देउ, तं मज्झिमु सिक्खावउ सहेउ ॥ ७ ॥
जं इक्क कालि जिण वय पसण्णु, पणविज्जइ तं वुच्चइ जहण्णु ॥ ८ ॥
मासहुं किर सुम्महि पव्व चारि, ते उववासिज्जहि पावहारि ॥ ९ ॥
तं वीयउ सिक्खावउ वियांणि, एरिसु उत्तिमु संसंति णाणि ॥ १० ॥
जं आरणाल उल्लिउ वरण्णु, भुंजिज्जइ किज्जइ मणु पसण्णु ॥ ११ ॥
तं मज्झिमु किज्जइ एय-भत्तु, जे तं जहण्णु देवेण उत्तु ॥ १२ ॥
जोईसर अज्जिय सावयाह, दुप्पहर समइ वज्जियर-याह ॥ १३ ॥
एयह दारावेखणु करेइ, सो तीयउ सिक्खावउ धरेइ ॥ १४ ॥
किज्जइ सल्लेहण मरण-कालि, वउ लिज्जइ तोडिवि मण दुवालि ॥ १५ ॥
गोत्त णरोवरि किज्जइ ण मोहु, तज्जियइ पइत्ते कोहु लोहु ॥ १६ ॥
संथारे कय सण्णास भाउ, णिय पाण मुइज्जहि मुक्क पाउ ॥ १७ ॥
इउं सिक्खावउ तुरियउ पवुत्तु, सिव सुहयारे मुणिणाहि उत्तु ॥ १८ ॥

घत्ता— दुह सायरहो संसारहो, लंघिवि गच्छइ मुत्ति घरु।
वारह वय संसग्ग गया, जो णरुपालइ बोह परो ॥ २४ ॥

दुवई— पयडि दिवाडए ण पड्डु वुहणर, भोयणु लडहि किज्जए।
दो दो णाडि मिल्लि पुव्वावर, कलिमलु मलु दल्लिजए ॥ १९ ॥

पद्धरी—हे भविजन! प्रयत्नपूर्वक मन को स्थिर और प्रसन्न करके धैर्यपूर्वक कान देकर सुनो। जो सु-प्रभात काल में सेज से उठकर सुख की पंक्तियों को देनेवाली जिनेन्द्र देव की वन्दना करता है। विशुद्धिपूर्वक षडावश्यकों को करता है। मध्याह्न में निर्मल मति से युक्त जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक करके राग को नष्ट करता हुआ उनके चरणों की वन्दना करता तथा वचनों से अनेक स्तुतियाँ करता है तथा अपराह्न काल में मधुर अक्षरों के द्वारा जिननाथ की स्तुति करता है उसको पहला सामायिक नामक शिक्षाव्रत होता है, जो कि मृत्यु लोक में उत्तम नाम से सुप्रसिद्ध है॥ १.२.३.४.५.६॥

दो कालों में अर्थात् पूर्वाह्न और अपराह्न काल में जो जिनदेव को प्रणाम करता है उसके मध्यम सामायिक नामक पहला शिक्षाव्रत होता है इसी प्रकार जो एक समय (काल) में प्रसन्न मन से जिनदेव के चरणों में प्रणाम करता है उसके जघन्य सामायिक नामक प्रथम शिक्षा व्रत होता है। जो एक माह में चारों पर्वों में सज्जनों द्वारा सम्मानित पापापहारी उपवास करता है उसके प्रोषधोपवास नामक द्वितीय शिक्षाव्रत होता है। इसमें जो उत्तम व्रत है उसकी ज्ञानीजन प्रशंसा करते हैं॥ ७.८.९.१०॥

जो गीली तथा श्रेष्ठ कांजी को एक बार प्रसन्न मन से ग्रहण करता है उसके मध्यम प्रोषधोपवास होता है तथा जो एक बार भोजन ग्रहण करता है उनके जघन्य प्रोषधोपवास व्रत होता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। जो दोपहर के समय को छोड़कर योगीश्वर, आर्यिका एवं (क्षुल्लक, ऐलक) श्रावकों का द्वारापेक्षण करता है वह तृतीय अतिथि संविभाग नामक शिक्षाव्रत को धारण करता है॥ ११.१२.१३.१४॥

मरण काल में सल्लेखना धारण करना चाहिए। व्रत लेकर मन की वक्रता को तोड़ना चाहिए। अपने गोत्रीय आत्मीयजनों पर मोह नहीं करना चाहिए तथा प्रयत्नपूर्वक क्रोध और लोभ का त्याग करना चाहिए। संन्यास भाव से संथारा करके, पाप मुक्त होकर अपने प्राणों का परित्याग करना चाहिए। इस प्रकार शिव सुख को प्रदान करनेवाले मुनिनाथ ने इसे सल्लेखना नामा चतुर्थ शिक्षाव्रत कहा है॥ १५.१६.१७.१८॥

घत्ता—जो बुद्धिमान पुरुष निशंक होकर इन बारह व्रतों का पालन करता है वह अतिशीघ्र संसार रूपी दु:ख सागर को लांघकर मुक्तिगृह में प्रवेश करता है॥ २४॥

दुवई—हे चतुर विज्ञ पुरुष! सूर्य के उदित हो जाने पर दो घड़ी अर्थात् अड़तालीस मिनट बीत जाने पर तथा सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व सुन्दर भोजन कीजिए और पापरूपी कल्मष को दलित कीजिए॥ १९॥

२३

पद्धरी— गालिवि णिरु वत्थे पिवइ पाणि, दय किज्जइ छिज्जइ दुहु णियाणि॥ १॥
अभयाहारो सह सत्थदाण, दिजंति तिसुद्धिय जगि अमाण॥ २॥
संयइ जिणसासणि पंचपत्त, पर मज्झिमाह कुच्छिय अवत्त। ३॥
विउणिय दहट्ठ गुण गरुव गेह, ते परम पत्त परिचत्त णेह॥ ४॥
दंसण वयहर मज्झिम जहण्ण, दंसणधर गय वय विगय मण्ण॥ ५॥
जे कय कुच्छिय वय लिंग्ग धारि, ते हुंति कुपत्त परत्त हारि॥ ६॥
दुप्पोसासव दुघुट्टरासि, जे ते अपत्त जिणि उत्तु आसि॥ ७॥
जे तय पत्तह दंसण विसुद्धि, सावय सु दिंति चउदाण बुद्धि॥ ८॥
ते अप्पणिलइ णवणेह वास, उववज्जहि तित्त महा सुहास॥ ९॥
पर मज्झिम हुंति जहण्ण सव्व, अणुकमि ण वियाणहु गलिय गव्व॥ १०॥
दय दाणु पभासिउ सयल पाणि, णिच्छउ विवेउ वुज्झिउ णियाणि॥ ११॥
सावइ धम्मे करुणा णिहांणु, जो होइ जीउ तसु अयलु ठाणु॥ १२॥
किरियारे वय सायार वित्ति, आइण्णि महीवइ विमल चित्ति॥ १३॥
पुणु भासइ सामि मइंकलेह, सुय पइ दुहि तत्त वियाणि एह॥ १४॥
कइया संगमु होसइ रिसीस, पडिहासहि सामिय गुण णिहीस॥ १५॥

घत्ता— दाणसाल सिद्धत्थपुरे, सुतपति संगमु होसए।
उररुह अमिद सवणि मुणिए, तं तणरुह रिसि घोसए॥ २५॥

दुवई— राउ मइंकलेह पुरयणु सवु, सुणि णिय गेहि आइओ।
वइरु अण्णु णिउण आइण्णओ, जं तु पुरुउ जाइयओ॥ २०॥

२३

पद्धरी—जो पुरुष वस्त्र से पानी को गालकर अर्थात् छानकर पीता है वह जीवों पर दया करता है। उसका दु:ख का कोप क्षीण हो जाता है। संसारी प्राणी विनयभाव से त्रिशुद्धिपूर्वक अभयदान, आहारदान, औषधिदान और शास्त्रदान देते हैं। जिन शासन में उत्तम, मध्यम, जघन्य, कुपात्र और अपात्र ये पाँच संयम के पात्र बतलाए हैं। जो दो से गुणित दस अर्थात् बीस और आठ अट्ठाईस महान गुणों के धारक हैं एवं स्नेह अर्थात् मोह से रहित हैं वे उत्तम पात्र हैं। सम्यग्दर्शन सहित व्रत के धारक मध्यम पात्र हैं तथा जो गर्व और व्रत से रहित केवल सम्यक्त्वधारी हैं वे जघन्य पात्र हैं॥ १.२.३.४.५॥

जिन्होंने व्रतों को कुत्सित यानी दूषित कर दिया है और लिंग मात्र धारण किए हैं वे परलोक को नष्ट करनेवाले कुपात्र कहलाते हैं। जो दुष्पोष्य हैं, जिनसे कर्मास्रव होता हैं तथा जो दु:खों की राशि हैं वे अपात्र हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। जो दर्शन विशुद्धि से विशुद्ध तीन पात्र हैं, उनको श्रावक बुद्धिपूर्वक चारों प्रकार का दान देते हैं वे नूतन धर्मानुराग के साथ अपने आत्म निलय में निवास करते हुए महान् सुखों के स्थानों में उत्पन्न होते हैं। सभी पात्र अनुक्रम से उत्तम, मध्यम और जघन्य रूप से तीन प्रकार के होते हैं जो गलित मानी अर्थात् निरभिमानी होते हैं॥ ६.७.८.९.१०॥

सकल प्राणियों को दया और दान का जो कथन किया गया है उसे निश्चय ही विवेक का स्थान जानना चाहिए। श्रावक धर्म करुणा का निधान है और जो जीव इससे (दया) युक्त होता है उसका करुणा अचल स्थान होता है। इस प्रकार मुनि और श्रावक की क्रियाओं अर्थात् आचरण को सुनकर राजा निर्मल चित्तवाला हो गया। क्षितीश्वर पुन: कहता है—हे स्वामिन्! इस मृगांकलेखा को पुत्र और पति के वियोग से दु:खी—संत्रस्त जानिए। हे स्वामिन्! हे गुणनिधीश! हे ऋषीश! कहिए इनका समागम कैसे होगा?॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

घत्ता—सिद्धार्थपुर की दानशाला में पुत्र और पति का समागम होगा, ऋषि की ऐसी उद्घोषणा सुनकर उसके तनरुह अर्थात् रोमांच निकल आए और उरोजों से दुग्ध झरने लगा॥ २५॥

दुवई—राजा कनकध्वज, मृगांकलेखा, सर्व पुरजन व नगर के अन्य निपुण लोग-ऋषीश्वर का धर्मोपदेश सुन अपने-अपने नगर की ओर लौट आए॥ २०॥

पद्धरी— कर मउलि पइंपइ अवणिईसु, करि दाणसाल साहइ सईसु ॥ १ ॥
पुत्ती णिरु तिट्ठहि दाणसाल, तुह दइउ मिलेसइ णियडि काल ॥ २ ॥
तदणंतरि विमलमई सुसिट्ठि, आयारसार भत्तउ पमिट्ठि ॥ ३ ॥
विणए जंपइ णरणाह वयणु, दिढ सीलि सई जे णारि रयणु ॥ ४ ॥
महु गिहि अच्छउ णिसिदिणु णियाणि, महु पत्ति समीवे इक्क ठाणि ॥ ५ ॥
मणइ सुणि वइणु मइंकलेह, थिरु थाइ तहा साहम्मि गेह ॥ ६ ॥
णिय दाणसाल अप्पइ सुदाणु, आहार सत्थ ऊसह समाणु ॥ ७ ॥
पहियण जण किज्जइ विविह सेउ, जस कित्ति लवहि ससिलेह हेउ ॥ ८ ॥
जा सुहि णिवसइ सई ठाणि तत्थ, वइयरु णिसुणहु पय पुत्तु जत्थ ॥ ९ ॥
वइसवण वणीसर गिहि कुमारु, लालइ मणु रंजइ णाइ मारु ॥ १० ॥
गिहभार धुरंधरु दाण सीलु, दीणह परिपोसणु सुजस लीलु ॥ ११ ॥
कुल गयण ससंकु सया सयाणु, ववहार किया वहु कल वियाणु ॥ १२ ॥
पिद कज्ज करण ववहारि सारु, अप्पण धुरि धारइ सयलु भारु ॥ १३ ॥
वइसवणु सिट्ठि गणि पयड जाउ, सु-सुरिदंदत्त अविहाणि ताउ ॥ १४ ॥
रायालइ आयरु सुयणि सच्छु, सियसंगम करणे पवर दच्छु ॥ १५ ॥
लच्छी मिदिमाणु ण मुणइ कोइ, धण लाहु असंखउ णिच्च होइ ॥ १६ ॥

घत्ता— इक्क दिवसि वणिवर भवणे, राइपरोहिउ आइयउ।
समसिट्ठि वुत्तु णरवइ वयणु पइ तणरुह गुणि राइयउ ॥ २६ ॥

दुवई—तणया तासु देण णिउ वंछइ, छण ससिमुहि मयच्छिया।
रूवि रसाल वाल वर सुंदरि, णावइ वीय लच्छिया ॥ २१ ॥

पद्धरी—दानशाला का निर्माण कराकर राजा हाथों को मस्तक से लगाकर सती से कहता है—हे पुत्री! तुम दानशाला में ठहरो, अत्यल्प समय में वहीं पर आपके पति मिलेंगे। तदनन्तर निर्मल आचारवाला एवं परमेष्ठी का भक्त विमलपति नामक सेठ विनय युक्त वचनों से राजा से कहता है—इस दृढ़शीला सती नारी रत्न को 'मेरे घर में एक स्थान पर रख दीजिए। मेरी पत्नी निशदिन इसके समीप रहेगी॥ १.२.३.४.५ ॥

सेठ के वचन सुनकर मृगांकलेखा उस साधर्मी के गृह पर स्थायी रूप से रहने के लिए तैयार हो गई। मृगांकलेखा अपनी दानशाला में सम्मान और उत्सव सहित आहार दान देती हुई पथिकजनों की नाना प्रकार से सेवा करती थी। सभी लोग उस की प्रशंसा करते थे। जिस स्थान पर वह सती सुखपूर्वक निवास करती थी, वहीं पर अपने प्रिय पुत्र का समाचार सुनती है॥ ६.७.८.९ ॥

वणिकाधिपति वैश्रवण के महल में कुमार का स्नेहपूर्वक पालन हो रहा है। कुमार कामदेव की भाँति सबका मनोरंजन करता है। वह पुत्र गृहस्थ भार को वहन करने में समर्थ, दानशील तथा दीन-दुखियों का पोषण करता हुआ सुयश में कीड़ा करता है। वह चतुर बालक कुलरूपी आकाश का चन्द्रमा है। व्यापार सम्बन्धी अनेक क्रियाओं को बड़े सुन्दर ढंग से जानता है अर्थात् उस विज्ञ की सर्व व्यापारिक क्रियाएँ बहुत ही मनोहर हैं। पिता के व्यापार करने में वह व्यवहार कुशल है। सारे व्यापार का भार उसने अपने ऊपर ले रखा है। सुरेन्द्रदत्त है नाम जिसका ऐसा वह कुमार धन कुबेर श्रेष्ठियों की गणना में प्रकट हुआ है अर्थात् गिना जाने लगा है। उसका राजमन्दिर में श्रेष्ठ पुरुषों की भाँति आदर है। वह लक्ष्मी का संग्रह करने में प्रवीण एवं दक्ष है। सच है जिसके यहाँ नित्य ही असंख्य धन का लाभ होता हो ऐसे लक्ष्मीवन्त, मृदुस्वभावी, निरभिमानी को कौन नहीं जानेगा॥ १०.११.१२.१३.१४.१५.१६ ॥

घत्ता—एक दिन वणिक श्रेष्ठी वैश्रवण के महल में एक राजपुरोहित आया। उसने श्रेष्ठी के सम्मुख नृपति के वचनों को कह सुनाया—हे श्रेष्ठिन्! आपका पुत्र राजकीय गुणों से अलंकृत है॥ २६ ॥

दुवई—राजा उसे अपनी पौर्णमासी के चन्द्र समान चन्द्रमुखी, मृगनयनी पुत्री देना चाहते हैं। वह उत्तमवाला अत्यन्त ललित और सुन्दर है, वह ऐसी लगती है मानों दूसरी लक्ष्मी ही हो॥ २१ ॥

२५

पद्धरी— आइण्णि लवइ पुणु वणि पहाणु, हाडइ जडि सोहइ मणि णिहाणु॥ १॥
कहु कासु ण भावइ णिव पसाउ, अम्मइ वणिवर णिय गलिय गाउ॥ २॥
जं वंछइ महिवइ देण पुत्ति, किं करभ कलभ सम घडइ जुत्ति॥ ३॥
कहि रवि खज्जोवइ तेय सत्थु, कहिं गाडर अंवरि सुहम वत्थु॥ ४॥
जा वणिवरु भासइ दीण वयणु, ता लवइ परोहिउ सच्च वयणु॥ ५॥
भो वणि कुलतिलय पहाण गोह, तव तणरुह रुवि ण अमर सोह॥ ६॥
तिह समसरि करइ ण कामएउ, किं कद्दमि कवल ण उवण हेउ॥ ७॥
कणयोवलि होइ ण सत्थु केम, तिय रयणु समीहइ पुरिस हेम॥ ८॥
तव णंदण गुणि लुद्धउ णरेसु, मणि मण्णइ रुवे णं सुरेसु॥ ९॥
संसारि ण को तिह सम सरुउ, सुअ देण समीहइ विणय भूउ॥ १०॥
मण्णइ किर वणिवरु एहु मंतु, आइण्णइ सिट्ठणि ईस संतु॥ ११॥
आणंदे वंभणु गउ झडत्ति, वइयरु आइण्णहु सिट्ठि पत्ति॥ १२॥
आइंद्दइ णिंदइ अप्प कम्मु, किर कहिवि ण सक्कइ गुज्झु मम्मु॥ १३॥
हा विहणा णिम्मिउ काइ कज्जु, महु उयरि ण णिवडउ काइ वज्जु॥ १४॥
पर जाइउ णंदणु गिह पहाणु, अहुणा णिउ वंछइ पुत्ति दाणु॥ १५॥
महु अंगइ तिंह अग्गइ णिहीण, किंकर कमि तिट्ठइ णाइ दीण॥ १६॥

घत्ता— सिट्ठणि धारइ मणि पुत्तु ण महु, तणि करि उवाउ संहरउ तिसो।
मोइय विस मीस दासिउ दीस, लहु वड अणुकमि दाण जिसो॥ २७॥

दुवई— तदणंतरि सुआउ सत्थाहिउ, वत्थु कियाण कारणे।
तत्थ सुरिंदकुमरु समवंधव, तिट्ठइ लाहुधाणापणे॥ २२॥

पद्धरी—पुरोहित के वचनों को सुनकर वैश्रवण वणिक कहता है—मणियों का समूह स्वर्ण में जड़कर ही शोभा पाता है। हम वणिक श्रेष्ठ तो निरहंकारी हैं। कहिए राजा की प्रसन्नता किसके मन को अच्छी नहीं लगती। राजा अपनी पुत्री देना चाहते हैं। क्या गज शिशु और ऊँट की जोड़ी बनती है? कहाँ प्रचण्ड प्रतापवान सूर्य का तेज और कहाँ खद्योत? कहाँ गाडरों के रोम समूह से बना मोटा कम्बल और कहाँ सूक्ष्म चीनपट्ट? क्या दोनों की समानता हो सकती है? जैसे ही वणिक श्रेष्ठी ने ऐसे दीन वचन कहे, त्यों ही निर्मल दृष्टिवाला पुरोहित कहने लगा॥ १.२.३.४.५॥

हे वणिक कुल के तिलक स्वरूप प्रधान पुरुष! आपके पुत्र के रूप के सामने तो देव भी शोभा को प्राप्त नहीं होता अर्थात् वह भी आपके पुत्र की सुन्दरता के सामने लज्जित है। अरे! कामदेव जैसा रूपवान् भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता। क्या कीचड़ कमल की उत्पत्ति का कारण नहीं है? क्या कनक और पाषाण एक साथ नहीं होते अर्थात् स्वर्ण पाषाण में स्वर्ण और पत्थर एक साथ नहीं रहते? अथवा क्या स्त्री रूपी रत्न पुरुष रूपी स्वर्ण की इच्छा नहीं करता? राजा आपके पुत्र के गुणों पर अनुरक्त है। उनकी मान्यता है, यह पुत्र रूप में मानों इन्द्र ही है। संसार में उसके समान रूपवान अन्य कोई नहीं है इसलिए राजा विनयपूर्वक उसे अपनी सुता देना चाहते हैं॥ ६.७.८.९.१०॥

वणिक श्रेष्ठी ने पुरोहित की इस मन्त्रणा को स्वीकार कर लिया। इधर पुरोहित आनन्दित हो शीघ्र चला गया उधर सेठ की पत्नी ने यह समाचार सुन लिया कि राजा अपनी पुत्री सुरेन्द्रदत्त को देना चाहता है, वह ईर्ष्या से भर गई। धनवती सेठानी आक्रन्दन करती हुई अपने कर्मों की निन्दा करती है किन्तु इस गुप्त मर्म (ईर्ष्या भाव) को किसी से कह भी नहीं सकती थी। हाय विधाता तूने भी क्या कर्म रचा? अरे मेरी छाती पर वज्र क्यों नहीं पटक दिया। दूसरी स्त्री का जाया बेटा मेरे घर का प्रधान है और अब राजा उसे अपनी राजकन्या देना चाहता है। उसके आगे मेरे पुत्र नितान्त हीन और तुच्छ हैं। वे तो दीन-हीन किंकर की भाँति उसके चरणों में बैठे रहते हैं॥ ११.१२.१३.१४.१५.१६॥

घत्ता—सेठानी अपने मन में ठान लेती है यह मेरे उदर से उत्पन्न पुत्र नहीं है। कुछ उपाय करके इसे मार डालती हूँ। उसने विष मिश्रित मोदक दासी को देकर कहा—ये बड़े और छोटे मोदक क्रमशः बड़े और छोटे पुत्रों को दे देना अर्थात् बड़े पुत्र सुरेन्द्रदत्त को बड़ा मोदक और लघु पुत्र नरदेव और धनदेव को ये छोटे-छोटे मोदक दे आ॥ २७॥

दुवई—तत्पश्चात् कोई सार्थवाह प्रमुख नमक, मिर्च, मसाला, गुड़ादि वस्तुओं (खरीदने) के निमित्त वहाँ आया जहाँ सुरेन्द्रदत्त धन प्राप्ति की इच्छा से अपनी दुकान में दोनों भाईयों सहित बैठा था॥ २२॥

पद्धरी— सिट्ठणि दासी पेसइ सु तत्थ, सा झत्ति गई तिगु बंधु जत्थ ॥ १ ॥
पडिहासइ आवहु तुम्मिह गेहि, असणत्थे जणणी लवइ णेहि ॥ २ ॥
वर कुमरु भणइ महु णत्थि वज्झु, वहु लद्धि कियाणग गमु असज्झु ॥ ३ ॥
ता अप्पइ दासी मोय तिण्णि, वे लहु वड इक्कु असुह सुचिण्हि ॥ ४ ॥
वड वंधव तद्दिणि एयभत्तु, वर मोइय भुज्जणि चित्तु चत्तु ॥ ५ ॥
लहु भासइ सइलहु बहु गसहु सिग्घ, पच्छइ गिहि गच्छहि णिरु अविग्घ ॥ ६ ॥
तव्वयणे खद्ध झडत्ति तिण्णि, हाहाहलि घेरिय मूव विण्णि ॥ ७ ॥
जो कूड खणइ किर परहु कज्जि, सो अप्पणु बूडइ हाणु सज्जि ॥ ८ ॥
इहु लोइ पहाणउ पयडु अत्थि, पर दाहउ डज्झइ तासु सत्थि ॥ ९ ॥
हाहा रउ उट्ठिउ सुणइ सिट्ठि, मण भिंतरि चिंतइ सोस दिट्ठि ॥ १० ॥

मोइय माहप्पहु मणि पवंचु, तुण्णी गहि थक्कउ धम्म संचु ॥ ११ ॥
संकमि तणइ जुइ लिल्लु देहु, मणि धारइ दारा दट्ठु गेहु ॥ १२ ॥
सुसुरिंद कुमरु आइंदमाणु, करु गहि गच्छइ एयंत ठाणु ॥ १३ ॥
हो पुत्त मा रोवहि धाह मिल्लि, किर कम्महु गइ को सकइ पिल्लि ॥ १४ ॥
जो इंद फणिंद णरिंद सव्व, ते कालि गसि जहि गलिय गव्व ॥ १५ ॥
पडिवोहणु करि परियणु समग्गु, करि पेय कियाणिय कज्जि लग्गु ॥ १६ ॥
चिद अंतरि चिंतइ वणि सयाणु, धम्मे जय पावे णर पवाणु ॥ १७ ॥
पत्ती यदि मारइ सइ मरेइ, असहंती अंगय गरलु देइ ॥ १८ ॥
रत्ती दुगइ दायार सारि, सुविरत्ती वे कुल पलय मारि ॥ १९ ॥
जणि रोइ रुवावणि रुवणसील, जसकित्ति विणासणि अजस कील ॥ २० ॥
रइ रंगे तासु णिवासु सुब्भ, वर णर पडिकूलणि णीय खुब्भ ॥ २१ ॥

घत्ता— वइसवणु वियारइ णिय मणि धारइ जेम ण मारइ जाम जिसो।
सु सुरिंद कुमारं वर णर सारं, वइयरु वुच्चमि सिग्घ तिसो ॥ २८ ॥

पद्धरी—सेठानी ने दासी को वहीं भेजा। वह द्रुतगति से वहाँ पहुँची जहाँ तीनों भ्राता बैठे थे। वह कहती है—आप लोग भोजन के लिए घर चलिए, आपकी माता स्नेह से बुला रही है। ज्येष्ठ कुमार सुरेन्द्रदत्त कहता है—मुझे बाध्य मत कीजिए, बहुत सारा किराना (नमक, मसाला आदि) आया हुआ है। मेरा जाना असम्भव है। तब उस दासी ने तीनों लड्डू सौंप दिए, दो छोटे और एक अशुभ चिह्न वाला बड़ा। बड़े भाई का उस दिन एक भुक्ति व्रत था, सो उसने उत्तम मोदक खाने से अपने चित्त को हटा दिया अर्थात् मोदक खाना त्याग दिया॥ १.२.३.४.५॥

लघु भ्राता कहते हैं—हम तो जल्दी से ये सारे लड्डू खा लेते हैं, पश्चात् निर्विघ्न होकर घर जाएँगे। इतना कहते ही उन दोनों ने तीनों मोदक शीघ्र ही खा लिए, हालाहल विष ने उन्हें घेर लिया और वे दोनों वहीं मर गए। नीति है जो दूसरों को कुआँ खोदता है, सो खुद ही उसमें गिरता है। स्वयं उसकी हानि पहले ही तैयार रहती है। यह तो लोक में स्पष्ट रूपेण प्रसिद्ध है कि जो दूसरों को जलाता है उसीके साथ वह स्वयं ही जल जाता है। सेठ ने अचानक उठे हाहाकार को सुना। वे आँखों को सुखाकर अर्थात् आँसू पोंछकर मन-ही-मन विचारने लगे 'यह मोदक और धर्म संचय का ही प्रताप है' और सारे प्रपञ्च को समझ गए। खेद खिन्न हो उन्होंने मौन धारण कर लिया॥ ६.७.८.९.१०.११॥

पुत्रों की कान्तिमान देह विष से संक्रान्त हो नील/हरित वर्णी हो गई अर्थात् उनका शरीर हालाहल के कारण नीला पड़ गया। सेठ हृदय में विचारने, मेरे घर में पत्नी ही दुष्ट है; अत: वह आक्रन्दन करते हुए कुमार सुरेन्द्रदत्त को हाथ पकड़कर एकान्त स्थान में ले गया और बोला—हे पुत्र! धाड़ मारकर मत रो। निश्चित ही कर्म गति को कौन टाल सकता है ? जो इन्द्र, धरणेन्द्र या नरेन्द्र हैं वे सभी काल ग्रसित होने पर गलित गर्व यानी निरभिमानी हो जाते हैं॥ १२.१३.१४.१५॥

पश्चात् कुटुम्बीजनों को समझा-बुझाकर मृतकों की अन्त्येष्टि क्रिया करके स्वयं सार्थवाहिक के कार्य में लग गया। वह विज्ञ वणिक अपने चित्त में विचार करता है, 'प्रवीण पुरुष धर्म के द्वारा ही विजय प्राप्त करते हैं'। यदि मैं अपनी भार्या से कुछ कहता हूँ तो या तो वह स्वयं मर जाएगी अथवा पुत्र सुरेन्द्रदत्त को सहन नहीं करती हुई उसे विष देकर मार देगी। स्त्रियों की दो गतियाँ होती हैं यदि वे प्रसन्न/अनुरक्त रहती हैं तो ही श्रेष्ठ है और यदि वे विरक्त अर्थात् रुष्ट हो जाती हैं तो उभय कुलों के लिए प्रलय अथवा मारि स्वरूप हो जाती हैं। ये रुदनशील भामनियाँ स्वयं रुदन करती हैं तथा दूसरों को भी रुलाती हैं। यश और कीर्ति का विनाश करती है। पुरुषों को अयश में क्रीड़ा कराती हैं अर्थात् अपयश में पटक देती हैं। इनके साथ रति-संभोग नरकावास का कारण है तथा इनकी प्रतिकूलता नर-पुंगवों को क्षोभित-अशान्त कर देती है॥ १६.१७.१८.१९.२०.२१॥

घत्ता—वैश्रवण मन में विचारता है कि यह सुरेन्द्रदत्त श्रेष्ठ पुरुषों में भी श्रेष्ठ है।'जिस प्रकार यह ना मारा जाए', वैसा वृत्तान्त शीघ्र ही मैं इससे कहता हूँ॥ २८॥

दुवई— पभणइ सिट्ठ सुणहि भो णंदण, आसि वितंतु पयासमि।
हउ पिउ तुंह ण मज्झ तुह तणरुह, सच्चउ वयणु भासमि॥ २३॥

गाथा—गुरु गरल लहरि गहिया, चइया पाणेहिं दो वि ते कुमरा।
धणवइ जणणि साइणि, पुत्ताणं तं काइ कुसलत्तं॥ ६१॥

कहिउण सव्व वइयरु, मा मूल अप्पिऊण तं मुद्दं।
जणणी जणण विहाणं, आलंविय ठाणु वर णयरं॥ ६२॥

दोहा— वच्छ सीख मुझ मनि धरहि, जाइ मिलहिं पिय माइ।
गमनु करहि निज देस प्रति, जिम कलेसु तुम जाइ॥ २५॥

कुमरु कहइ तुम्ह चरण कज, रज मधुलिह हउ नित्त।
राखहु सरण अनाथ कहुं, विमल करहु निज चित्त॥ २६॥

वचन करहु सु-प्रमाण मुझ, सेट्ठि लवइ सत भाइ।
अति अगाह वसि आदरइ, गमन हेउ मनि ठाइ॥ २७॥

मुद्रानामांकित पिता, निरखि मुदित मनि होइ।
वहुल क्रियाणक भारु भरि, बहु सेवक सम सोइ॥ २८॥

चलइ सुरेन्द्र कुमारु तह, परिजन मंडित सोह।
चिंतइ मनि निज कर्म गति, तिजइ पियर निज मोह॥ २९॥

सागरचंद अनिंद पिदु, मनि धारइ मतिवंतु।
आसि पियर विरतंतु सुणि, णं हरषित-रतिकंतु॥ ३०॥

२७

पद्धरी— वर वेसरि वसह तुरंग सत्थु, रह करह कियाणग भरिय वत्थु॥ १॥
जा चल्लइ पुर पट्टण णियंतु, जलणिहि ससि णाम लवइ दियंतु॥ २॥
पडकुडी विविह वण्णंकियाउ, धय धुव्वमाणु समलंकियाणु॥ ३॥
घण गहणि वसहि णिसि णिरु णिसंक, बावार किया वणि वर अवंक॥ ४॥
दडि भंभा भेरिरवाल सद्दु, वर किंकर कज्जि गहीर णट्टु॥ ५॥
सो कुमरु णियइ णिय रुवि ताउ, परि हिंढमाणु जिह तिह अपाउ॥ ६॥
आणंदिय गच्छइ सो गुणालु, णं णरवइ तणउ दिवंत भालु॥ ७॥
पुरि जत्थ विहाणे तामलित्तु, चेयालउ तत्थ रिसह पवित्तु॥ ८॥
धर थक्कउ सत्थु सयाण सव्वु, जिण वंदइ वणि सुउ गलिय गव्वु॥ ९॥
ण्हवणच्चणु करि सु सुरिंददत्तु, काउस्सग्गो ठिउ असण चत्तु॥ १०॥
पणगुरु झाइंतउ अद्ध रयणि, जा सयलु लोउ सुत्तउ सुसयणि॥ ११॥
मणि सरइ जणण जणणी णिवासु, चक्केसरि आइ लवइ सु तासु॥ १२॥
मणवंछिउ पूरमि सयलु भासु, ... ॥ १३॥
ता कुमरु लवइ मणु मज्झ माइ, पुणु ताउ कहहि किण थामि थाइ॥ १४॥
अमरी आहासइ हो सयाणु, दक्खण दिसि गच्छहि करि पयाणु॥ १५॥

घत्ता— णयरे वर सिद्धत्थपुरे, कणयधउणिउ सामिओ।
ससिलेह सई तव जणणि तहा, दाणसाल फुड्डु णामिओ॥ २९॥

दुवई— तत्थ वि तुज्झ ताउ आवेसए, होसइ झत्ति मेलओ।
परमिदि मास इक्कु सुवियाणहि, किर मज्झण्ण वेलओ॥ २४॥

पद्धरी—वह कुमार सुरेन्द्रदत्त उत्तम जाति के खच्चर, वृषभ, अश्व, रथ एवं ऊँटों पर व्यापार सम्बन्धी नमक, गुड़, तेल, घृतादि किराने की वस्तुओं को भरकर पुर-पट्टनों को निहारता हुआ पिता सागरचन्द्र का नाम लेता हुआ दिशा के प्रांत भाग तक चलता जाता है। अनेक रंगों के वस्त्रों से बनी हुई पट कुटी यानी तम्बू जो कि अनेक श्वेत ध्वजाओं से समंलकृत/सुशोभित थी, में ही सघन वन में निशंक होकर रात्रि में ठहर जाता है और निष्कपट भाव से श्रेष्ठ वणिक की तरह अपना सार्थवाह कियाणक नमक, मिर्च, मसाला आदि का व्यापार करने लगता है। उसकी पटकुटी में भंभा, भेरी इत्यादि वाद्य विशेषों की मधुर ध्वनियाँ होती हैं तथा किंकर जन गम्भीर यानी उत्तम नृत्य करते हैं॥ १.२.३.४.५॥

वह निष्पाप कुमार यत्र-तत्र घूमता हुआ अपने पिता का रूप निहारता है अर्थात् पिता को खोजता है। वह गुणवन्त कुमार आनन्दित हो ऐसे गमन करता है मानों दैदीप्यमान ललाटवाला राजपुत्र ही हो। ताम्रलिप्त है नाम जिसका ऐसी नगरी में, जहाँ पवित्र ऋषभदेव का चैत्यालय था, उसी जगह पर कुमार समस्त सुजान पुरुषों के साथ ठहर गया। वह वणिक सुत सुरेन्द्रदत्त निरभिमान भाव से जिनेन्द्र देव की वन्दना करता है। 'ऋषभजिन' का अभिषेक, अर्चना करके सुरेन्द्रदत्त चारों प्रकार का आहार त्याग कर कायोत्सर्ग से स्थित हो गया॥ ६.७.८.९.१०॥

जब सकल परिजन वृन्द सुन्दर शय्याओं पर शयन कर रहे थे; तब अर्द्ध निशा में सुरेन्द्रदत्त अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु इन पञ्च गुरुओं का ध्यान कर रहा था। साथ ही मन में अपने माता-पिता के आवास स्थान का स्मरण करता हुआ तिष्ठा था, तभी चक्रेश्वरी देवी आकर उससे कहती है—मैं सकल वृत्तान्त कहकर तेरी मनोकामना पूर्ण करती हूँ। वह कुमार कहता है—कहो, मेरे माता-पिता किस स्थान के रहनेवाले हैं और कहाँ हैं। अमरदेवी चक्रेश्वरी कहती है—हे विज्ञ! तुम दक्षिण दिशा की ओर प्रयाण करो॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

घत्ता—सिद्धार्थपुर नामक श्रेष्ठ नगर में कनकध्वज नामक राजा रहता है। वहीं आपकी माता हैं तथा उन्हीं के 'मृगांकलेखा' नाम की दानशाला है॥ २९॥

दुवई—वहीं पर आपके पिता श्री आएँगे। अतिशीघ्र मध्याह्न वेला में उनसे मिलाप होगा किन्तु अभी एक माह की अवधि शेष जानिए॥ २४॥

गाथा—एत्तो ठाणाउ गओ, मिलिहि समासेण जणणि जणयाणं।
तो मुच्च वच्छ सोयं, इय जंपिवि सो गया अमरी॥ ६३॥

तत्तो सुरिंददत्तो, पहिट्ठ मणसो णमित्तु सिरि रिसहं।
सिद्धत्थ पुराभिमुहो, चलिओ वहु मित्त संजुत्तो॥ ६४॥

इय सिरि चंदलेह कहाए रंजिय बुहचित्त सहाए भट्टारय सिरि माहेंदसेण सीसय पंडिय भगवइदास विरइए ससिलेह वियोग कुमारसुरेंददत्त वितंतु वण्णणं णाम वीयउ संधि परिच्छेउ सम्मत्तो॥

गाथा—हे वत्स! शोक छोड़ों और उसी स्थान पर चले जाओ, शीघ्र ही माता-पिता मिलेंगे। ऐसा संक्षेप में कहकर वह देवी चली गई अर्थात् अन्तर्धान हो गई॥ ६३ ॥

तत्पश्चात् सुरेन्द्रदत्त ने आनन्दित मन से श्री ऋषभदेव को नमस्कार किया और अनेक मित्रों सहित सिद्धार्थपुर नगर की ओर अभिमुख हो चल पड़ा॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्री मृगांकलेखा चरित्र में बुधजनों के चित्त को अनुरंजित करने में सहायक भट्टारक श्री माहेन्द्रसेन मुनि के शिष्य पं. भगवतीदास विरचित मृगांकलेखा का पुनः पति वियोग, पुत्र कुमार सुरेन्द्रदत्त का जन्म व अन्य वृतान्त का वर्णन करने वाली द्वितीय सन्धि का हिन्दी अनुवाद आचार्यप्रवर श्री शान्ति - वीर - शिव - ज्ञानसागर के शिष्य आचार्य श्री विद्यासागर मुनि के आज्ञानुवर्ती परम शिष्य राष्ट्रसन्त उपाध्याय श्री गुप्तिसागर मुनि द्वारा सम्पूर्ण हुआ।

॥ इति द्वितीय सन्धि समाप्तम् ॥

तिदीय संधि

घत्ता— चलिउ सुरिंद कुमारु वरो, पियर दरिसु वंछत्तओ।
अहुणा तिय पिय संगमु सहसा, वइयरु भणमि संकतओ॥ १॥

१

पद्धरी— णिरु लाडदेसि साहिवि णरेसु, विग्गहि णिग्गहि जिणि सुहड सेसु॥ १॥
सेंतुजइ पहु वसि करिवि सिग्घ, वसु विउण वरिस तहि ठिउ अविग्घ॥ २॥
णिय पहु आएस वसेण जत्थ, हय गय रह पाइग थाहि तत्थ॥ ३॥
पुणु सेंतुजइ णरणाहु सोइ, अवणीसेण हु अणयारु होइ॥ ४॥
पुणु मरण सरण दइयावसाणि, णिव जुव्वणि तरुण तरुणि याणि॥ ५॥
आसा वसि लुद्धी णियहि मग्गु, पिय पिम्म परवसि खीण अंगु॥ ६॥
मणि चिंतइ राउ अवंतिसेण, दुहियह चिंतामणि कामधेणु॥ ७॥
वसु दिज्जइ किज्जइ णिवह झत्ति, जिम जाइ मिलहि गिह ठाणि पत्ति॥ ८॥
जं चिंतिउ वुत्तउ करिउ सोइ, सव्वह किंकर कमिणंक होइ॥ ९॥
मुक्का अमुक्क इव पंजरेण, णं वाणु सरासणि छुट्टु तेण॥ १०॥

पुणु सायरचंदु सरंतु एह, कडयाउ चलइ संततु णेह॥ ११॥
मणि धरइ सई ससिलेह पत्ति, लंघिवि धरगा हणु उत्तिण्णु झत्ति॥ १२॥
गिरि णियडि कडय जुद थाइ जाम, गउ वरुण दिसा रवि अत्थुताम॥ १३॥
खणि संझाराउ पवढ्ढमाण, जं किविण णेहु ठिदि करण दाणु॥ १४॥
पुणु तम समूहु वित्थरइ झत्ति, णं खल अवजसु धावइ धरत्ति॥ १५॥
जा अद्ध रयणि गई उयउचंद, णिरु जग्गइ जलणिहि ससि अतंदु॥ १६॥
तदणंतरि कोवि पुरिसु पुकारि, आरडइ वडइ हा पलइ मारि॥ १७॥
हा जग्गइ कोई सुहडु समत्थु, सरणा गइ पवि पंजरु सुसत्थु॥ १८॥
मारइ महु जोई णिरवराहि, वियराल कवाली विज्ज साहि॥ १९॥
आइण्णि गिरा जलरासिचंदु, गहि पाणि खग्गु धावइ अमंदु॥ २०॥
गिरि उवरि गोहु पिक्खइ अताणु, वंधणि गहि बंधिउ अंत पाणु॥ २१॥

तृतीय सन्धि

घत्ता—अपने माता-पिता की दर्शन की अभिलाषा से श्रेष्ठ कुमार सुरेन्द्रदत्त सिद्धार्थपुर की ओर चल पड़ा। अब मैं (भगवती दास) यहाँ पर सहसा प्रकट हुए प्रिय और प्रिया सागरचन्द्र और मृगांकलेखा के समागम सम्बन्धी वृत्तान्त को प्रसंगान्तर से कहता हूँ॥ १ ॥

१

पद्धरी—वहाँ लाट देश में राजा अवनिसेन ने विग्रह-निग्रह के द्वारा समस्त सुभटों को अधीनस्थ करके जीत लिया तथा शीघ्र ही शत्रुंजय के नरेश को वश में करके सोलह वर्ष तक निर्विघ्न रूप से ठहरा रहा। अपने स्वामी अवनिसेन के आदेश से सागरदत्त भी शत्रुंजय में अश्व, गज, रथ एवं पदाति सेना के साथ ठहर गया। कुछ समय पश्चात् पुन: शत्रुंजय का नृपेन्द्र अवनिसेन अवन्तिका नगराधिपति के विरुद्ध हो गया। अपने पति शत्रुंजय नरेश के अवसान के समय अपने प्रिय के प्रेम के वशीभूत हो, क्षीण हो गया है अंग जिसका ऐसी उसकी यौवन सम्पन्न तरुण-स्त्री को अवन्तिका नरेश ने देखा॥ १.२.३.४.५ ॥

आशा के वशीभूत हो वह लोलुपी उसका मार्ग निहारने लगा अर्थात् उसे अपने अधीन करने का उपाय सोचने लगा। पुन: अवनिसेन मन में विचार करता है—'यह दुखिया चिन्तामणि कामधेनु है। इसे अतिशीघ्र धन देकर वैभव सम्पन्न करना चाहिए। जिससे मैं भी अपने गृह-स्थान को प्राप्त करूँ, जाकर सबसे मिलूँ। अवन्तिसेन नृपति ने जो सोचा वही कहा और वही किया। सारे किंकर उसके शरणागत हो गए। बन्धन में बँधे हुए के समान सारे किंकर पिंजरे से वैसे ही मुक्त हो गए जैसे धनुष से छूटे हुए बाण हों॥ ६.७.८.९.१० ॥

सागरचन्द्र मन में अपनी प्रिया मृगांकलेखा का स्मरण कर उसीके स्नेह से संतप्त होता हुआ कटक से चल पड़ा तथा त्वरान्वित हो पर्वतों को लाँघकर पार हो गया है। जब वह पर्वत के निकट पृथक् छावनी में ठहरा, तब नभमणि अस्त होकर पश्चिम दिशा की ओर चली गई अर्थात् सूर्यास्त हो गया। क्षण में सांध्य राग ऐसे फैलने लगा जैसे कृपण का स्नेह दान करने के लिए ठहर गया हो। तदनन्तर शीघ्र ही सर्व ओर अन्धकार समूह ऐसे विस्तीर्ण हो गया, मानों खल का अपयश धरती की ओर दौड़ रहा हो॥ ११.१२.१३.१४.१५ ॥

चन्द्रोदय हुआ। अर्द्धरात्रि बीत जाने पर सागरचन्द्र तन्द्रा रहित हो जाग्रत हो गया। इसी बीच कोई पुरुष पुकारता है, विलाप करता है, गिरता है। हाय! यह पिशाच मुझे मार रहा है। हा! क्या कोई समर्थ सुभट जाग रहा है जो वज्र शस्त्र सहित इस पंजर/योगी को शरणागत करे। यह योगी मुझ निरपराधी को भयानक कपाली विद्या साधकर मार रहा है। सागरचन्द्र उसके वचनों को सुन कर हाथ में तलवार ले द्रुतगति से दौड़ पड़े और पर्वत के ऊपर उन्होंने असुरक्षित बन्धन बद्ध, कण्ठगत प्राणों वाले एक सुभट को देखा॥ १६.१७.१८.१९.२०.२१ ॥

घत्ता— तस्समइ कवाली वुत्तु णर, तुह पच्चत्तु सुपत्तओ।
किर दाढ कयंततरि सुठिओ मणि धारहिं णिय कंतओ॥ २॥

दुवई— कद्दिढ किवणु हणइ कावालिउ, तं खणि कुमरु हक्कए।
रे रे! थाहि थाहि मह पाविय, इह को हणिविं सक्कए॥ १॥

२

पद्धरी— आइण्णि कवाली तसइ चित्ति, या देव कलाविणु णर ण वित्ति॥ १॥
को महु तुडि करि सक्कइ सयाणु, खणि तत्थ जि थक्कु ससंकमाणु॥ २॥
ता लवइ कुमरु रे रे णिहीण, णिंदइ पाविय किं हणहि दीण॥ ३॥
कुमई कुपत्त दय धम्म चत्त, अविवेई मूढ कसाइ रत्त॥ ४॥
णर हणणि महा अहु मुणहि णाहि, जइ सत्ति सरहि रण-अवणि माहि॥ ५॥
सुणि कुमर वयणु तजि तासु झत्ति, धावइ मरु मारु लवंतु सत्ति॥ ६॥
गहि खग्गु कवालिउ पुरउ आउ, वर कुमर करइ किर सिग्घ घाउ॥ ७॥
ता कुमरे छलुकरि गउडुराइ, किं गरुड झडप्पइ णाउ आइ॥ ८॥
किं पाहण फिट्टइ अयलमेरु, किं दहणु तसइ तिण बहुल घेरु॥ ९॥
काइर सूरहुं तुडि कांइ सत्थु, ता कुमरु गहइ असि फुरिय हत्थु॥ १०॥

जोई जंघा खणि करि पहारु, धर पाडइ कुमई गव्व धारु॥ ११॥
वहु वयण सु-जंपइ कंदमाण, भो वीर पुरिस को तुह समाणु॥ १२॥
असि अंगु विदारइ सुछलि तित्थु, को महु सम्मुह थिरु थाइ इत्थु॥ १३॥
कुमरे वुत्तउ णहि सव्व सहिय, जणि वहुल सुहड इक्किक्क अहिय॥ १४॥
किंह कारणि पइ इहु हणण घित्तु, सव्वह पाणिय णिय पाण वित्तु॥ १५॥
महु भासहि णिय वित्तंतु गुज्झु, जिण कारणि फुरइ कुबुद्धि तुज्झ॥ १६॥
ता लवइ कवालिउ सव्व वाय, खड मास अमरु मइ साहि ताय॥ १७॥
वलि कारणि आणिउ एहु गोह, बंधणि बंधिउ करि कवड दोहु॥ १८॥
जा मारिमि ता तइं आइ सिग्घु, हउं णिंहणि करिउ खणि विज्ज विग्घु॥ १९॥
उवयार सार तुहु सुहडु लोइ, तुह सरिसु ण सज्जणु सुहड कोइ॥ २०॥

घत्ता—उसी समय कापालिक ने उक्त सुभट से कहा—मैंने तुझे उपवासपूर्वक प्राप्त किया है। निश्चित ही तू इस समय मृत्यु की दाढ़ में पड़ा है, अत: मन में अपने स्वामी को धारण कर॥ २॥

दुवई—कापालिक कृपाण निकालकर ज्यों ही उस पुरुष को मारने लगा, त्यों ही कुमार सागरचन्द्र ने उसे ललकारा—रे! रे! ठहर!! ठहर!! मुझे पाकर कौन पुरुष इसे मारने में समर्थ हो सकता है?॥ १॥

२

पद्धरी—कुमार की वाणी को सुनकर कापालिक का चित्त भयभीत हो गया। वह सोचने लगा—यह कोई कला-प्रवीण देव है, क्योंकि मनुष्य की तो ऐसी चेष्टा हो नहीं सकती? कौन है वह दक्ष पुरुष; जो मुझे नष्ट कर सके? ऐसा आशंकित होता हुआ वह क्षण भर वहीं ठहर गया। कुमार सागरचन्द्र उसकी भर्त्सना करता हुआ कहता है—रे! रे! दीन निर्दय! पापी! तू क्यों इस दीन पुरुष को मारता है? तू खोटी बुद्धिवाला कुपात्र दया धर्म से रहित, अविवेकी, मूर्ख, और कषायानुरक्त है। क्या तू यह भी नहीं जानता कि 'मनुष्य वध के समान महान पाप नहीं होता?' यदि तुझमें शक्ति है तो रणभूमि का स्मरण कर॥ १.२.३.४.५॥

कुमार के ऐसे (वीर एवं शान्त रस प्रधान) वचन सुनकर कापालिक शीघ्र ही उस गृहीत पुरुष को छोड़कर 'मरूँगा या मारूँगा' ऐसे वचन बोलता हुआ पूरी शक्ति से कुमार की तरफ दौड़ पड़ा। कापालिक खड्ग लेकर कुमार के सामने आया और कुमार पर शीघ्र ही प्रहार करने लगा। वह कापालिक कुमार रूपी गरुड़राज को छलपूर्वक मारने की चेष्टा करने लगा। क्या नाग गरुड़राज पर पहले झपटता है? क्या पत्थर अचलमेरू को ध्वस्त कर सकता है? क्या तृणों का बड़ा सारा ढेर अग्नि को त्रस्त कर सकता है? क्या कायर शूरवीर को नष्ट करने में समर्थ हो सकता है? कदापि नहीं। उस शूरवीर कुमार ने चम चमाती हुई तलवार अपने हाथ में ली और निमिष मात्र में कापालिक की जंघा पर भरपूर प्रहार कर दिया और उस कुबुद्धि दम्भी कापालिक को व्योमस्थली पर पटक दिया॥ ६.७.८.९.१०.११॥

आक्रन्दन करता हुआ वह अनेक प्रकार के वचन बोलने लगा—हे वीर पुरुष तेरे समान कौन है, जो इस पवित्र स्थल पर रहनेवाले मुझ जैसे पुरुष के छलपूर्वक तलवार से मेरे अंग विदीर्ण कर सके। कुमार बोला—मेरे सारे साथी यहाँ नहीं हैं अन्यथा मेरा एक-एक सुभट ही अनेक लोगों के लिए भारी था। तुम इस पुरुष को यहाँ किस कारण से मारने के लिए लाए हो? अरे! सभी प्राणियों को अपने प्राण ही धन हैं, क्या तुम यह भी नहीं जानते हो॥ १२.१३.१४.१५॥

मुझसे वह सारा गुप्त वृत्तान्त कहो जिसके कारण तेरी ऐसी कुबुद्धि उपजी है। वह कापालिक सारे वृत्तान्त को कहता है—हे तात! देखिए यह देव (विद्या) मेरे द्वारा छह मास में सिद्ध किया गया है। मैं इसी देव के निमित्त बलि हेतु इस सुभट को यहाँ लाया हूँ। छलपूर्वक हम दोनों ने (कपाली विद्यादेव और मैं कापालिक) इसे बन्धन बद्ध कर रखा है। हम लोग अतिशीघ्र ही इसे मारने के लिए लाए थे। मैं इसका वध कर ही रहा था कि क्षण भर में विद्या में विघ्न हो गया। इस लोक में आप ही श्रेष्ठ उपकारी हो। आपके समान कोई दूसरा सज्जन पुरुष नहीं है॥ १६.१७.१८.१९.२०॥

मरणावसाणि महु करि उयारु धम्मक्खरु जो पावापहारु॥ २१ ॥
ता कुमरु लवइ णवयार मंतु, मणि झावहि पावहि पउ महंतु॥ २२ ॥
सव्वह जीवह खम भाउ सारु, अणसण विहि हिज्जइ दुहु अपारु॥ २३ ॥
आइण्णि गिरा गहि सद्ध सत्ति, णिम्मलु संवलु लहि मरिसु झत्ति॥ २४ ॥

घत्ता— विंतर कुलि जाइयउ णिम्मल काइउ, वसु विह रिद्धि समिद्धओ।
रसवाइ व कंचणु पारद संचणु, जिम कुधाउ गुण सिद्धओ॥ ३ ॥

दुवई— वंधण छोडि झत्ति णरु मुक्कउ, सो णमि चरण गच्छए।
खणि विस्साम थामि णिसि तिट्ठइ, पहव रु गमणु पच्छइ॥ २ ॥

दोहा— हय गय रह पाइक सहित, सोभित तणि सिंगार।
ससिलेहा सर तउ चलइ, सागर चंद कुमार॥ १ ॥

गाथा—पत्तो णियम्मि णयरे, अप्पिय अज्जिय धणाणि जणयस्स।
वच्चइ मइंकलेहा, धवल हरं विरह जज्जरिओ॥ १ ॥

वयणं णयणं रहियं, पिक्खइ मइंक मंडल विमुक्कं।
पिक्खइ मइंकलेहा, रहियं भवणं विगय सोहं॥ २ ॥

चिंतइ संकिय चित्तो, णिय जणण गिहम्मि किं गया एसा।
किंवा हयास विहिणो विलसियमवरं इमं किंचि॥ ३ ॥

गंतू जणणी पुच्छइ, महु माणस हरिस कंद कंदलणे।
सजल जलवाह रेहा, मइंकलेहा कह जणणी॥ ४ ॥

सोऊण इमं एसा, भीया मणसा विंध्सरिय धिढत्तं।
जंपइ पउमा गिण्हसु, तिस्सा णामंपि मा वच्छ॥ ५ ॥

मुझ मरणासन्न का उपकार कीजिए और जो पापापहारी उत्तम धर्माक्षर हैं उन्हें मुझसे कहिए। कुमार ने कहा—मैं णमोकार मन्त्र कहता हूँ, तुम इसे मन में ध्याओ और उत्तम पद प्राप्त करो। सर्वजीवों पर उत्तम क्षमा भाव धारण करो और जिससे अनन्त दु:ख नष्ट हो जाते हैं ऐसी अनशन विधि स्वीकारो अर्थात् चारों प्रकार के आहार का त्याग करो। कुमार के ऐसे धर्म प्रिय वचनों को सुनकर कापालिक श्रद्धा और शक्त्यानुसार इस निर्मल अवलम्बन को ग्रहण कर शीघ्र मर गया॥ २१.२२.२३.२४॥

घत्ता—कापालिक मरकर व्यन्तर कुल में उत्पन्न हुआ। वहाँ वह निर्मल वैक्रियक शरीर एवं अष्ट ऋद्धियों से समृद्ध हुआ जैसे रसवादी स्वर्ण रूप गुण की सिद्धि हेतु पारदादि कुधातुओं का इकट्ठा करते हैं।॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे रस विद्या का जानकार पारद का संचय कर आसक्ति मूलक स्वर्ण ही निर्मित करता है वैसे ही उस कापालिक ने सम्यक् धर्म श्रवण करके भी संसार वर्धक व्यन्तर योनि में ही उत्पन्न होकर तद्योग्य अणिमा-महिमा इत्यादि अष्ट ऋद्धि रूपी कुधातु को प्राप्त किया अर्थात् संसार विच्छेदक सम्यग्दर्शन सहित उत्तम देवत्व प्राप्त नहीं किया॥

दुवई—कुमार ने बन्धन खोलकर उस पुरुष को शीघ्र ही मुक्त कर दिया। वह पुरुष कुमार के चरणों में प्रणाम कर चला गया। कुमार सागरचन्द्र भी विश्राम हेतु रात्रि में वहीं ठहर गए, पश्चात् अपनी जन्मभूमि की ओर चल पड़े॥ २ ॥

दोहा—जिसका वदन शृंगार से शोभित हो रहा है ऐसा कुमार सागरचन्द्र अश्व, गज, रथ एवं पैदल सेना सहित मृगांकलेखा रूपी सरोवर के तट की ओर चल पड़ा॥ १ ॥

गाथा—अपने नगर में पहुँचकर कुमार ने अपने पिता को अर्जित सम्पत्ति सौंप दी। पुनश्च विरह से जर्जरित मृगांकलेखा के उज्ज्वल भवन की ओर चल पड़े॥ १ ॥

मृगांकलेखा के विछोह में जिसने अपनी शोभा छोड़ दी अर्थात् जो शोभा विहीन हो गया था ऐसे चन्द्रवदनी मृगांकलेखा से रहित भवन को कुमार ने देखा। वह भवन वचन और नयन से रहित था अर्थात् न जहाँ पर कोई शब्द सुनाई दे रहा था, न ही कोई नेत्रों का विषय बन रहा था॥ २ ॥

शंकित चित्त हो कुमार सोचने लगा—'क्या वह अपने पिता के घर तो नहीं चली गई ? अथवा भाग्य से हताश हो कहीं अन्यत्र तो सुशोभित नहीं हो रही है ?'॥ ३ ॥

जाकर माता से पूछता है—हे अम्ब! मेरे हृदय के हर्ष रूपी मूल का अंकुर एवं जल प्रवाह को प्रवाहित करनेवाली रेखा अर्थात् चन्द्रकान्त मणिरूप मृगांकलेखा कहाँ है ?॥ ४ ॥

पुत्र के इस प्रकार के वचनों को सुनकर विध्वंस कर्त्री, धृष्टा पद्मा माता भयभीत मन से कहती है—हे पुत्र! उसका नाम भी मत ले॥ ५ ॥

कय कुल कलंक पंका, तुमंपि सपच्छियम्मि सा पच्छ।
जाया सगब्भ गब्भा, मए वि णिव्वासिया तत्तो॥ ६॥

पवि णिहिय सीसि ताणं, तं वायं सो सुणित्तु महि वीढे।
पक्खीव छिण्ण पक्खो, णिवडइ धर मुच्छिओ कुमरो॥ ७॥

हाहायार भणंतो परियणु धवि धाइ रुवइ सवियप्पो।
उत्ताल ताल अणिलो, करि विसया विगय समुच्छ॥ ८॥

तत्तो सुकुमरु विलवइ, बारंबारं च तारसर तारं।
हे रमणि रम्मदेहा, मइंकलेहा गई कत्थ॥ ९॥

दोहा— ससिलेहा पिय कारणइ, वहुमणि भूषण सार।
देववस्त्र अति सोभता, आणइ सो जि कुमार॥ २॥

पुणु जणणी पुच्छइ तणजु, कहु तिट्ठइ कह सुण्ह।
मुहु मुहु सुणी अंगज वयण भणइ माइ तजि तुण्हि॥ ३॥

जणणी जणणि णिरादरी पेषी प्रकट सदोष।
णयरि णिसारि धाइ सम, मइ पाविणी सरोष॥ ४॥

तुझ परिणय कारणि बहुल, सुंदरि सगुण मयच्छि।
पुत्री तुझ माउल तणी, रूवरासि अइ दच्छि॥ ५॥

कुमरु लवइ जणणी झतइ, णिव्वासिय वर वाल।
महुमुद्दा किं न पिक्खिया, हा जणणी मति चाल॥ ६॥

हे वत्स! तुम्हारे जाने के पश्चात् उस स्त्री ने कुल को कलंकित कर दिया। वह गर्विणी गर्भवती हो गई इसलिए मेरे द्वारा निर्वासित कर दी गई॥ ६॥

माता के वचनों को सुनकर कुमार सागरचन्द्र के सिर पर वज्रपात हो गया। वह मूर्च्छित हो पंखहीन पक्षी की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ा॥ ७॥

हाहाकार करते हुए परिजन वृन्द कुमार की ओर दौड़ पड़े। नाना विकल्प करते हुए रुदन करने लगे और बड़े-बड़े पंखों से हवा करके कुमार को मूर्च्छा रहित करने लगे॥ ८॥

सचैतन्य होकर कुमार बार-बार उच्च एवं करुण स्वर में विलाप करने लगा—हे रमणि! हे मनोहर रमणीक देहवाली मृगांकलेखा! तू कहाँ चली गई॥ ९॥

दोहा—वह कुमार मृगांकलेखा प्रिया के लिए बेशकीमती मणि, उत्तमोत्तम आभूषण और अत्यन्त शोभायमान देव वस्त्र लाया था॥ २॥

पुनः माता को पूछने लगा—हे माँ! कह तेरी पुत्रवधु कहाँ तिष्ठती है? बार-बार तनुज के वचनों को सुनकर मौन त्याग कर माता कहने लगी॥ ३॥

मुझ पापिनी ने दोष प्रकट करके रोषपूर्वक उसे धाय सहित नगरी से निकाल दिया और उसके माता-पिता ने भी उसका निरादर कर दिया। अथवा एक माँ ने एक माँ को नष्ट कर दिया, मुझ पापिनी ने उसे सदोष देखकर दासी के साथ नगर से निकाल दिया॥ ४॥

हे पुत्र! तेरे परिणय हेतु तुम्हारे मामा की गुणवन्त मृगनयनी, रूपराशि, अत्यन्त दक्ष अनेक सुन्दर कन्याएँ हैं॥ ५॥

कुमार सागरचन्द्र कहता है—हे अम्बे! यह आपकी बुद्धि की चालाकी है, जो आपने उतावली में उत्तम बाला को निर्वासित कर दिया। हे माँ! तुमने मेरी मुद्रा को क्यों नहीं देखा?॥ ६॥

३

पद्धरी— चिंता सायरि णिवडिउ कुमारु, मणि धारइ णारी रयणु सारु॥ १॥
सासू णिव्वासिय कंति चत्त, णिय माइ पियरु पुत्ती विरत्त॥ २॥
सुकुमाल वाल हिय णेह गेह, गब्भब्भ-भार सालस सुदेह॥ ३॥
हा हा किं होही मज्झु पत्ति, सुण्णे रण्णे णिसि ठिदि धरत्ति॥ ४॥
णर सयल णिवारिय इट्ठ सत्थि, अप्पणु वणि गच्छइ झाणि अत्ति॥ ५॥
जह दारिय गय घड वहु मयारि, किडि घुर हरंत धर कंददारि॥ ६॥
अजयरि गज्जहि वणि भमहि सेरि, घण गहणि वहुल वण महिस घेरि॥ ७॥
गिरि चडिऊ पा कारणि तुरंत, विलवंतु संतु हा कत्थ कंत॥ ८॥
संमुच्छि पडइ धर अध णियाणि, सुरु करइ रक्खसु सिलोच ठाणि॥ ९॥

कर जोडि पइंपइ पयड रुउ, हउं सो जोई पइसार भूउ॥ १०॥
णवयार मंत मरणावसाणि, पइ दिण्णउ हउं सुरु हुव णियाणि॥ ११॥
विंतर कुलि जायउ तुव पसाइ, आसण कंपणि हउ इत्थु आइ॥ १२॥
समभावे भासमि सीसु णाइ सो सुणहु भव्वु दिढु चित्तु लाइ॥ १३॥
मा करहि अत्ति तव मिलइ पत्ति, सिद्धत्थ णयरि संजोउ झत्ति॥ १४॥
आइण्णि गिरा सुर अमिय सित्तु, सागरु जंपइ तुह परम मित्तु॥ १५॥
संतोसु जाउ सुरु गउ णिवासि, आसासि कुमर मिदु वयणु भासि॥ १६॥
जा गच्छइ सायरचंदु सिग्घ, सुरु कोऊहलि पहि करइ विग्घ॥ १७॥
कालउ भुवगु वहु जाइ खंडि, कडयड कांउ तरु सुक्क दंडि॥ १८॥
सम्मुहु मरु चल्लइ लवइ फेरु, अवसवण बहुल दुणिमित्त घेरु॥ १९॥
वामउ लोयणु भुय फुरण लग्गु, हा पुण्ण मणोरह मज्झु भग्गु॥ २०॥
णिव्वाण णयरु कह कह मयच्छि, हा हा दुणिमित्त विणासु लच्छि॥ २१॥
हरि करि किडि दाढ कराल दिट्ठि, साहसि घण गहणि सया पइट्ठ॥ २२॥

घत्ता— जा वण मइंकलेहा मिलए, ता वण पच्छा चल्लमि।
अह मज्झु मिलइ छणइंदमुही अह जम मुहि तणु घल्लमि॥ ४॥

३

पद्धरी—श्रेष्ठ नारी रत्न को मन में धारण करता हुआ कुमार चिन्तासागर में डूब गया। हाय! पति ने उसका परित्याग कर दिया। हाय! सासू ने उसे घर से निकाल दिया और माता-पिता भी अपनी पुत्री से विरक्त हो गए। हे सुकुमार बाले! तेरा हृदय तो स्नेह का घर है। हाय! हाय! गर्भस्थ शिशु के भार से आलस्य युक्त देहवाली मेरी प्रिया तू कैसी होगी? रात्रि में शून्य वनों की भूमि पर तू कैसे ठहरती होगी? कुमार अपने सारे इष्ट पुरुषों को दूर कर स्वयं दुःखी होकर वन में चला गया॥ १.२.३.४.५ ॥

जहाँ पर मृग-शत्रुओं/सिहों ने बहुत से गज यूथों के गण्डस्थल विदीर्ण किए थे। जहाँ भूगत कन्दराओं के द्वार पर सुअर घुर-घुरा रहे थे। जहाँ जंगल में अजगर फुँफकार रहे थे और जहाँ वन में लम्बी-लम्बी आकृतियाँ (पक्ष में शेरनी) घूम रही थीं। जहाँ का दुर्भेद्य, दुर्गम गहन अरण्य जंगली महिषा/भैसों से व्याप्त था। वन के इन विचित्र कारणों को देखकर, 'हा कान्ते! तुम कहाँ हो' ऐसा विलाप करता हुआ कुमार पर्वत पर चढ़ गया। मूर्च्छित होकर वह पर्वत से नीचे गिर पड़ा। वहीं पर्वत पर खड़े देव ने उसकी रक्षा कर कुमार को ऊँची चट्टान पर रख दिया॥ ६.७.८.९ ॥

वह प्रत्यक्ष प्रकट हो हाथ जोड़कर कहने लगा—मैं वही योगी प्रतिसार नामक राजा हूँ (कापालिक)। जिसे आपने मरण के समय पर णमोकार मन्त्र दिया था। आपके द्वारा दिए गए मन्त्र के प्रसाद से मैं व्यन्तर जाति में देव हुआ हूँ। आसन कम्पित होने से मैं यहाँ आया हूँ। साम्यभाव से शीश झुकाकर देव कहने लगा—हे भव्य! मैं जो कुछ कहता हूँ उसे दृढ़ चित्त होकर सुनिए। आप दुःखी मत होइए, आपकी प्रिया अवश्य मिलेगी। शीघ्र ही सिद्धार्थ नगर में उनका संयोग होगा। व्यन्तर देव की ऐसी अमृत सिक्त देववाणी को सुनकर कुमार सागरचन्द्र कहता है—'तुम मेरे परम मित्र हो'॥ १०.११.१२.१३.१४.१५ ॥

देव ने कुमार को मृदु वचनों से आश्वासित किया। कुमार को सन्तोष हो जाने पर वह देव अपने स्थान पर चला गया। जब कुमार सागरचन्द्र शीघ्रता से चलने लगे, तब किसी कौतुहली देव ने मार्ग में विघ्न उपस्थित कर दिया। पर्वत पर काल-सम अँधेरा छा गया। कड़कड़ करते हुए वृक्षों की सूखी डालियाँ खण्ड-खण्ड हो गिरने लगी। सागरचन्द्र के सामने ही चक्रवात वायु चलने लगी और बहुत सारे अपशकुनों/खोटे निमित्तों ने उसे घेर लिया। उसकी वाम सुलोचना (बाईं आँख) और वाम भुजा फड़कने लगी। कुमार उसी वक्त मन में विचार करता है। हा! मेरा पवित्र मनोरथ भग्न हो गया॥ १६.१७.१८.१९.२० ॥

सिद्धार्थपुर में मेरी मृगनयनी की क्या कथा होगी? हाय! हाय! इन खोटे निमित्तों ने मेरी लक्ष्मी का विनाश कर दिया। तत्क्षण उसे सिंह, हाथी तथा जिनकी दाढ़ें अत्यन्त विकराल हैं, ऐसे शूकर दिखलाई देने लगे किन्तु साहस पूर्वक वह सघन वन में प्रविष्ट हो गया॥ २१.२२ ॥

घत्ता—जिस वन में मृगांकलेखा मिलेगी मैं पुनः उसी वन में पीछे चलता हूँ या तो 'पूर्ण चन्द्रवदनी मृगांकलेखा' मुझे मिलेगी या मैं अपने इस शरीर को यम के मुख में डाल दूँगा॥ ४॥

गाथा—एगागिणो वि वच्चइ, हिय सुहिय पिय खग्ग जण सत्थं।
वसु दिसि पहिंढमाणो, अहोह दुरंतो सया णेहो॥ १०॥

पइ महियं पुच्छंतो, पइ कंदर मंदिरं च पिच्छंतो।
पइ तरु तल रूयंतो, पइ पुर मंतोवि संतोव॥ ११॥
पइ पुलिणं पुलयंतो, पय पय मणि सरइ रमणि तरुणीणं।
सयवत्तवत्तवाला, हा कह पस्सम्मि ससीरेहा॥ १२॥

दिट्ठूण हरिण पमुहे, जंपइ हे हरिणि हारिणो दच्छि।
मह दइया दिट्ठीए, हरिऊण करेसि वणवासं॥ १३॥

तिस्सा मुह कमल सिरी, हरिऊ रे कमल वससि जल दुग्गे।
रे वरहि ण चिहुरत्तरं! हरिय पवन्नेसि सत्तिधरं॥ १४॥

कर पल्लव णं सोहा, रे हरिय असोय धुवमसोउ सिहे।
हे हंसी गइ तस्सा, हरिऊण माणससरे जासि॥ १५॥

रे रे मइंक चोरिय, मइंकलेहाइ विरह गहियाइ।
णिम्मल कवोल लच्छी, चोरेसि दुग्गम्मि णहमग्गे॥ १६॥

हे! विंव अहर लच्छी! अवहरिय सरेसि वाडि परिवाडी।
तो अप्पह मह दइयं, अणह कु विओ जमुव्वह हं॥ १७॥

काम-पिसल्ल गहिल्लं, हेडंवो रक्खसो इम णाऊ।
कोऊहलेण जंपइ, सायर पइ होइ पच्चक्खं॥ १८॥

हरिणि हरिणंक पमुहे, किं पुच्छसि. मूढ पुच्छ मइ इक्कं।
सा तुह दुइया गिलिया, एत्थ मए तुज्झ हरिणच्छी॥ १९॥

सोऊण इमं एसो, दुदंत कयंत दंत जंत समं।
आइट्ठिय कर कालं, त सम्मुह धावए सहसा॥ २०॥

गाथा—कुमार हृदय को आनन्द देनेवाले प्रिय खड्गरूपी पुरुष के साथ आठों दिशाओं में घूमता हुआ अकेला ही चल पड़ा। अहो! स्नेह बड़ा दुरन्त है॥ १०॥

प्रत्येक वृक्ष से पूछता हुआ, प्रत्येक कन्दराओं और देव-मन्दिरों में देखता हुआ, प्रत्येक वृक्ष के नीचे रोता हुआ, प्रत्येक नगर में गुप्त परामर्श करता हुआ, प्रत्येक नदी तटों के मध्य देखता हुआ, पद-पद पर तरुणियों की मुकुटमणि तरुण प्रिया का स्मरण करता हुआ कहता है—हे सहस्र दल कमल के समान मुख वाली बाले! शशिलेखा मैं तुझे कहाँ देखूँ॥ ११.१२॥

प्रमुख हरिणी को सामने देखकर कहता है—हे मृगी! तू चोरी करने में बड़ी दक्षा मालूम पड़ती है। तू मेरी प्रिया के नेत्रों को चुराकर वन में निवास कर रही है॥ १३॥

रे कमल! तू 'उसके मुख कमल की शोभाश्री' को अपहत कर जल-दुर्ग में बस रहा है। यह तो अच्छा ही है कि तुम्हारे केश नहीं है, नहीं तो उसके केशों की शोभा को हरण कर तुम शक्तिधारी (कार्त्तिकेय) हो जाते॥ १४॥

मेरी प्रिया का कर पल्लव निश्चित ही शोभा को प्राप्त नहीं हो रहा होगा; क्योंकि लगता है, रे अशोक! तेरी शिखा के आरक्त पल्लवों ने उसकी शोभा को चुरा लिया है। और रे हंसी! तुम मृगांकलेखा की सुन्दर गति को चुराकर मानस सरोवर में चली जाती हो॥ १४.१५॥

अरे रे! चोर चन्द्र! क्यों तू मृगांकलेखा रूपी चकवी का वियोग कराता है। क्यों तू दुर्गम नभ मार्ग से उसके निर्मल कपोलों की शोभाश्री को चुरा रहा है॥ १६॥

हे बिम्बौष्ठी लक्ष्मी! तूने सरोवरों से कमलों की पंक्तियाँ चुरा ली अर्थात् तू कमल पत्र के समान गुलाबी अधरोंवाली हो गई। अब तो पृथ्वी पर जो मेरी पत्नीरूपी दूसरी लक्ष्मी उत्पन्न हुई है उसे अक्षत खड़ी रहने दे अर्थात् उसे छोड़ दे॥ १७॥

इसी बीच कामरूपी पिशाच से उन्मत्त हेडम्ब नामक राक्षस सागरचन्द्र के समक्ष प्रत्यक्ष प्रकट होकर कौतुहलपूर्वक कहने लगा। हे मूढ़! मृगी और मृगांक (चन्द्रमा) वगैरह से क्या पूछता है? मुझ अकेले से पूछ, 'तेरी वह मृगनयनी प्रिया' मेरे द्वारा यहीं पर निगल ली गई॥ १८.१९॥

राक्षस के ऐसे वचन सुनकर दुर्दान्त कृतान्त के दन्त रूपी यन्त्र के समान मृत्युरूपी काल को सहसा आया हुआ देखकर सागरचन्द्र उसकी ओर दौड़ पड़ा॥ २०॥

रयणीयरो वि उग्गऊ, कट्टइ खग्गं अभगोच्छाहं।
दो वि हु कुणंति समरं, वारा अमरीण मणहरणं॥ २१॥

खग्गेसु भग्गमाणे, तेणं उम्मूलिऊण तरुमेगो।
णिहउ सिरम्मि सहसा, दुगुणो सो रक्खसो जाओ॥ २२॥

तं पुणु णिहयं पुणरवि, दुगुणं पिच्छंतु सायरं तत्तो।
सो कुमरो णिय चित्ते, सुमरइ परमिट्ठिवर मंतं॥ २३॥

पालेयं पि व विलयं, रविकर तावेण तेण मंतेण।
पत्तो अहं सणत्तं, णिसायरो णिहय उछाहो॥ २४॥

घत्ता— पुरउ सरंता णियंत पिया, अइ आउलु पहि धावए।
आइंदइ णिंदइ अप्प भवो, विरहाउर तणु तावए॥ ५॥

दुवई— पुरउ सरंति पिक्खि सरि सरवर, तरवर महिणि हिंडुए।
वह काले णियंत णिय वणिय, साहसु सत्ति छंडुए॥ ३॥

४

पद्धरी— आसाहिय मणि विरहाउरो वि, तिणकट्ठ बहुल संगहइ सो वि॥ १॥
चियरइ हुयासु पज्जालि जाम, चडिअउ सिहरी सिहरेसु ताम॥ २॥
जंपइ किर तारसरेण सोइ, णि सुणहु जल थल णह देव लोइ॥ ३॥
भो लोयवाल वण देवसव्व, णिद्दोस दइय आजम्म भव्व॥ ४॥
दुह साइरि मइंयल्लिय अपाव, वर णारि सुसीला सुद्धभाव॥ ५॥
घण गहणि सई सा हिंढमाण, जीविय मरणहु सुहि णत्थि ताण॥ ६॥
ण वियाणमि तासु तणी अवत्थ, तिहं कारणि णिरु गिरि चडिवि तत्थ॥ ७॥
हउं झंप देमि सिहि धगधगंतु, भणि णिवडमाणु सुरि तहि तुरंतु॥ ८॥
गहि उत्ति लवइ भो सुट्ठु गोह, उवघाइ मरणु जणि णर असोह॥ ९॥
हउं सोइ अमरु मइ आसि वुत्तु, सिद्धत्थ णयरि मिलिहइ कलत्तु॥ १०॥

पुणु तणरुहु तत्थ मिलइ णियाणि, सा चित्तलेह तुव इत्थु थाणि ॥ १२ ॥
सव्वह समीउ संघडइ वच्छ, मा कायरु होहि सयाण सुच्छ ॥ १३ ॥
भणि जाउ अमरु णिय थामि झत्ति, आइण्णि कुमरु थिरु थाइ सत्ति ॥ १४ ॥
मरणाहिलास मिल्लइ मणम्मि, जा गच्छइ अग्गइ वण घणम्मि ॥ १५ ॥
सकयत्थु हुवउ महु मणुव जम्मु, जा जीवमाण पिय उयउ कम्म ॥ १६ ॥
पुणु थोवंतरि धर जाइ जाम, आइंद्दमाणि तिय सुणइ ताम ॥ १७ ॥

घत्ता— हा सायरचंद सयाण गुणी, हा ससिलेह सही लहो।
कह पिक्खकमि लक्खमि घण गहणे, विहि हयास दिहि मरणु महो ॥ ६ ॥

गाथा—हा दिव्व साम मह सहि, चत्ता दइयेण जणणि जणएहि।
णिव्वासिया समज्झा, मए विमुक्का कह होही ॥ २५ ॥

५

पद्धरी— हा दुहलेहा तुहु चंदलेह, णिय मज्झु ण दुहु दुहु तुज्झ देह ॥ १ ॥
सुकुमाल वाल हा गब्भ भारि, एक्का मइ मुक्का गहण दारि ॥ २ ॥
हा मइ पर कियउ णियाणु सत्थि, घोराणु घोरु दुक्किउ भवत्थि ॥ ३ ॥
विहियउ जुम्मे जं जम्मि पाउ, अहुणा तं इह भवि उदइ आउ ॥ ४ ॥
मरणावसाणि दुहु पवरु लोइ, तिह अहिउ पवट्टर मज्झु सोइ ॥ ५ ॥
हा विहि ण मरणु किर मज्झु पत्तु, आ जम्मि ण मिल्लइ कम्म सत्तु ॥ ६ ॥
गिर मुणइ कुमरु पह चित्तरेह, तसु णियडि आइ पुच्छइ सुतेह ॥ ७ ॥
ससिलेह सई भो भणहि भद्दि, सा कत्थ पिया महु वीण सद्दि ॥ ८ ॥
तं भणइ सही लहि उवहिचंद, आणंदु पवट्टइ मणि अतंद्द ॥ ९ ॥
णं पावस वरही मोउ जाउ, णं पवसिय पिय गिहि णाहु आउ ॥ १० ॥
णं रसवाई रस विज्ज सिद्ध, णं हरि-बल णेहु सया सणिद्ध ॥ ११ ॥

आप परीक्षा करने के लिए यहाँ आए हो। मैं असत्य वचन नहीं बोलता। अरे वह राक्षस तो पापी है। निश्चित ही वहीं सिद्धार्थपुर में आपका पुत्र मिलेगा और वही पर चित्रलेखा भी मिलेगी। हे वत्स! सभी का मिलाप शीघ्र ही होगा। कायर मत होइए, हे सुविज्ञ! स्वस्थ होइए। इतना कहकर वह देव अपनी निवास भूमि पर चला गया एवं देव वचनों को श्रवण कर कुमार सागरचन्द्र की टूटी हुई शक्ति स्थिर हो गई अर्थात् वह शक्तिशाली हो गया। मन से मरने की इच्छा को निकाल दिया और आगे निविड़ वन-प्रान्तर में चला जाता है॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

मेरा मनुष्य जन्म कृतार्थ हो गया। जो कर्म मुझ जीते हुए के लिए जो प्रिय था वह शुभ कर्म उदित हुआ अर्थात् मेरा मनोरथ सफल हुआ। पुनः थोड़ी-सी दूर पर्वत पर जब वह गया तो वहाँ उसने विलाप करती हुई एक स्त्री को सुना॥ १६.१७॥

घत्ता—हाय! गुणवन्त सुज्ञानी सागरचन्द्र! हा सखी शशिलेखा!! मैं आप लोगों को इस निर्जन निविडारण्य में कहाँ प्राप्त करूँ? कहाँ देखूँ? कहाँ लखूँ? अहो भाग्य की मारी मुझे मृत्यु ही श्रेष्ठ है॥ ६॥

गाथा—हा! दिव्य नारी! हाय मेरी सखी! तू पति द्वारा त्यक्त है तथा मेरे साथ माता-पिता के द्वारा निर्वासित है और अब मेरे द्वारा भी छोड़ दी गई हो। हा सखी! तू कहाँ होगी?॥ २५॥

५

पद्धरी—हा! चन्द्रलेखा तू तो दुःख की रेखा हो गई। मुझे मेरा दुःख नहीं है, मुझे तेरे शरीर सम्बन्धी दुःख है। हा! सुकुमार बाले! तू गर्भ के भार से युक्त है और इस सघन गहन वन में मेरे द्वारा एकाकी छोड़ दी गई है। हाय! हाय!! तूने और मैंने ऐसा क्या निदान किया, जो इस भव में घोरानुघोर दुःख दे रहा है। जो पूर्व जन्म में एक साथ कर्मोपार्जित किए हैं वे ही इस समय उदय में आ रहे हैं। लोग कहते हैं कि मरण के समय अतितीव्र दुःख होता है किन्तु मुझमें उससे भी अधिक दुःख इस समय प्रवर्तित हो रहा है॥ १.२.३.४.५॥

हा देव! मेरी मौत भी तो नहीं आ रही है। सच है कर्म-शत्रु आजन्म नहीं छोड़ते। कुमार सागरचन्द्र चित्रलेखा के वचनों से सब कुछ समझ गया और उसी पथ की ओर चल पड़ा। चित्रलेखा के निकट आकर अत्यन्त दीन/करुण शब्दों में पूछने लगा—हे भद्रे! कहो मेरी प्रिया कहाँ है? सागरचन्द्र को पाकर चित्रलेखा का आनन्द प्रवर्धमान हो गया, वह तन्द्रा रहित हो गई। उसे इतना हर्ष हुआ जैसे पावस को पाकर मयूर हर्षित होता है। अथवा मानों प्रवासी प्रिय पति घर लौट आया हो अथवा रसवादी को रस विद्या सिद्ध हो गई हो अथवा नारायण और बलभद्र स्नेह से सदा से सन्नद्ध हो गए हो॥ ६.७.८.९.१०.११॥

आणंदि पयासइ पुव्व वित्ति, सा चित्तरेह घण गहण खित्ति ॥ १२ ॥
जइया णिव्वासिय सासु माइ, तव पुर उपगच्छइ महु सहाइ ॥ १३ ॥
सत्थाहिउ णामे चित्तगुत्तु, उज्जाणि मिलइ ता करुण वुत्तु ॥ १४ ॥
पुत्ती पडि गच्छहि इत्थु सत्थि, अम्मह गमु धरपति कडय अत्थि ॥ १५ ॥
सत्थाहु पभट्टी हउं जि ताउ, एगागिणि पिक्खि गहइ किराउ ॥ १६ ॥
पल्लीपदि ढोवइ सो वराउ, चिरु कालि सुभुंजमि जाम पाउ ॥ १७ ॥
पुणु सो पल्ली वल्लीव जत्थ, उम्मूलि किरायहुं वासु तत्थ ॥ १८ ॥
सिरि विजइ णराहिउ करइ वंदि, ता हउं णट्ठी खणि दुहुणि कंदि ॥ १९ ॥
दिणु रइणि गमंतत संत अत्ति, इत्थाइ अणुक्कमि अप्प सत्ति ॥ २० ॥

घत्ता— आइण्णि गिरा तिय ताम सया, णिय वइयरु पुव्वुत्तओ।
खणि हरिस विसाय गमंत मणो, कुमरु तहां तिह जुत्तओ ॥ ७ ॥

गाथा—पुणु सो सायरचंदो, वच्चइ वुच्चंतु जाम सह तीए।
पत्तो ऊसिय चित्तो, सिद्धत्थ पुरस्स आसण्णे ॥२६ ॥

६

पद्धरी— तह कूव वावि सरवर सरोह, उववण घण मंडिय पवर सोह ॥ १ ॥
पड कुडिय अणेय सुरंग रंगि, किण्हारुण सिय सम धय सुचंगि ॥ २ ॥
तह महिस वसह वहु करह गज्ज, गोणी गण उच्च पयार सज्ज ॥ ३ ॥
किंकर णर णियर करांति सेव, सत्थाहिउ पिक्खइ तत्थ एव ॥ ४ ॥
तह रुइ वसंत सम अहिय दित्ति, णावइ सउरिस वर वण्ण कित्ति ॥ ५ ॥
अणुवम सोहा जा णियइ चंदु, वालउ णाइगु पिक्खइ अणिंदु ॥ ६ ॥
तद्दंसणि पवरा मोउ जाउ, तण्णाइगु सो घण गहणि आउ ॥ ७ ॥
रिसहेसर चेयालउ उतंगु, धय किंकणि लंकिउ विविह रंगु ॥ ८ ॥
मणि चिंतिय चिंता मणि समाणु, तह णिच्चच्चणु चउ संघ दाणु ॥ ९ ॥
भवियण गण जह जिण णवहि णिच्च, गुरु भत्ति परायण णांइ भिच्च ॥ १० ॥

वह आनन्दित हो पूर्व का सारा वृत्तान्त प्रकाशित करती है। कहती है—सासू और माता ने जब निष्कासित किया तब सघन जंगल में आपके नगर की ओर जाता हुआ एक चित्रगुप्त नामक सार्थवाह हम लोगों का सहाई हुआ। उस सार्थवाह ने करुणापूर्वक कहा—हे पुत्री! हम लोग उज्जयिनी नगरी के राजा के कटक की ओर जा रहे हैं आप लोग भी हमारे साथ चलिए॥ १२.१३.१४.१५॥

हे तात! हम दोनों सार्थवाह के साथ आ रहे थे, मैं पथ-भ्रष्ट हो गई अर्थात् मार्ग भूल गई सो मुझे अकेला देख किरात ने पकड़ लिया। वह बेचारा मुझे अपने स्वामी पल्लीपति के पास ले गया और मैं वहाँ चिरकाल तक पाप का फल भोगती रही। जहाँ मूल से उखाड़ी गई लताओं के समान किरातों की पल्ली अर्थात् चोरों का गहन स्थान था वहीं मैंने निवास किया। एक दिन श्रीविजय नामक नृपति ने उन चोरों को बन्दी बना दिया और तभी उन्होंने मेरी दुःख की बेलि क्षण भर में नष्ट कर दी। मैं कष्टपूर्वक अनुक्रम से रात-दिन अपनी सामर्थ्यानुसार गमन करती हुई यहाँ आई हूँ॥ १६.१७.१८.१९.२०॥

घत्ता—उस चित्रलेखा नारी के वचनों को श्रवणकर सागरचन्द्र ने भी अपना पूर्व वृत्तान्त (मृगांकलेखा से सहवास से लेकर यद्ध से विजयश्री वरण, माता-पिता से मिलन, सती का न मिलना आदि को लेकर चितागि्न में कूदते हुए देव द्वारा बचाए जाने तक) प्रकट किया। चित्रलेखा से मिलने पर सागरचन्द्र के सारे हर्ष-विषाद क्षण में नष्ट हो गए॥ ७॥

गाथा—पुनरपि वह सागरचन्द्र चित्रलेखा के साथ मार्ग में उल्लसित चित्त से वार्त्तालाप करता हुआ सिद्धार्थपुर के निकट पहुँच गया॥ २६॥

६

पद्धरी—वहाँ के कूप, वापी, सरोवर, कमल तालाब, सघन उपवन उत्तम शोभा को धारण करते थे। वहीं पर सुन्दर विविध वर्णों वाली पटकुटी थी। जिस पर कृष्ण, रक्त एवं श्वेत वर्ण की समान ध्वजाएँ लहरा रही थीं। वहाँ पर अनेक महिष/भैसा, वृषभ एवं ऊँट गर्जना कर रहे थे तथा जहाँ गायों के लिए ऊँचे प्राकार सजे हुए थे। उस पटकुटी में किंकर पुरुषों का समूह जिसकी सेवा कर रहा था ऐसे एक सार्थवाहाधिपति को सागरचन्द्र ने देखा। उसकी शोभा बसन्त ऋतु के समान थी तथा देह दीप्ति बसन्त शोभा से भी अधिक थी। सज्जन पुरुष उत्तम शब्दों द्वारा उसका यशोगान करते हुए नमस्कार कर रहे थे॥ १.२.३.४.५॥

सागरचन्द्र उस अनिन्द्य बाल नायक को देखता है तथा उसकी अनुपम शोभा को अनिमेप निहारता है। उसके दर्शन मात्र से सागरचन्द्र को अत्यन्त आनन्द हुआ। इतने में वह बाल नायक सघन जंगल 'जहाँ नाना रंगों वाली ध्वजाओं एवं क्षुद्र घंटिकाओं से अलंकृत ऋषभ जिनेश्वर का उत्तुंग जिनालय था' में चला गया। मन चिन्तित चिन्तामणि रत्न के समान उस चैत्यालय में कुमार सुरेन्द्रदत्त नित्यार्चन कर चतुर्विध संघ को दान देता है। जहाँ के भविक गण जिनेश को नित्य प्रति नमन करते हैं तथा भृत्य की भाँति गुरुभक्ति में तत्पर है॥ ६.७.८.९.१०॥

तह चउविह संघु मिलंत संत, परसप्पर विणय विहाणि वंत ॥ ११ ॥
तदणंतरि णंदीसरह पव्वु, अठाही ऊसउ करइ भव्वु ॥ १२ ॥
सुसुरिंददत्तु णाइग कुमारु, मणि चिंतइ तक्खणि धम्म सारु ॥ १३ ॥

घत्ता— कुलसील-सोह गुणरुव सया, बहु धण दाण पहावणा।
विज्जा-विलास जसकित्ति सिरी, मणुव जम्मु फलदावणा ॥ ८ ॥

गाथा— तण धण वित्तं खित्तं, हरि करि णिय देस कोस सव्वत्थं।
जीवियाहिलास तिणमिव, गरुयाणं धम्मकम्मम्मि ॥ २७ ॥

तेण विहिज्जमाणं, महामहं मुणिय सव्वपुर लोओ।
आणंदे णारि णरं, सकोऊहले तत्थ संपत्ता ॥ २८ ॥

गिज्जइ खिज्जइ पावं, दिज्जय दाणं महिज्जए देवो।
पुरउ णडिज्जइ भावे, वज्जउ वाएहि तारख मोए ॥ २९ ॥

सा विहु मइंकलेहा, जिणवंदण-भत्ति झत्ति संपत्ता।
पिच्छइ सुरिंददत्तं, ताणं वियसंत वत्तु सयवत्तो ॥ ३० ॥

किं एस अंतरप्पा, पुत्तो वा मज्झ जाइय अहवा।
एवं चिंततीए, खीर-मुरोएसु संजायं ॥ ३१ ॥

जइ मे मणं पमाणं, महु अंगरु होइ जं धुव तत्तो।
तस्स मणो मे सरिया, होही तं भाउ सारिच्छं ॥ ३२ ॥

अणिमिस णयणे तत्तो, पस्सइ कुमरो सुचिंतए चित्ते।
मह जणणी हि किमेसा, होही संघडइ संजोऊ ॥ ३३ ॥

एत्थंतरम्मि पत्ता, देवी चक्केसरी सया वुत्तो।
भद्दे मइंकलेहे, तुहु पुत्तो एस जो धरा मुक्को ॥ ३४ ॥

परस्पर विनय करते हुए वहाँ के विनयशील प्राणी चतुर्विध संघ से मिलते हैं अर्थात् दर्शन-वन्दन करते हैं। तदनन्तर नायक कुमार सुरेन्द्रदत्त मन में सारभूत धर्म का चिन्तन करता है एवं नन्दीश्वर महापर्व में अष्टाह्निक का भव्योत्सव करता है॥ ११.१२.१३॥

घत्ता—वह कुमार विद्या, विलास, सुयशः कीर्ति एवं मनुष्य जन्म रूप फल को प्रदान करनेवाली तथा अपने कुल धर्म-शोभा एवं गुणानुरूप प्रचुर द्रव्य दान द्वारा महती धर्म प्रभावना करता है॥ ८॥

गाथा—तन, धन, वैभव, भूमि, सिंह, गज, देश, कोष तथा जीवनाभिलाषा ये सर्व पदार्थ तृण के समान तुच्छ हैं; केवल एक धर्म कर्म ही भारी अर्थात् महिमावन्त है॥ २७॥

ऐसा सोचकर कुमार सुरेन्द्रदत्त ने महामह पूजा को रचा, जिसे जानकर नगर के सकल नर-नारी आनन्दित हुए एवं कौतुक वश देखने के लिए ऋषभ देवालय को प्राप्त हुए॥ २८॥

जिन चैत्यालय में नगरवासियों द्वारा भव्य गीत गाए जाते हैं, भावपूर्वक नृत्य किया जाता है। उच्च स्वर में सामोद वाद्य बजाए जाते हैं। दान दिया जाता है। जिनेन्द्र ऋषभदेव की महार्चना की जाती है इस प्रकार सभी अपने पापों को क्षीण करते हैं॥ २९॥

वह मृगांकलेखा भी जिन-वन्दन एवं जिनवर भक्ति निमित्त द्रुतगति से ऋषभ जिन मन्दिर पहुँची। वहाँ वह सुरेन्द्रदत्त को देखती है। उसका विहँसता हुआ मुख ऐसा लग रहा था मानों शतदल कमल ही हो॥ ३०॥

क्या यह मेरा आत्मीय है? अथवा मेरा पुत्र है? अथवा मेरी जाति का है? ऐसा विचार ही कर रही थी कि उसके उरोजों में दूध उत्पन्न हो गया॥ ३१॥

यदि यह मेरे मन प्रमाण है अर्थात् मेरा पुत्र है तो निश्चित ही इस बालक का मन भी मेरे समान होगा। इसके परिणाम मेरे जैसे ही होंगे अर्थात् जैसे मेरे मन में यह भाव पैदा हो रहा है कि 'यह मेरा पुत्र है' वैसा ही इसके मन में भी 'यह मेरी माता होगी' ऐसा भाव उत्पन्न हो रहा होगा॥ ३२॥

'क्या यह मेरी माता होगी?' ऐसा अपने चित्त में चिन्ता करता हुआ कुमार उसे अनिमेष नेत्रों से निहारने लगा। इसी बीच संयोग से एक घटना घटी॥ ३३॥

चक्रेश्वरी देवी प्रकट होकर कहती है—हे भद्रे! मृगांकलेखे! यह तुम्हारा वही पुत्र है जो तेरे द्वारा भूमि पर छोड़ा गया था और सुरेन्द्रदत्त से कहने लगी॥ ३४॥

जंपइ सुरिंददत्तं, चिट्ठसि किं वच्छ संसए वडिओ।
रिसहेसरप्पसाया, पत्ता एसा तुहं जणणी॥ ३५॥

पत्तो सुरिंददत्तो, गंतु सह सत्ति णमइ कम कमलं।
हरिस भर गलिर जलभर, पइ सिंचिय जणणि दिगपूरं॥ ३६॥

काऊण इमो सहसा, मइंकलेहाइ अंक पालीए।
पुट्ठो सव्वं वइयरु, सामूलं साहिए णियंय॥ ३७॥

तं आइण्णि पइंपइ, णारी कलइंठि कंठ सारिच्छा।
आवत्थ जीय पुत्तो, पवट्ठिओ णिच्च मण्णत्थ॥ ३८॥

हे धणवए वर जुवई, रेहा तुह सुजस णिच्च भुवणयले।
बालत्तणंम्मि पुत्तो, वद्धारिओ वढ्ढिओ एसो॥ ३९॥

घत्ता— परमूसउ वद्धा-वणओ, पुत्त जम्मि जं किज्जए।
ताइ अहिय अइ अहियतरं, जिणहरि मंगलु गिज्जए॥ ९॥

दुवई— वुत्तउ पुत्त आसि चक्केसरि, सुत पिदु तुज्झ मेलणउ।
होही दाणसाल णिरु मासिहि, तावहि तहि णिहेलणउ॥ ४॥

७

पद्धरी— तुहं तिट्ठहि पुत्त सुथाणि तत्थ, हउं जामि सया णिय वासु जत्थ॥ १॥
जाणावइ तुव पिदु ताम मज्झु, अहुणा किर कज्जु पुरी असज्झु॥ २॥
इय जा जंपंति मइंकलेह, णिब्भर रोम चिरं पुलइ देह॥ ३॥
तुट्टिय कंचुइ संदोह संधि, सहसा भुइ वाम फुरइ सुखंधि॥ ४॥
दाहणि दिगइयर सुफुरणु होइ, तिय पिय मेलणु णं लवइ सोइ॥ ५॥

हे वत्स! संशय में डूबे क्यों बैठे हो? तुझे यह तेरी माता ऋषभ जिनेश्वर के प्रसाद से ही प्राप्त हुई है॥ ३५॥

सुरेन्द्रदत्त अपनी माता को पाकर माँ के निकट जाकर उनके चरण कमलों में शक्तिपूर्वक प्रणाम करता है। हर्ष से भर गया है कण्ठ जिसका, सजल नेत्र झर रहे हैं जिसके, ऐसा पुत्र अपनी माता के चरण कमलों को नेत्र प्रवाह से सींचने लगा॥ ३६॥

पुत्र के ऐसा करने पर मृगांकलेखा ने सहसा उसे अपने अंक में भर लिया और वृत्तान्त पूछने लगी, पुत्र ने अपनी सारी कथा कह सुनाई॥ ३७॥

जिसे सुनकर कोयल के समान मधुर है कण्ठ जिसका ऐसी नारी/मृगांकलेखा कहती है—हे पुत्र! उम्र भर जीओ। तुम्हारे मनोरथ नित्य ही प्रवर्धमान हों॥ ३८॥

पुनः कहती है—हे श्रेष्ठ युवती धनवती तेरे सुयश की रेखा पृथ्वी तल पर सदा ही बढ़ती रहे जो आपने मेरे इस पुत्र को बालपन से लेकर अब तक इतना बड़ा किया॥ ३९॥

घत्ता—मृगांकलेखा ने पुत्र जन्म पर की जानेवाली बँधाइयों को अत्यन्त उत्सवपूर्वक किया एवं पुत्रोत्सव से भी कई गुनें अधिक जिनेन्द्र गृह में मंगल गीत गाए॥ ९॥

दुवई—प्रभु को आशीष कर चक्रेश्वरी बोली—हे सुत! तेरे पिता का मिलाप इसी माह में दानशाला में होगा, सो तू वहीं उनकी प्रतीक्षा कर॥ ४॥

७

पद्धरी—हे पुत्र! तुम उसी स्थान अर्थात् दान शाला में ठहरो। मैं सदा की भाँति जहाँ मेरा आवास है वहीं जाती हूँ, क्योंकि इस समय नगरी में जाकर आपके पिता को वृत्तान्त जताना मेरे लिए असाध्य कार्य है। जब चक्रेश्वरी इस प्रकार के वचन कह रही थी तब मृगांकलेखा की सारी देह रोमांचित हो पुलकित हो गई। कंचुकी के सन्धि समूह टूट गए और सहसा ही उसकी बाईं भुजा और वाया स्कन्ध फरकने लगा। उसका वाम नेत्र भी फरकने लगा। फरकता हुआ वह वाम नेत्र ऐसा लग रहा था मानों पति-पत्नी के मिलन को ही कह रहा हो॥ १.२.३.४.५॥

वइयरु णिय साहि समाहि वाल, आणंदिय गच्छइ दाणसाल ॥ ६ ॥
तदणंतरि तणरुह थाणि जाइ, पिदु उदुकंठा णिय मिलिउ माइ ॥ ७ ॥
सो साइरचंदु सयाणु सुट्ठु, णयरी पिक्खेप्पिणुं फिरि अपुट्ठु ॥ ८ ॥
पट्टणि काणणि ण णियंतु पत्ति, जा पिक्खइ णायणु वालु झत्ति ॥ ९ ॥
मणि मुणइ ण इहु सामण्णु होइ, णिरु दीसइ राइकुमारु सोइ ॥ १० ॥
अणुवम सोहा किर कल पवीणु, गुरुदेव भत्तु पोसणु सुदीणु ॥ ११ ॥
फुल्लारविंद मुहु सोहदित्ति, तिंह णियडि णियंतहु जाउ मित्ति ॥ १२ ॥
सो उट्ठि करइ लहु अब्भु थाणु, परसप्पर णेहु पवड्ढमाणु ॥ १३ ॥
कुमरे णिय आकिदि मुणिउ ताउ, सायरु मणि मण्णइ अप्प जाउ ॥ १४ ॥
तदणंतरि लवइ सुरिंददत्तु, इयरहु पदि पुच्छइ ठाण खित्तु ॥ १५ ॥
ता लवइ उवहिससि भेउ तासु, णिय णयरु अवंती णामि जासु ॥ १६ ॥
तिंह सिट्ठि तणउ ससिलेह कंतु, वणिया विजोइ आइउ भमतु ॥ १७ ॥
करुणा करि सुरि महु भणिय वाल, सिद्धत्थ णयरि रमणी रसाल ॥ १८ ॥
अम्महु जुम्महु संजोउ जाउ, तहुं सिसु अवत्थ किं इत्थु आउ ॥ १९ ॥
पाहाण सरिसु हिदु माय ताय, बालउ विएसि णिसि णिंद थाइ ॥ २० ॥

घत्ता— णिय जम्म मही परियणु लवहि, कुल वल कारणु साहहे।
को धम्मु सत्थु गुर मग्ग विही, कवणु देउ आराहहे ॥ १० ॥

दुवई— सुणिवि सुरिंददत्तु भणि वइयरु, मुद्दा तस्स दावए।
णिच्छइ जणणु जाणि सो अप्पणु, सिरु कम कमलि लावए ॥ ५ ॥

अपनी सारी वार्त्ता से बालक को स्वस्थ चित्त कर वह बाला आनन्दित व प्रफुल्लित होती हुई दानशाला की ओर चली गई। इधर कुछ समय के पश्चात् (अष्टाह्निकोत्सव समापन के पश्चात्) बालक सुरेन्द्रदत्त दानशाला में जाकर अत्युत्कण्ठा से अपनी माता से मिलता है॥ उधर दूसरी घटना घटती है। श्रेष्ठ सुविज्ञ सागरचन्द्र अपनी प्रिया को नगरी में पूछता, निहारता फिरता है। निहारते-निहारते पत्तन काननों को प्राप्त होता हुआ वहाँ एक बाल नायक को देखता है। मन-ही-मन विचारता है कि यह बालक कोई सामान्य बालक नहीं है। यह तो निश्चित ही कोई राजपुत्र दिखलाई पड़ता है॥ ६.७.८.९.१०॥

इसकी अनुपम शोभा है। निसन्देह यह कला-प्रवीण है। लगता है यह देव और गुरु का भक्त है, दीनों का पोषक है। इसके मुख की सुषमा और दीप्ति विकसित कमल की भाँति है। उसे निहारता हुआ मैत्री भाव से उसके निकट जा पहुँचा, सो वह बालक सुरेन्द्रदत्त भी परस्पर बढ़ते हुए स्नेह से अतिशीघ्र उठकर सागरचन्द्र का अभ्युत्थान अर्थात् यथायोग्य विनय करने लगा। कुमार सुरेन्द्रदत्त अपनी आकृति (पिता को देखकर) से जान लेता है कि यह मेरे पिताश्री है और सागरचन्द्र अपने मन में मान लेता है कि यह मेरा अपना जाया पुत्र है॥ ११.१२.१३.१४॥

तत्पश्चात् सुरेन्द्रदत्त ने सागरचन्द्र से उनका स्थान और क्षेत्रादि पूछा, सागरचन्द्र सुरेन्द्रदत्त से अपना भेद कहने लगा—मेरी जिस नगरी का नाम अवन्ति है, मैं वहीं के श्रेष्ठी का पुत्र हूँ और मृगांकलेखा का प्राण-वल्लभ हूँ। प्राण-प्रिया के वियोग से भटकता हुआ यहाँ आया हूँ। करुणा करके सुरबाला (चक्रेश्वरी देवी) ने मुझे कहा था, हे पुत्र! तुम्हारी मनोहर गुणवन्ती प्रिया सिद्धार्थ पुर नगर में है। हम दोनों का संयोग वहीं पर होगा परन्तु हे पुत्र! तुम बाल अवस्था में यहाँ क्यों आए हो? लगता है आपके माता-पिता पत्थर हृदय हैं; जो तुझ जैसे बालक को विदेश भेजकर निज गृह में रात्रि में सुखपूर्वक शयन करते हैं॥ १५.१६.१७.१८.१९.२०॥

घत्ता—हे पुत्र! अपनी जन्म भूमि, अपने परिजन, अपने कुल और बल और यहाँ आने का कारण कहिए। आपका कौन सा धर्म है? कौन सा मत है? तुम्हारे गुरु की चर्या विधि क्या है? तुम किस देव की आराधना करते हो॥ १०॥

दुवई—सागरचन्द्र की उक्त वार्त्ता को सुनकर सुरेन्द्रदत्त ने उन्हें अपनी मुद्रा दिखलाई और निश्चित ही ये मेरे पिता हैं, ऐसा जानकर अपना शीश उनके चरण-कमलों में रख दिया॥ ५॥

८

पद्धरी— णिय मुद्दा पिक्खि समुद्दचंदु, अइहरिस पूरि सहसा अतंदु ॥ १ ॥
आलिंगइ पुत्तु समाहि साहि, पुणु तणरुह भत्ति भरेण ताहि ॥ २ ॥
पडिहासइ जं जं वित्तु सव्वु, जिम मिलिय माइ णं दीस पव्वु ॥ ३ ॥
ता पच्छइ गच्छइ सवसु ठाणि, तायहु पडिहासइ महुर वाणि ॥ ४ ॥
यह सयल रिद्धि संगहहु अप्पु, हउ किं करु तिट्ठमि णिरवियप्पु ॥ ५ ॥
परसप्पर जाम अलावु होइ, आवंत णिहालिय णारि दोइ ॥ ६ ॥
सम चंदलेह सा चित्तरेह, ते तत्त समुज्जल कणय देह ॥ ७ ॥
सो सायरु पिक्खि पिया मयच्छि, छणइंद वत्ति सुंदरि सुदच्छि ॥ ८ ॥
अइ हरिस पूरि पूरिउ मणेण, सा भज्ज णिवडि कम कमलि तेण ॥ ९ ॥
अप्पणु मण्णइ सकयत्थ जम्मु, जा णियइ दइय सुय वत्तु रम्मु ॥ १० ॥
आणंदु पवट्ठइ जो णियांणि, सो विवुहु ण सक्कइ वण्णि वाणि ॥ ११ ॥

गाथा—सव्वाण ताण तइया पिय मेलउ सहिय पुत्त संजुत्तो।
दुह णिवह सेल कुलिस, अण्णोण्णं दंसणि जायं ॥ ४० ॥

९

पद्धरी— जा जणणि जणण पिक्खइ कुमारु, सु सुरिंददत्तु रूवेण मारु ॥ १ ॥
मणि मण्णइ अप्पणु सहलु जम्मु, ते पियर सरहि सुह पुव्व कम्मु ॥ २ ॥
जम्मण दिण-मिव णं कमल सूर, भरिया तिह हरिस पयूस पूर ॥ ३ ॥
तदणंतरि चित्त मइंकलेह, तत्ताइ सणं आकंठ देह ॥ ४ ॥
चिरु रुवइ चिराणउ सरि सणेहु, ... ॥ ५ ॥
तं तेसि सुहं संजाउ जम्मि, महकइ गिर गोयर णत्थ तम्मि ॥ ६ ॥
पुणु पच्छइ साहइ अप्प वित्ति, जिम कम्मि भमाडिय वहुलखित्ति ॥ ७ ॥
सोउण चित्तरेहा मुहाउ, दइयस्स सुवइयरु दहण ताउ ॥ ८ ॥
पिय पय लुलंत सुमइंकलेह, दिगरुलुघुलंत चिरु रुवइ णेह ॥ ९ ॥

८

पद्धरी—अपनी मुद्रा को देखकर सागरचन्द्र सहसा अतीव हर्ष से भर गए और स्वस्थ चित्त सचेत हो पुत्र का आलिंगन करने लगे। पुन: अत्यन्त भक्ति भार से भरे पुत्र ने जो-जो घटा, सारा कह सुनाया। कुमार कहता है मुझे जैसे ही माता मिली ऐसा लगा मानों कोई पर्व ही दृष्टिगोचर हो गया हो। वे माता पश्चात् कनकध्वज राजा के साथ अपने स्थान पर लौट गई। पुत्र अपने तात से अत्यन्त मधुर वाणी में कहता है—हे तात! आप ही इन सकल ऋद्धियों को ग्रहण कीजिए अर्थात् सँभालिए। अब मुझे क्या करना, मैं तो निर्विकल्प होकर बैठता हूँ॥ १.२.३.४.५ ॥

जब पिता-पुत्र दोनों का वार्त्तालाप हो रहा था तब उन दोनों ने आती हुई दो नारियों को देखा। चन्द्रलेखा के साथ वह चित्रलेखा भी आ रही थी। उन दोनों की सुन्दर देह यष्टि तप्त स्वर्ण के समान थी। सागरचन्द्र ने अपनी मृगलोचनी प्रिया को देखा, जो पूर्ण चन्द्रवदनी अत्यन्त सुन्दर एवं दक्षा थी। हर्षातिरेक से भर-भर आया है हृदय जिसका; ऐसी वह धर्म भार्या अपने पति के पाद-पंकजों में गिर पड़ी। जिसने अपने पति और पुत्र का मनोहर मुख देख लिया, ऐसी वह मृगांकलेखा अपने जन्म को कृतार्थ मानती है। उस समय मृगांकलेखा का जो आनन्द बढ़ रहा था उसका वर्णन वृहस्पति भी अपनी वाणी से करने में समर्थ नहीं थे॥ ६.७.८.९.१०.११ ॥

गाथा—उस समय उसे पुत्र और सखी सहित प्रिय वल्लभ के मिलाप से वन सम्बन्धी सारे कष्टों से त्राण मिल गया; क्योंकि एक दूसरे का दर्शन रूप वज्र ही दु:ख समूह रूपी पर्वत पर गिर पड़ा था॥ ४० ॥

९

पद्धरी—वे जनक-जननी सौन्दर्य में मकरध्वज तुल्य अपने पुत्र सुरेन्द्रदत्त को देखते हैं तो मन में यही विचारते हैं 'हमारा जन्म सफल हो गया'। वे माता-पिता अपने पूर्व शुभ कर्मों का स्मरण करते हैं। वे चारों (सागरचन्द्र, मृगांकलेखा, सुरेन्द्र दत्त और चित्रलेखा) हर्ष रूपी अमृत के पूर से ऐसे भर गए मानों दिन में सूर्य से कमल ने जन्म पा लिया हो अर्थात् कमल वन प्रमुदित हो उठा हो। तदनन्तर मृगांकलेखा और चित्रलेखा दोनों ऐसी सन्तुष्ट हुई मानों आपाद कण्ठ पूर्ण तृप्त हो गई हों। वे दोनों चिरकाल तक पुरातन स्नेह का स्मरण कर रुदन करती रहीं॥ १.२.३.४.५ ॥

उन दोनों को पुन: इसी जन्म में जो सुख उत्पन्न हुआ वह महाकवि की वाणी के अगोचर था अर्थात् उसका वर्णन करने में महाकवि भी असमर्थ थे। तदनन्तर वे दोनों अपनी-अपनी कथा पूछती और कहती रही। जिन कर्मों ने उन्हें अनेक स्थानों में भटकाया था। चित्रलेखा के मुख से पति के 'चिताग्नि में दहन' के समाचार सुन मृगांकलेखा स्नेहाभिभूत हो पति के चरणों में लोट गई और दीर्घ नि:श्वास छोड़ती हुई चिरकाल तक रोती रही॥ ६.७.८.९ ॥

घत्ता— हा णाह णाह महु कज्जि पई, हुववहि वडउ समायरिओ।
भुवणि भयाणगि तरु गहणे, णिसि वसि भुइ सायरु तरिओ॥ ११॥

दुवई— वहणि पवेसुउ चिदु णिरु णारी, कारणि पइ पवुत्तओ।
वल्लहु जइवि अहिउ विरहाउरु, तं किय जणि अजुत्तओ॥ ६॥

गाथा— हे सुजस तुज्झ सुजसो, आणंदे भमइ भुवण वलयम्मि।
सायरदत्तस्स कुलं, उद्धरियं जेण णिस्सेसं॥ ४१॥

एवं जंपंती सा, सायरचंदेण धरिय वाहाए।
णिय अंग वाम देसे, णिवेसिया पिय सही सहिया॥ ४२॥

सो आह मज्झ विरहे, जित्तिय मित्तं तए दुहं सहियं।
तुह विरहे तस्समए, तिल तुस मित्तंपि णहि सहियं॥ ४३॥

दोहा— सुर सरिता ससिलेह ते, पायउ सागर संगु।
निज हिमकर सुत निरखियओ, अधिक भयउ मनिरंगु॥ ७॥

मास अवधि देवी कही, सो तहि पूगी सार।
ससिलेहा विकसित हियइ, वाढइ हर्ष अपार॥ ८॥

दुरित कर्म खंडित जवहि, सुकृत उदइ जव होइ।
लहइ सकल सुखसंपदा, पावइ सुर णर भोइ॥ ९॥

घत्ता—हाय नाथ! हाय स्वामिन्! मेरे कारण अर्थात् मुझे प्राप्त न कर पाने के कारण आपने हुताशन में गिरने का आचरण/उद्यम किया। आपको देखकर ऐसा लगता है मानों सम्पूर्ण पृथ्वी के भयानक सघन वृक्षों के नीचे रात्रि विश्राम करके आपने अपनी भुजाओं से समुद्र तैर लिया हो॥ ११ ॥

दुवई—हे प्राण वल्लभ! अग्नि प्रवेश के कारण को तो कहिए। यद्यपि आप अत्याधिक विरहातुर थे तथापि नारी के कारण जो कार्य आपने किया वह उचित नहीं है॥ ६ ॥

गाथा—हे सुयशे! आपका सुयश भूमण्डल पर आनन्दपूर्वक फैलता रहे। जिससे सागरदत्त के समस्त कुल का उद्धार हो, इस प्रकार कहती हुई वह सागरचन्द्र द्वारा भुजाओं में धारण कर ली गई अर्थात् सागरचन्द्र ने उसे भुजाओं में कस लिया और सखी सहित वाम अंक प्रदेश में (बाईं ओर) निवेसित बैठा लिया॥ ४१.४२ ॥

सागरचन्द्र कहते हैं—मेरे विरह में तेरे द्वारा जितने दु:ख सहे गए, तेरे विरह के समय मेरे द्वारा सहे गए कष्ट 'तिल तुष मात्र' भी नहीं॥ ४३ ॥

दोहा—हे शशिलेखे! तू पवित्र देव सरिता अर्थात् गंगा नदी है। तूने सागरचन्द्र रूपी समुद्र का संग (पति) पाया है और अपने हिमकर अर्थात् चन्द्रसम पुत्र को निरखकर मेरा मन अत्यन्त आनन्दित हो रहा है॥ ७ ॥

चक्रेश्वरी देवी के द्वारा कही गई एक माह की अवधि पूर्ण हुई (पति-पुत्र का मिलाप हो गया) मृगांकलेखा का हृदय विहँसित हो रहा है तथा हृदय में जिसकी कोई सीमा नहीं ऐसा असीम हर्ष बढ़ रहा है॥ ८ ॥

जब पाप कर्म खण्डित होते हैं और पुण्य कर्मों का उदय होता है तब ही जीव समग्र-सुख सम्पदाओं को प्राप्त करता है तथा उत्तम देव और मनुष्यों के सुख-भोगों को प्राप्त होता है॥ ९ ॥

पद्धरी— तदणंतरि कणयद्धउ णरेसु, तहिं आइ करइ उववणि पवेसु ॥ १ ॥
पुणु सायरचंद सुरिंददत्त, आलिंगिय पुच्छइ कुसल वत्त ॥ २ ॥
परसप्पर पीइ पवट्ठमाण, मय तुरइ अरोहिवि झत्ति ताण ॥ ३ ॥
सिविया ससिलेह चली तुरंत, कय विविह हट्ट सोहा महंत ॥ ४ ॥
वंदीयण दिण्णउ भूरि दाणु, पुरियइ सहि विण्णि जि णिव समाणु ॥ ५ ॥
पुणु सुंदरि मंदिरि थाणि थप्पि, सम आयरि भोयण वत्थ अप्पि ॥ ६ ॥
णिय धामि सामि अइ गउरवेण, मासिक्कु तहां ठिदि करिवि तेण ॥ ७ ॥
जा चल्लइ सायरचंदु तत्थ, णिउ देइ सुयहु णिय कण्ण जत्थ ॥ ८ ॥
करि पाणिगहणु कम कमल दच्छि, तणया गुणरेह विहाणि सुच्छि ॥ ९ ॥
वर भोइ सजोइ रमंत संत, पुणु चल्लहिं विण्णि सयास कंत ॥ १० ॥
तिहं जणणि जणण दंसणाहिलास, अणुकमि आइय णिय विसय वास ॥ ११ ॥
सुणि सम्मुहु आउ अवंतिसेणु, दुत्थिय धण दाणे कामधेणु ॥ १२ ॥
सामंत णिवह सम तत्थ पत्तु, णिव सत्थे आउ समुद्ददत्तु ॥ १३ ॥
परसप्पर भेट्टि आलिंगि सव्व, तद्दंसणि दुज्जण गलिय गव्व ॥ १४ ॥
पच्छा पुर लोय पलोइमाण, विब्भय जण सयल णियंत ताण ॥ १५ ॥

सम पुत्त कलत्त अवासि पत्तु, पउमा पनुहा णिरु सुण्ह रत्तु ॥ १६ ॥
अणुकमि णमि पयपंकय मयच्छि, अइहरिसपूर णिब्भर सुदच्छि ॥ १७ ॥
ससुरांइ चरण णमि चंदलेह, ठिय णिय पसाय पुलयंक देह ॥ १८ ॥
जलरासिचंदु णमि पियर पाइ, पुणु भिट्टि सपाहुड णमइ राइ ॥ १९ ॥
पहु लहि पसाउ अइ हरिस चित्तु, सग खित्ति समप्पइ वहुल वित्तु ॥ २० ॥
जिणबिंब पइट्ठा संघ दाणु, वंदीयण वसु ढोवइ अमाणु ॥ २१ ॥
साहम्मिय वच्छलु गुणिय सेव, वहु सत्थ लिहाइ विबुह अमेव ॥ २२ ॥
दिण्णइ विणए बहु भित्ति भाइ, ऊसह आहार पमुह विहाइ ॥ २३ ॥
किर जाइ कालु आणंदि जाम, जत्ता रह तित्थ सु पत्त ताम ॥ २४ ॥
ण्हवणच्चणि दाणि विहाणि णिच्च, सुण्णउ दिणु जाइ ण तांह भिच्च ॥ २५ ॥
ठिय धम्म झाणि दिणु रयणि जाइ, दंपइ ण अलंवहि खणु पमाइ ॥ २६ ॥

पद्धरी—तदनन्तर कनकध्वज नरेश वहाँ आए। उपवन में प्रवेश कर उन्होंने सागरचन्द्र और सुरेन्द्रदत्त का आलिंगन कर उन दोनों से कुशलवार्त्ता पूछी। परस्पर बढ़ती हुई प्रीति से उन दोनों को शीघ्र ही गज और अश्व पर आरुढ़ कराकर तथा शशिलेखा को पालकी में बैठाकर तत्काल ही चल पड़े। उस समय नगर के अनेक प्रमुख हाटों में महान् विभूति से शोभा की गई अर्थात् उन्हें सजाया गया। बन्दीजनों को प्रचुर दान दिया गया। पुरजनों सहित दोनों ने राजा के समान नगर में प्रवेश किया॥ १.२.३.४.५ ॥

सुन्दर भव्य भवन में उनको ठहराया गया। समादर सहित भोजन वस्त्रादि वस्तुएँ समर्पित की गईं। अत्यन्त गौरव सहित अपने स्वामी कनकध्वज के आवास पर एक माह ठहरकर जब सागरचन्द्र वहाँ से चलने लगे, तब नृप कनकध्वज ने सुरेन्द्रदत्त सुत को अपनी कन्या सौंप दी। गुणरेखा है सुन्दर अभिधान जिसका, कमल के समान सुन्दर चरण और नयन हैं जिसके, जो स्वच्छ और दक्ष है ऐसी अपनी अंगजा का राजा ने कुमार के साथ पाणिग्रहण कर दिया। उत्तम भोगों के संयोग से रमण करती हुई वे दोनों नारियाँ (मृगांकलेखा एवं गुणरेखा) अपने-अपने स्वामियों के साथ चल पड़ी॥ ६.७.८.९.१० ॥

माता-पिता की दर्शनेच्छा से वे सभी अनुक्रम से अपने आवासित देश की ओर आए। सुरेन्द्रदत्त और सागरचन्द्र का आगमन सुनकर अवनिसेन नृपति उनके सम्मुख आया। जो दुःखीजनों के लिए द्रव्य दान में कामधेनु के तुल्य था। सामन्त समूह के साथ नृपति अवनिसेन और श्रेष्ठी सागरदत्त सागरचन्द्र के समीप पहुँचे। सभी के परस्पर आलिंगन और भेंट को देखकर दुर्जनों का अभिमान गलित हो गया। नगरवासी जन विभ्रमपूर्वक उनको देखते हुए अपने-अपने घर लौट आए॥ ११.१२.१३.१४.१५ ॥

सागरचन्द्र पुत्र और पत्नी सहित अपने आवास को प्राप्त हुए। गृहिणी-प्रमुखा पद्मा पुत्रवधु मृगांकलेखा पर अनुरक्त हो गई अर्थात् उसके प्रति स्नेह दर्शाने लगी। अत्यन्त स्नेह से भर गई है देह जिसकी; ऐसी पुत्रवधु मृगनयनी मृगांकलेखा ने अनुक्रम से अपने भवन में स्थित पुलकित देहवाले सास-श्वसुर के चरणों में नमस्कार किया। सागरचन्द्र ने भी अपने माता-पिता के चरणों में प्रणाम किया पश्चात् उपहार स्वरूप भेंट लेकर राजा से भेंट की और उन्हें भी शीश झुकाकर प्रणाम किया। राजा की प्रसन्नता को प्राप्त कर सागरचन्द्र का चित्त अत्यन्त हर्षित हुआ। उसने सप्त स्थानों पर अपनी विपुल-विभूति समर्पित की॥ १६.१७.१८.१९.२० ॥

जिनबिम्ब प्रतिष्ठा कराकर चतुर्विध संघ को दान दिया तथा जिसका कोई प्रमाण नहीं, इतना धन बन्दीजनों द्वारा ढोया गया अर्थात् इतना धन दान दिया गया। सह-धर्मियों से वात्सल्य एवं गुणीजनों की सेवा करता हुआ सागरचन्द्र ने विद्वानों द्वारा अनेक ग्रन्थ लिखवाए। वह सागरचन्द्र अति विनय भक्ति भावादि प्रमुख उत्सवों सहित आहार देता हुआ सुशोभित होता था। निश्चित ही जब आनन्दपूर्वक समय बीत रहा

घत्ता— सुरुतरु सायरचंदु जणे, कप्पलया सम तासु पिया।
रइसुह महिरुह तणउ हलो, सुजस कुसम णिरु गंध सिया॥ १२॥

दोहा— सुरपति सम जलरासि ससि, विलसइ वंछित भोगु।
कवि सु भगवती संघडइ, पुण्ण उदय संजोगु॥ १०॥

दान सील व्रत भाव जुत, जिनपूजा रुचि होइ।
जे सुकृत संचहि सदा, लहहि परम सुहु सोइ॥ ११॥

इय सिरि चंदलेह कहाए रंजिय बुह चित्त सहाय भट्टारय सिरि मुणि माहिंदसेण सीस पंडिय भगवइदास विरइए ससिलेहा पति पुत्त सही सया संजाउ वण्णेणं तिदीय संधि परिच्छेअ सम्मत्तो।

था, तभी तीर्थ स्थापन कर रथ यात्रा निकाली गई। अभिषेक अर्चना और दानादि कर्म प्रति नित्य होने लगे। सागरचन्द्र के गृह से किसी भी दिन कोई भी भृत्य सूना नहीं जाता था अर्थात् ऐसा कोई भृत्य न था जिसे दान न दिया जाता हो। धर्म ध्यान में स्थित दम्पत्ति के दिन-रैन बीतने लगीं, वे एक क्षण के लिए भी प्रमाद का आसरा नहीं लेते थे॥ २१.२२.२३.२४.२५.२६ ॥

घत्ता—सागरचन्द्र रूपी कल्पतरु है तो उसकी प्रिया मृगांकलेखा कल्पलता के समान थी। इन दोनों के रति-सुख रूपी वृक्ष से पुत्र सुरेन्द्रदत्त रूपी फल उत्पन्न हुआ। वह सागरचन्द्र रूपी कल्पवृक्ष सदा सुयश रूपी सुमनों की सुगन्ध से सुवासित रहता था॥ १२ ॥

दोहा—इन्द्र के समान सागरचन्द्र मनोवांछित भोगों से सुशोभित होता है। कवि भगवतीदासजी कहते हैं, भावयुक्त दान, शील एवं व्रतों का होना तथा जिनेन्द्र प्रभु की पूजा-अर्चना की रुचि आदि होना ये सारे क्रिया-कलाप शुभ-पुण्य कर्म के संयोग से ही संघटित होते हैं। जो व्यक्ति सदा ही शुभ कर्मों का संचय करते हैं वे ही उत्कृष्ट सुख को प्राप्त होते हैं॥ १०.११ ॥

इस प्रकार श्री मृगांकलेखा चरित्र में बुधजनों के चित्त को अनुरंजित करने में सहायक भट्टारक श्री माहेन्द्रसेन मुनि के शिष्य पं. भगवतीदास विरचित मृगांकलेखा का पति, पुत्र और सखि के संयोग का वर्णन करने वाली तृतीय सन्धि का हिन्दी अनुवाद आचार्यप्रवर श्री शान्ति - वीर - शिव - ज्ञानसागर के शिष्य आचार्य श्री विद्यासागर मुनि के आज्ञानुवर्ती परम शिष्य राष्ट्रसन्त उपाध्याय श्री गुप्तिसागर मुनि द्वारा सम्पूर्ण हुआ।

॥ इति तृतीय सन्धि समाप्तम् ॥

चउत्थ संधि

सोरठा—पुणु भासमि लोइ ससिलेहा वइराय विही।
सायर सम सोइ जिम पाविय तवलच्छि णिही॥१॥

१

पद्धरी— अवणीवइ सेव सुरिंददत्तु, दाणे सम्माने लाहु पत्तु॥ १॥
कलगुणि पवीणु पिक्खिवि णरेसु, पिय तासु पिया मह कज्जु सेसु॥ २॥
अप्पइ णर वरु भंडारु सारु, ते पुत्त रयणु धुर धाम धारु॥ ३॥
सीहणि सोवइ णिब्भय णिरुत्तु, केसरि किसोरु जिणि जणिय पुत्तु॥ ४॥
किं रासहि तणय पसूय सारु, णिय पिट्ठि वहइ सा णिच्च भारु॥ ५॥
चंदन तरु गहणि सपुत्तु लोइ, किं वंस विड उसरि तासु होइ॥ ६॥
किं उडगणि गणि जोणिसि मइंकु, किं दीव बहुलि उइओ ससंकु॥ ७॥
किं खज्जूवइ पह रवि समाणु, किं पक्खिराइ वहु अहि सवाणु॥ ८॥
वणि इगु मयारि किं बहु मइंग, गंडोल बहुल किं सम भुयंग॥ ९॥
किं तिण समूह सिहि कण समेउ, किं कम्म समूहे सिद्धुएउ॥ १०॥
तं एगु तणउ ससिलेह सुट्ठु, किं तणरुह वहुले विहि अतुट्ठ॥ ११॥

तिहं दइ सया णरवइ समाणु, सिसु विणए मणि धारइ ण माणु॥ १२॥
जे णिहि लहिअ ण आयरि सुगोह, मणि धरहि माणु ते णर अवोह॥ १३॥
संवरु संपइ दारिदि अभीर, रज्जे सुविणउ आवइ सुधीर॥ १४॥
जे णर उत्तम गुण भणिय लोइ, सायर ससि तणरुह सव्व सोइ॥ १५॥
णिरु रज्ज कज्ज साहण पवीणु, गिह भार धुरंधरु वसु अदीणु॥ १६॥
जिह कप्प महीरुह पुत्त होइ, पियरह णवि वट्टइ चिंत कोइ॥ १७॥

चतुर्थ सन्धि

सोरठा—अब मैं लोक में मृगांकलेखा की वैराग्य विधि कहता हूँ। जिस तरह उसने सागरचन्द्र सहित तप लक्ष्मी रूपी निधि को प्राप्त किया॥ १ ॥

१

पद्धरी—सुरेन्द्रदत्त अवनिपति की सेवा करके दान-सम्मान रूप लाभ को प्राप्त करता है। नरेन्द्र ने सुरेन्द्रदत्त को कला और गुणों में प्रवीण देखकर उसके पिता के प्रीति-जनक महान कार्यों में शेष जो राज्य का सारभूत राज भण्डार था उस नर पुंगव को सौंप दिया। सचमुच ऐसे पुत्ररत्न ही गृहस्थ की धुरा को धारण करते हैं। सच है सिंह जैसे शिशु को जनकर सिंहनी निर्भय और निरुत्तर होकर शयन करती है। गर्दभ जैसे पुत्रों को प्रसूत करने से क्या प्रयोजन ? जो नित्य ही अपनी पीठ पर बोझा ढोता फिरता है॥ १.२.३.४.५ ॥

लोक में सुपुत्र की प्राप्ति गहन वन में चन्दन वृक्ष के समान दुर्लभ है। क्या वंश की वृद्धि विट पुरुषों से होती है ? अथवा ऊसर भूमि में क्या बीज वंश की वृद्धि हो सकती है ? क्या नक्षत्रों का समूह ज्योतिषी चन्द्र हो सकता है अथवा क्या बहुत से दीपों से चन्द्रमा का उदय हो सकता है अथवा बहुत से उदित दीप चन्द्र की बराबरी कर सकते हैं ? क्या खद्योतपति की प्रभा सूर्य समान हो सकती है ? क्या बहुत से सर्प पक्षिराज गरुड़ की समानता कर सकते हैं ? नहीं, वन में एक सिंह ही पर्याप्त है अनेक मृगों की क्या आवश्यकता ? क्या नाना केचुएँ (कृमि विशेष पेट में पैदा होनेवाले कीड़े) मिलकर काले नाग समान हो सकते हैं ? क्या अग्नि के एक कण सहित तृण समूह स्थिर रह सकता है ? अथवा कर्म समूह विद्यमान रहते हुए क्या कभी सिद्धत्व उत्पन्न हो सकता है ? अर्थात् जैसे ये समस्त असमानताएँ परस्पर असम्भावित हैं उसी प्रकार वह मृगांकलेखा का एक अकेला विशुद्ध पुत्र ही पर्याप्त था, सुखप्रद था क्योंकि असन्तुष्ट रखनेवाले अनेक पुत्रों से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है॥ ६.७.८.९.१०.११ ॥

उस सती का पति महिपति के समान था तथा पुत्र अत्यन्त विनीत था। मन में मान को स्थान नहीं देता था। जो सुभट धन सम्पदा को पाकर दूसरों का सम्मान नहीं करते, मन में अभिमान रखते हैं वे निश्चित ही अज्ञानी हैं, मूर्ख हैं। जो संवर सम्पदा से संयुक्त हैं वे दारिद्रय से अभीत हैं अर्थात् दरिद्रता उनके पास नहीं आती। उन धैर्यवानों को आपत्तियाँ तो स्वप्न में भी रुचिकर लगती हैं। लोक में पुरुषों के जो उत्तम गुण कहे जाते हैं वे सर्व गुण सागरचन्द्र के पुत्र में विद्यमान थे॥ १२.१३.१४.१५ ॥

नि:सन्देह वह राज कार्य साधन में प्रवीण था तथा गृह भार की धुरा का धारक धन वैभव से भी अदीन/समर्थ था। जिनका पुत्र कल्पवृक्ष जैसा होता है उन माता-पिता को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होती॥ १६.१७ ॥

एकइया णिसि ससिलेहु उत्त, दइया सम सामिय सुणहि गुत्त॥ १८॥
महु मणु ण पवट्टइ विसय सत्थि, णर जम्मु ण विहलिज्जइ अयत्थि॥ १९॥
संसारु असारु ण सारु भोउ, जर जम्मणु मरणु असाहि रोउ॥ २०॥
काले कवलिज्जइ णिच्च जीउ, अप्पा-परु ण वियाणइ सईउ॥ २१॥
सरि साइरु वसुहाहिउ धरत्ति, सिहि इंधणि कामिउ पुरिसु पत्ति॥ २२॥
तिह तित्ति ण मण्णइ इय वियारि, धण्णा ते दंपइ दीख धारि॥ २३॥
सिविणउ संजोउ विजोउ सत्थि, गिहवासु पासु णिरु णारी अत्थि॥ २४॥

घत्ता— महु मणि वट्टइ वइराउ सया, दुक्ख जलंजलि दिज्जए।
जा पुरउ ण विहडइ वल्लहओ, णिज्जणि वणि णिवसिज्जए॥ १॥

दुवई—सायरु लवइ सुणहि कमलच्छी, लच्छी थिरु ण दीसए।
पुत्त कलत्त अब्भ णिरु छाया, महु मणि एम सीसए॥ १॥

दोहा— मनुख जनम भवणइ कइ, विफल होइ विनु धम्म।
दान-दया-दीक्षा सहित, गलहि असुभ चिरु कम्म॥ १॥

पूरव सुकृत उदय लहइ, मनवांछित सुख सारु।
राज रिद्धि पिय संपदा, पुनु पावइ भव पारु॥ २॥

संजम सम सुख संभवइ, सो णर भवि ते होइ।
तिंह विणु भवि भवि आपदा, जिय जाणहि वुह सोइ॥ ३॥

२

पद्धरी— सायरि वुत्तउ महु मणिभिलास, पंचम गइ साहिज्जइ सयास॥ १॥
दाणे सिय तवि सुर सुहु लहंति, णाणे सिव पउ अंतिसु ण भंति॥ २॥
किर पाव पुणु तुट्टइ झडत्ति, णिव्वाणु लहिज्जइ अप्प सत्ति॥ ३॥
अप्पा अप्पे आराहि भव्व, संसारि जलंजलि दिहि अगव्व॥ ४॥
सो महु मणि वट्टइ चरण झाणु, हउं भोइ विरत्तउ सरमि णाणु॥ ५॥

एक दिन रात्रि में मृगांकलेखा अपने पति के सम्मुख कहती है—हे नाथ! मेरी गुप्तेच्छा सुनिए! मेरा मन अब विषयों में प्रवृत्त नहीं होना चाहता है अत: व्यर्थ के कार्यों में मनुष्य जन्म निष्फल नहीं करना चाहिए। यह संसार असार है, भोगों में भी कोई सार नहीं है। जन्म, मरण और वार्धक्य ये तीनों असाध्य रोग हैं। यह जीव नित्य ही काल-कवलित हो रहा है तथापि आत्मा और पर-पुद्‌गल के स्वभाव को नहीं पहचान रहा है। जिस प्रकार सागर सरिता से, राजा पृथ्वी से, अग्नि ईन्धन से और कामी पुरुष स्त्री से कभी सन्तुष्ट नहीं होते उसी प्रकार मन भी इन्द्रिय विकारों से कभी तृप्त नहीं होता, ऐसा जानकर जो दम्पत्ति जिन दीक्षा धारण करते हैं वे ही धन्य हैं। ये संयोग-वियोग तो स्वप्न में ही प्रशंसनीय माने गए हैं वस्तुत: गृहवास और नारी तो बन्धन ही हैं॥ १८.१९.२०.२१.२२.२३.२४॥

घत्ता—हे वल्लभ! मेरे हृदय में सदा ही वैराग्य प्रवर्तित रहता है, अस्तु जिस प्रकार मेरा यह वैराग्य नष्ट न हो ऐसे निर्जन वन में निवास कीजिए तथा दु:खों के लिए जलांजलि दीजिए॥ १ ॥

दुवई—सागरचन्द्र कहता है—हे मृगनेत्री! सुनो, मेरा मन तो यही कहता है कि यह विभूति स्थिर नहीं है। ये पुत्र, कलत्र सभी मेघच्छाया तुल्य क्षण भंगुर है॥ १ ॥

दोहा—अखिल संसार यही कहता है कि धर्म के बिना मनुष्य जन्म निष्फल है। दान, दया और दीक्षा इन तीन दकारों से ही पुरातन अशुभ कर्म निर्जीण होते हैं॥ १ ॥

पूर्व प्रशस्त कर्मोदय से जीव प्रयोजनीय मनोवांछित सुखों को प्राप्त करता है। राज ऋद्धि और राज सम्पदा को भोगता हुआ संसार से भी उत्तीर्ण हो जाता है॥ २ ॥

समता रूपी सुख संयम से ही उत्पन्न होता है और वह संयम मनुष्य जन्म में ही सम्भव है। इस संयम एवं तज्जन्य शम सुख के अभाव में जीव जन्म-जन्म में संकटों को प्राप्त होता है। जो मनुष्य इस रहस्य को जानता है वही बुद्धिवन्त है॥ ३ ॥

२

पद्धरी—सागरचन्द्र कहते हैं—हे देवी! मेरी मनोभिलापा भी यही है कि अव प्रयत्नपूर्वक पंचम गति की साधना की जानी चाहिए। जीव दान से लक्ष्मी, तप से देव सुख तथा ज्ञान अर्थात् बोधि-रत्नत्रय से अन्तिम शिवपद को प्राप्त करते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है। निश्चित ही रत्नत्रय द्वारा शीघ्र ही पुण्य-पाप की शृंखलाएँ टूट जाती हैं और यह जीव आत्म शक्ति से नि:श्रेयस् सुख को प्राप्त करता है। निरहंकारी भव्य जीव अपनी आत्मा की आराधना द्वारा संसार रूपी दु:ख को जलांजलि देते हैं अर्थात् संसार दु:ख से छूट जाते हैं। इसलिए वही धर्मध्यान रूप चारित्र मेरे मन में प्रवर्धित हो रहा है। मैं भोगों से विरक्त होता हुआ उसी रत्नत्रय रूपी बोधि का स्मरण करता हूँ॥ १.२.३.४.५॥

जइया गुरु मिलइ रिसीसु मज्झु, तइया खम करमि मइच्छि तुज्झु ॥ ६ ॥
संजमि मणु वट्टइ दिवसु रयणि, हउं गज्झु पयासमि हे सयणि ॥ ७ ॥
इम चिंतिसु दंपइ भाव सुद्धि, तिट्ठहिं गिहवासि सया अलुद्धि ॥ ८ ॥
धण कण कंचण जाणिवि असार, वइराइ भावि तिट्ठहि अमार ॥ ९ ॥
तण जुव्वणु जीवणु ओस बिंदु, मणि मण्णि मिहुण रइराउ णिंदु ॥ १० ॥
तदणंतरि णयरी वणउजाणि, आइउ किर केवलि तासु ठाणि ॥ ११ ॥
णामे जुगमंधुरु जस णिहाणु, समुसरण सिरीजुद तिजग भाणु ॥ १२ ॥
आइण्णि णरेसुर वंदणत्थ, पुरयण सम चल्लइ झत्ति तत्थ ॥ १३ ॥
रवि दंसणि कमल वियासु जेम, आणंदिय गच्छइ लोउ तेम ॥ १४ ॥
अइ हरिस पूरि णर णारि सव्व, अवरोप्पर धावहि गलिय गव्व ॥ १५ ॥

घत्ता— हरि करि सिविया रह रुढ जणो, पंच पयचारी वहु गच्छए।
के णिय भावि सयाण सया, केवि सामि णिय पच्छए ॥ २ ॥

दुवई— मित्तउएसि चलहि वहु वर णर, कउतिगि केवि धावहे।
अइ अणंदि वंदि केवल पहु, उत्तमंगु धर लावहे ॥ २ ॥

३

पद्धरी— ससिलेह समउ जलरासिचंदु, सम परियणि चल्लइ सो अतंदु ॥ १ ॥
तिपयाहिण देउ ति जोइ जुत्तु, मुणि चरण कमलि णिवडइ णिरुत्तु ॥ २ ॥
तव दंसणि सामिय हउं कयत्थु, समदंसणु लद्धउ अप्प वत्थु ॥ ३ ॥
तुहु करुणासायरु लोइ तारु, भव उवहि पडंतहु पोउ सारु ॥ ४ ॥
अण्णाण तिमर णासण पयंगु, सिव भामिणि वत्तरविंद भिंगु ॥ ५ ॥
सकयत्थ सुलोयण मज्झु सामि, जं दिट्ठओ दंसणु मुत्तिगामि ॥ ६ ॥
सकयत्थ जाउ हउं मणुवजम्मि, चउगइ हिंडंतउ भव वणम्मि ॥ ७ ॥
थुइ करि परमेसर ठिउ सयांणु, गणहरु गिर साहइ धम्मु दाणु ॥ ८ ॥
णरवर पमुहा सु-सुणंत भव्व, सग तच्च पयत्थ विहाणु सव्व ॥ ९ ॥
जीवाजीवासव पुण्ण पाव, वंधणु संवरणु वियाणि भाव ॥ १० ॥

हे मृगनयनी! मुझे जब कोई गुरु अथवा ऋषि मिलेंगे तभी तुझ सहित मैं यह उचित कार्य करूँगा अर्थात् जिनदीक्षा स्वीकार करूँगा। हे सजनि! सुन, मैं तुझे अपने हृदय का गुप्त रहस्य प्रकट करता हूँ। अब मेरे मन में अहर्निश संयम भाव बढ़ता ही जा रहा है। इस प्रकार निरन्तर भाव शुद्धिपूर्वक युगल दम्पत्ति मन में विराग भाव का चिन्तन करते हुए अलुब्ध भाव से गृहाश्रम में तिष्ठते हैं। धन-धान्य तथा स्वर्ण को निस्सार जानते हुए वे निष्काम और वैराग्य भाव से गृह में विराजते हैं। वे तन, यौवन और जीवन ओस-बिन्दुवत् नश्वर है ऐसा मन में विचारते हुए मैथुन सम्बन्धी रति-राग की निन्दा करते हैं॥ ६.७.८.९.१०॥

तदनन्तर अवन्ती नगर के वनोद्यान में केवलज्ञानी अर्हत् देव का आगमन हुआ। जिनका पवित्र नाम युगमन्धर था, जो यश के कोष थे। जो समवसरणश्री से युक्त ऐसे लगते थे मानों वे त्रैलोक्य सूर्य हों। केवली का आगमन सुनकर नरेश्वर द्रुतगति से पुरजनों सहित वन्दनार्थ उद्यान की ओर चल पड़े। जिस प्रकार सूर्य के दर्शन पाते ही कमल विकसित हो जाते हैं उसी प्रकार केवली सूर्य के दर्शन मात्र से प्राणी लोक आनन्दित हो उठा। अत्यन्त हर्ष से भरे हुए सकल नर-नारी पारस्परिक दर्प-भाव को छोड़कर उद्यान की ओर गतिमान हुए॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

घत्ता—कोई सिंह पर, कोई हाथी पर, कोई शिविका पर, कोई रथ पर आरुढ़ होकर चल पड़ा। बहुत से पदचारी पैदल-पैदल उद्यान की ओर जाने लगे। कोई-कोई विज्ञ पुरुष अपनी स्वेच्छा से जाते हैं तो कोई-कोई अपने स्वामी के कारण उनके पीछे-पीछे जाते हैं॥ २॥

दुवई—कुछ लोग अपने श्रेष्ठ मित्रों के आदेश से, कुछ लोग कौतुक वश उद्यान की ओर धावमान हुए। सभी ने अत्यन्तानन्दपूर्वक पृथ्वी पर शीश झुकाते हुए केवली प्रभु की वन्दना की॥ २॥

३

पद्धरी—सागरचन्द्र भी मृगांकलेखा एवं परिजन सहित तन्द्रा छोड़ वन्दनार्थ जाता है। सागरचन्द्र ने मन, वचन और काय तीनों योग से युक्त होकर तीन प्रदक्षिणा तथा मुनि के चरण-कमलों में गिरकर साष्टांग प्रणाम करके इस प्रकार स्तुति करने लगे—हे स्वामिन्! आपके दर्शन से मैं कृतार्थ हो गया। मैंने आपके दर्शन से सम्यग्दर्शन रूपी आत्म वस्तु को प्राप्त कर लिया। आप करुणासागर हैं, जगत्तारक हैं। भवसागर में डूबते जीवों के लिए आप ही जहाज हैं। अज्ञान-तिमिर को नष्ट करने के लिए आप ही तेजस्वी भास्कर हो। शिवकान्त के मुखारविन्द के आप ही तो मधुकर हो॥ १.२.३.४.५॥

हे स्वामिन! मेरे नेत्र कृतार्थ हो गए, इन नेत्रों ने आप जैसे मोक्षगामी ऋषि का दर्शन किया। चतुर्गति रूप भव-वन में परिभ्रमण करता हुआ मेरा मनुष्य जन्म आज कृतार्थ हो गया। इस प्रकार केवली भगवान् की स्तुति करके सुविज्ञ सागरचन्द्र अपने योग्य स्थान पर बैठ गया। गणधर देव अपनी वाणी द्वारा धर्मदान करने लगे। अवनिसेन नृप को प्रमुख करके सर्व भव्य जीवों ने सप्त तत्त्व, नव पदार्थों के स्वरूप को समझा। जीव, अजीव आस्रव, पुण्य, पाप, वन्ध, संवर भावों को जाना॥ ६.७.८.९.१०॥

णिज्जरु मण इंदिय णिग्गहेण, तव साहिय पवर परिग्गहेण॥ ११ ॥
भव भवण णिवारणु मुत्ति ठाणु, वसु कम्म रहिउ वसु गुण णियाणु॥ १२ ॥
पउ सिद्ध सुद्ध संसार मुक्कु, जे पूजहि पावहि पउ विमुक्कु॥ १३ ॥
पुणु भासमि संसारी विहाणु, तस-थावर-गइ हिंडणु णियाणु॥ १४ ॥
ए इंदिय पंचेदिय पजंतु, चउगइ गमु सज्जइ जम्मि वंतु॥ १५ ॥
दुल्लह णर-भउ लहि रयणु अप्पु, हारइ सइ विसइ कसाय दप्पु॥ १६ ॥
अइराइ दोसि वंधइ णियाणु, णारउ तिरियउ हुइ भंडु पाणु॥ १७ ॥
उत्तम-कुलधम्मु ण लहइ जीउ, पुणु पाइ मणुव-वय भार भीउ॥ १८ ॥
ण वियाणइ णिज्जरु मोक्ख बंधु, अह संचणु पर वंचणु मइंधु॥ १९ ॥
मिच्छत्त अविरइ कसाइ जोइ, जिय दव्व भाव आसउ सु होइ॥ २० ॥
दिढु बंधणु बंधइ अट्ठ भेउ, संसारह कारणु कम्म हेउ॥ २१ ॥
पडिणीउ णाण पुणु विग्घयारि, पंडिय मत्सरु वहु माण धारि॥ २२ ॥
सुय चाउ अहव सुय धार कुद्धु, णिय गूढ गुट्ठि धारइ विरुद्धु॥ २३ ॥

घत्ता— णाणावण्णी णिरु बंधणओ, दंसणि दिट्ठि अवण्णओ।
जिण धम्म सत्थ गुरु संघ जुओ, छायणिं छम्मि ण छिण्णओ॥ ३ ॥

दुवई— जिणवर-भत्ति दाण दय संजमि, रदि दह धम्मि भासिया।
विणय विवेउ हेउ रयणत्तइ, सायार ठिदि पयासिया॥ ३ ॥

गणधर देव कहने लगे—इन्द्रिय और मन के निग्रह से कर्म निर्जरा होती है। हृदयगत उत्कट अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह विमोचन से तप साधना होती है जिससे संसार परिभ्रमण का निरोध होता है और जीव मुक्ति स्थान अर्थात् मोक्ष तत्त्व को उपलब्ध होता है। यह मोक्ष तत्त्व अष्ट कर्मों से रहित तथा अष्ट गुणों का निधान है। यह सिद्ध पद शुद्ध तथा संसार से मुक्त है जो भव्य इस सिद्ध पद की आराधना करते हैं वे इस सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं। इन सात तत्त्व, नव पदार्थों का निर्देश कर अब मैं पुन: संसारी जीव के स्वरूप को कहता हूँ; जो त्रस और स्थावर रूप चतुर्गतियों में भ्रमण करते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक समस्त जीव संसारी जीव हैं। जो चारों गतियों में भ्रमण करते हुए संसार का सृजन करते हैं॥ ११.१२.१३.१४.१५ ॥

संसारी जीव दुर्लभ नर जन्म रूपी रत्न को पाकर स्वकीय विषय--कषाय रूप दर्प में ही इसे हार जाते हैं, खो बैठते हैं। अति राग और अति द्वेष रूप प्रत्ययों के द्वारा कर्म बन्ध करते हैं तथा प्राणों का विघात करके/कदलीघात मरण करके नरक और तिर्यञ्च गति में उत्पन्न होते हैं पुन: कर्म संयोग से मनुष्य जन्म पाकर भी उत्तम कुल और उत्तम धर्म को प्राप्त नहीं करते तथा व्रत को भार स्वरूप समझकर उससे भयभीत रहते हैं। पाप संचय और पर वंचन में मदान्ध जीव न बन्ध तत्त्व को जानता है, न ही निर्जरा और मोक्ष तत्त्व को जानता है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चतु: प्रत्ययों द्वारा जीव के नित्य ही द्रव्यास्रव और भावास्रव होता है॥ १६.१७.१८.१९.२० ॥

यही आस्रव दृढ़ीभूत होकर आठ भेद वाला बन्ध तत्त्व कहलाता है। यह बन्ध तत्त्व संसार का कारण है, कर्म बन्ध का हेतु है। प्रत्यनीक अर्थात् विपरीत ज्ञान विघ्नकारक है; इसे धारण करनेवाला पण्डित मत्सरी/ईर्ष्यालु एवं बहुमानी होता है। ऐसा पण्डित द्रव्य श्रुत से रहित हो या द्रव्य श्रुत का धारक हो क्रोधी होता है एवं वह हृदय में गूढ़ किन्तु विरुद्ध ग्रन्थियों को धारण किए रहता है॥ २१.२२.२३ ॥

घत्ता—ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी कर्म का बन्ध करता हुआ वह जिनधर्म, जिनशास्त्र, जिनगुरु एवं जिनसंघ से दूर-दूर रहता है तथा इनकी छाया में पहुँचकर भी अपने छद्म को छिन्न नहीं करता है॥ ३ ॥

दुवई—गणधर देव ने जिनेन्द्र भक्ति, दान, दया, संयम में अनुराग तथा दश प्रकार के धर्मों का व्याख्यान किया। विनय और विवेक ये दोनों रत्नत्रय के हेतु हैं ऐसा कहकर सागारधर्म की स्थिति को भी प्रकाशित किया॥ ३ ॥

४

पद्धरी— णिय रोइ रुवावण सीलु जासु, पर गुज्झु पयासणु फरिस भासु ॥ १ ॥
बहु सोय सया पर घिप्पमाणु, ऊसओ जिण धम्म णिरोह दाणु ॥ २ ॥
पर-वंचण-सीलु सुधम्म चत्तु, वद सुद साहणि अप्पा विरत्त ॥ ३ ॥
सुपसंसणु भंसणु माय लित्त, उरु सिरु ताडणु सुपसण्ण चित्तु ॥ ४ ॥
दुज्जणु अज्जणु बहु पाव कम्मुं, बंधइ असाद लहि मणुव जम्मु ॥ ५ ॥
गुरु भत्ति सया जिण धम्मलीणु, णिय विहवे पोसइ दुहिय दीणु ॥ ६ ॥
करुणा णिहाणु वइराइ चित्तु, सग खित्ति समप्पइ णाइवित्तु ॥ ७ ॥
उवयार सार चउसंघ दाणु, अकसाउ अराउ अपाउ झाणु ॥ ८ ॥
वद सुद तव भावण भाव जुत्तु, पणतीस वरण जव विहि तिगुत्तु ॥ ९ ॥
बंधइ साया सो मणुव जम्मि, गणहरि वुत्तउ सु जिणेस धम्मि ॥ १० ॥

जिण सिद्धसंघ चेई सुथाणि, गुरु सुइ पंडिय णर सच्च वाणि ॥ ११ ॥
जो णिच्च परम्मुह भत्ति हीणु, खम दम जम संजम दाण दीणु ॥ १२ ॥
मिच्छामय पोसण दोहयारि, उवमग्ग पयासण माय धारि ॥ १३ ॥
तव वय पालण सु विरोह चित्त, अइ पावे संचइ बहुल वित्तु ॥ १४ ॥
पर पीड कयायरु धम्म णासु, किर दंसण मोहणि बंधु तासु ॥ १५ ॥
दुव्वार राइ दोसहि पवीणु, अइ तिव्व कसाए काय खीणु ॥ १६ ॥
विसयहुं वावार दुरंत मोहु, हिय मद्दव अज्जव पवर दोहु ॥ १७ ॥
बंधइ चरित्त मोहणि णियाणि, भव भमण सीलु सइ दुट्ठु पाणि ॥ १८ ॥
आरंभि परंभि सहरिसमाणु, अइपवर परिग्गहु रुद्दज्झाणु ॥ १९ ॥
संसत्तु वसण सग वहुल पाउ, सो संक ण मण्णइ दिंतु घाउ ॥ २० ॥
मंसासी णिद्दउ किण्ह लेसु, णिरयाउय वंधइ णरु किलेसु ॥ २१ ॥
माइल्लु ससल्लु सराइ रत्तु, तव वय संजमि समभाव चत्तु ॥ २२ ॥
सदसील धम्म पह णासयारि, अहाणु अमग्ग अहम्मकारि ॥ २३ ॥

पद्धरी—स्वयं रोना और दूसरों को रुलाना है स्वभाव जिनका तथा बहुत शोक करना, सदैव दूसरों को शोक पहुँचाना, जिन धर्मोत्सव एवं दान में रुकावट डालना। दूसरों को ठगना, शील धर्म से रहित होना, व्रत और श्रुत की साधना से अपनी आत्मा को प्रथक् रखना। आत्म प्रशंसा करना, दूसरों की भर्त्सना करना। मायाचार में लिप्त रहना। दूसरों के हृदय और मन को पीड़ा पहुँचाकर प्रसन्न चित्त होना इत्यादि प्रचुर पाप के साथ दुर्जन पुरुष मनुष्य जन्म पाकर भी असाता वेदनीय कर्म का बन्ध करते हैं॥ १.२.३.४.५॥

जो गुरुभक्ति एवं जिनधर्म में सदैव सल्लीन रहते हैं। अपने वैभव से दीन-दुखियों का परिपोषण करते हैं; जो करुणा के निधान हैं। जिसके चित्त में निरन्तर वैराग्य भाव रहता है। न्यायोपात्त अपने वित्त को सप्त स्थानों पर समर्पित करते हैं। जो जीवमात्र के उपकारी हैं, चतुर्विध संघ को दान देते हैं। अकषायी है, अरागी है, प्रशस्त कर्मी हैं। धर्म ध्यान में संलग्न हैं। व्रत-श्रुत-तप एवं अनुपेक्षा से युक्त जिनके परिणाम हैं। जो त्रिगुप्तियों सहित विधिपूर्वक पैंतीस अक्षरवाले णमोकार मन्त्र का जप करते हैं, ऐसे जीव मनुष्य जन्म में साता वेदनीय कर्म का बन्ध करते हैं। इस प्रकार जिनेन्द्र प्रणीत धर्म का गणधर देव ने उपदेश दिया॥ ६.७.८.९.१०॥

जो पुरुष जिन अर्हत् (भट्टारक सयोग केवलि और अयोग केवलि जिन) सिद्ध, संघ (ऋषि, मुनि, यति और अनगार) और चैत्यालयादि प्रशस्त स्थानों से गुरु, श्रुति और पण्डित वर्ग के सत्य वचनों से पराङ् मुख होते हैं। इनकी भक्ति विहीन होते हैं। उत्तम क्षमा, इन्द्रिय दमन, यम, संयम पालन करते और दान देने में असमर्थ होते हैं। जिनधर्म से द्रोह करते हैं। मिथ्यात्व का पोषण करते हैं। उन्मार्ग को प्रकाशित करते हैं। मायाचारी करते हैं। तप और व्रत के पालन के प्रति जिसके चित्त में सम्यक् विरोध है। जो अति पाप के माध्यम से प्रचुर धन का उपार्जन करते हैं। दूसरों को पीड़ा पहुँचाते हैं तथा धर्म का विनाश करते हैं, ऐसे जीवों को निश्चित ही दर्शन मोहनीय कर्म का बन्ध होता है॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

दुर्वार अर्थात् जिसका निवारण कठिन है, ऐसे राग-द्वेष में जो प्रवीण हैं। अति तीव्रकषाय से जो क्षीण देही हैं। विषय व्यापारी हैं, जिसका अन्त पाना ही दुर्वार है ऐसा जिनका दुरन्त मोह है। जिसके हृदय में मार्दव और ऋजुता से प्रकृष्ट द्रोह है ऐसे जीव निश्चित ही चारित्र मोह का बन्ध करते हैं तथा ऐसे दुष्ट प्राणी भव-भवान्तर में स्वयं ही भटकते फिरते हैं। जो जीव हिंसा जन्य कार्य आरम्भ करके हर्षित होता हुआ अत्युत्कट परिग्रह संचय से रौद्र ध्यान करता है॥ १६.१७.१८.१९.२०॥

'सप्त व्यसनों में बहुत पाप होता है', ऐसी शंका नहीं करता हुआ व्यसनों में संसक्त रहता है जीवों का घात करता है। जो मांस भक्षी, निर्दयी, कृष्ण लेश्या वाला है ऐसा जीव अति संक्लेश भाव से नरकायु का बन्ध करता है। मायाचारी, शल्य युक्त, रति राग में आरक्त, तप, व्रत, संयम और समता भाव से च्युत है। सद्शील और धर्म मार्ग का नाशक है, अघकारक उन्मार्गी एवं अधर्मकारी है॥ २१.२२.२३॥

घत्ता—अइ-कुडिल-चित्त अविरत्त गुणो, धम्म पहावण दोहिओ।
सो तिरिय आउ बंधइ मणुओ, इंदिय पोसण लोहिओ॥ ४॥

दुवई—संजम सील हीण सुह भावण, मज्झिम गुणिसु रत्तओ।
दाण रसिल्लु सया सुह भावण, तणु कसाइ गुरु भत्तओ॥ ४॥

५

पद्धरी— मणुयाउ पबंधइ मणुअ जम्मि, किर पर गुण गहण सुहउ धम्मि॥ १॥
पुणु भणमि देव वंधण विदांणु, अणुवय महवय तव पहि पहांणु॥ २॥
अह बाल तवसि णिज्जर अकाम, सम दंसण धरु सुरु होइ ताम॥ ३॥
मायावी अइ गारव गहिल्लु, मण वयण काय वंकुड रसिल्लु॥ ४॥
अइ दुट्ठु दया दह धम्मि चत्तु, पर वंचण सीलु सुराइ रत्तु॥ ५॥
पर दोस गवेसणु धम्म हीणु, अविवेय परायणु पाव लीणु॥ ६॥
अविहाण असुह वंधणु वियाणि, विवरीउ पवंधइ सुहु णियाणि॥ ७॥
अज्जउ अकसाउ सराउ धम्मि, गुरु भत्ति कयायरु सकुल कम्मि॥ ८॥
सिद्धंत सुत्त रुइ देव भत्तु, णिरु विसय कसाय पमाय चत्तु॥ ९॥
तिह उच्चगोइ वंधण सुहाउ, विवरीय णीउ साहणु सपाउ॥ १०॥

पंचासव सत्तु कसाइ रत्तु, जिण धम्म विग्घयरु विसय सत्तु॥ ११॥
दाणाइ लाह पर वंचणीउ, णरु अंतराइ वंधइ सुकीउ॥ १२॥
पर पीडणु पाणी घाउ पाउ, पर उवयारे सुह कम्म भाउ॥ १३॥
किर पाव पुण्ण, दुह सुह फलाइ, णिरयावणि सग्गि णिवासु ताइ॥ १४॥
कोहे पंचाणणु णरइ वासु, माणे रासहु तणि सहइ तासु॥ १५॥
माया तिरयंचु णिहीणु होइ, किम कउसिउ कीड णियाणि सोइ॥ १६॥
लोहेण भुयंगमु दुट्ठु जीउ, दुह सलिलिय मज्जइ भवि सईव॥ १७॥
इय जाणि करिज्जइ सुकिय कम्मु, मण वय पीणिज्जइ णिच्च धम्मु॥ १८॥

घत्ता—जिसके चित्त में अति कुटिलता है। जो अविरक्त अर्थात् वैराग्य भाव रहित है। सद्गुण और धर्म प्रभावना से द्रोह रखता है, इन्द्रिय लम्पट है ऐसा मनुष्य तिर्यंचायु का बन्ध करता है॥ ४॥

दुवई—जो संयम और शील से व्यतिरिक्त है। शुभ भावी है, मध्यम गुण अर्थात् न तीव्र न मन्द कषाय भाव से युक्त है। दान रसिक है, सदा शुभ भावना रखता है, अल्प कषायी है और गुरु का भक्त है॥ ४॥

५

पद्धरी—जो परगुण ग्राही है, शुभ धर्मी है ऐसा जीव मनुष्य जन्म में ही मनुष्यायु का बन्ध करता है। अब मैं देवायु के बन्ध भूत कारणों को कहता हूँ। अणुव्रत, महाव्रत और तप मार्ग देवायु के बन्ध में प्रधान कारण हैं अथवा बाल तपस्वी, अकाम निर्जरा करनेवाला और सम्यग्दर्शन का धारक जीव इन्हीं कारणों से देवों में उत्पन्न होता है। मायावी, अति गारव (रस गारव, सात गारव एवं ऋद्धि गारव) से ग्रहीत चित्तवाला, मन, वचन और काया कुटिलता प्रिय, अत्यन्त दुष्ट, दया और दश धर्म से च्युत, परवंचन शील, सुरादि में अनुरक्त, परछिद्रान्वेषी, धर्म विहीन, अविवेक परायण एवं पाप में संलीन जीव इन्हीं कारणों से अशुभ नामकर्म का बन्ध करते हैं, इन समस्त कारणों से विपरीत हेतुओं द्वारा शुभ नामकर्म का बन्ध होता है॥ १.२.३.४.५.६.७॥

आर्जव, अकषाय, सराग धर्म/संयम, गुरु भक्ति एवं गुरुजनों का आदर रूप कर्म, कुलीन घरों के योग्य शुभ कर्म, सिद्धान्त सूत्रों में रुचि, देव भक्ति; विषय-कषाय और प्रमाद से राहित्य इन सर्व प्रत्ययों के द्वारा उच्च गोत्र एवं शुभायु का बन्ध होता है तथा इससे विपर्यय पाप रूप हेतुओं से नीच गोत्र और अशुभायु का बन्ध होता है॥ ८.९.१०॥

पंचास्रव—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग रूप पंच रिपु, कपाय अनुरक्तता जिनधर्म में विघ्न करनेवाले कारण, इन्द्रिय विषय रूपी शत्रु तथा 'परवंचन रूप' प्रत्ययों के द्वारा मनुष्य दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य रूप पंच अन्तराय कर्म का बन्ध करता है। परपीड़न अर्थात् दूसरों को कष्ट पहुँचाना और प्राणों का घात करना पाप है तथा परोपकार रूप भाव शुभ कर्म है। पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख है। इन पाप-पुण्य से जीव क्रमशः नरक भूमि और स्वर्ग निवास प्राप्त करता है॥ ११.१२.१३.१४॥

यह जीव क्रोध से क्रूर सिंह होकर नरक जाता है। मान से गधे का शरीर धारण कर दुःख सहता है। मायाचारी से क्षुद्र/हीन कृमि, कौशिक (उल्लूक), कीट जैसा तिर्यञ्च होता है। लोभ से जीव दुष्ट भुजंग होता है तथा संसार के दुःख रूपी जल में सदैव डूबता रहता है। इस प्रकार जानकर हे भव्य जीवों! सुकृत कीजिए एवं मन, वचन से नित्य ही धर्म से प्रीति कीजिए॥ १५.१६.१७.१८॥

घत्ता—अइ-कुडिल-चित्त अविरत्त गुणो, धम्म पहावण दोहिओ।
सो तिरिय आउ बंधइ मणुओ, इंदिय पोसण लोहिओ॥ ४॥

दुवई—संजम सील हीण सुह भावण, मज्झिम गुणिसु रत्तओ।
दाण रसिल्लु सया सुह भावण, तणु कसाइ गुरु भत्तओ॥ ४॥

५

पद्धरी— मणुयाउ पबंधइ मणुअ जम्मि, किर पर गुण गहण सुहउ धम्मि॥ १॥
पुणु भणमि देव वंधण विदांणु, अणुवय महवय तव पहि पहांणु॥ २॥
अह बाल तवसि णिज्जर अकाम, सम दंसण धरु सुरु होइ ताम॥ ३॥
मायावी अइ गारव गहिल्लु, मण वयण काय वंकुड रसिल्लु॥ ४॥
अइ दुट्ठु दया दह धम्मि चत्तु, पर वंचण सीलु सुराइ रत्तु॥ ५॥
पर दोस गवेसणु धम्म हीणु, अविवेय परायणु पाव लीणु॥ ६॥
अविहाण असुह वंधणु वियाणि, विवरीउ पवंधइ सुहु णियाणि॥ ७॥
अज्जउ अकसाउ सराउ धम्मि, गुरु भत्ति कयायरु सकुल कम्मि॥ ८॥
सिद्धंत सुत्त रुइ देव भत्तु, णिरु विसय कसाय पमाय चत्तु॥ ९॥
तिह उच्चगोइ वंधण सुहाउ, विवरीय णीउ साहणु सपाउ॥ १०॥

पंचासव सत्तु कसाइ रत्तु, जिण धम्म विग्घयरु विसय सत्तु॥ ११॥
दाणाइ लाह पर वंचणीउ, णरु अंतराइ वंधइ सुकीउ॥ १२॥
पर पीडणु पाणी घाउ पाउ, पर उवयारे सुह कम्म भाउ॥ १३॥
किर पाव पुण्ण, दुह सुह फलाइ, णिरयावणि सग्गि णिवासु ताइ॥ १४॥
कोहे पंचाणणु णरइ वासु, माणे रासहु तणि सहइ तासु॥ १५॥
माया तिरयंचु णिहीणु होइ, किम कउसिउ कीड णियाणि सोइ॥ १६॥
लोहेण भुयंगमु दुट्ठु जीउ, दुह सलिलिय मज्जइ भवि सईव॥ १७॥
इय जाणि करिज्जइ सुकिय कम्मु, मण वय पीण्णिज्जइ णिच्च धम्मु॥ १८॥

घत्ता—जिसके चित्त में अति कुटिलता है। जो अविरक्त अर्थात् वैराग्य भाव रहित है। सद्गुण और धर्म प्रभावना से द्रोह रखता है, इन्द्रिय लम्पट है ऐसा मनुष्य तिर्यंचायु का बन्ध करता है॥ ४॥

दुवई—जो संयम और शील से व्यतिरिक्त है। शुभ भावी है, मध्यम गुण अर्थात् न तीव्र न मन्द कषाय भाव से युक्त है। दान रसिक है, सदा शुभ भावना रखता है, अल्प कषायी है और गुरु का भक्त है॥ ४॥

५

पद्धरी—जो परगुण ग्राही है, शुभ धर्मी है ऐसा जीव मनुष्य जन्म में ही मनुष्यायु का बन्ध करता है। अब मैं देवायु के बन्ध भूत कारणों को कहता हूँ। अणुव्रत, महाव्रत और तप मार्ग देवायु के बन्ध में प्रधान कारण हैं अथवा बाल तपस्वी, अकाम निर्जरा करनेवाला और सम्यग्दर्शन का धारक जीव इन्हीं कारणों से देवों में उत्पन्न होता है। मायावी, अति गारव (रस गारव, सात गारव एवं ऋद्धि गारव) से ग्रहीत चित्तवाला, मन, वचन और काया कुटिलता प्रिय, अत्यन्त दुष्ट, दया और दश धर्म से च्युत, परवंचन शील, सुरादि में अनुरक्त, परछिद्रान्वेपी, धर्म विहीन, अविवेक परायण एवं पाप में संलीन जीव इन्हीं कारणों से अशुभ नामकर्म का बन्ध करते हैं, इन समस्त कारणों से विपरीत हेतुओं द्वारा शुभ नामकर्म का बन्ध होता है॥ १.२.३.४.५.६.७॥

आर्जव, अकषाय, सराग धर्म/संयम, गुरु भक्ति एवं गुरुजनों का आदर रूप कर्म, कुलीन घरों के योग्य शुभ कर्म, सिद्धान्त सूत्रों में रुचि, देव भक्ति, विषय-कषाय और प्रमाद से राहित्य इन सर्व प्रत्ययों के द्वारा उच्च गोत्र एवं शुभायु का बन्ध होता है तथा इससे विपर्यय पाप रूप हेतुओं से नीच गोत्र और अशुभायु का बन्ध होता है॥ ८.९.१०॥

पंचास्रव—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग रूप पंच रिपु, कषाय अनुरक्तता जिनधर्म में विघ्न करनेवाले कारण, इन्द्रिय विषय रूपी शत्रु तथा 'परवंचन रूप' प्रत्ययों के द्वारा मनुष्य दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य रूप पंच अन्तराय कर्म का बन्ध करता है। परपीड़न अर्थात् दूसरों को कष्ट पहुँचाना और प्राणों का घात करना पाप है तथा परोपकार रूप भाव शुभ कर्म है। पाप का फल दु:ख और पुण्य का फल सुख है। इन पाप-पुण्य से जीव क्रमशः नरक भूमि और स्वर्ग निवास प्राप्त करता है॥ ११.१२.१३.१४॥

यह जीव क्रोध से क्रूर सिंह होकर नरक जाता है। मान से गधे का शरीर धारण कर दु:ख सहता है। मायाचारी से क्षुद्र/हीन कृमि, कौशिक (उल्लूक), कीट जैसा तिर्यञ्च होता है। लोभ से जीव दुष्ट भुजंग होता है तथा संसार के दु:ख रूपी जल में सदैव डूबता रहता है। इस प्रकार जानकर हे भव्य जीवों! सुकृत कीजिए एवं मन, वचन से नित्य ही धर्म से प्रीति कीजिए॥ १५.१६.१७.१८॥

तदणंतरि लवइ मइंकलेह, सामिय अवच्छ कारणु सणेह ॥ १९ ॥
जम्मंतर वइयरु कहहि मज्झु, केवलि अग्गइ किर किं असज्झु ॥ २० ॥
गणहरु पडिहासइ भरह खित्ति, सीहउरि अविहाणे विचित्ति ॥ २१ ॥
जुइ रयण कणइ मइ धाम जत्थ, हरिसेणु णराहिय पयडु तत्थ ॥ २२ ॥
जिणसेणा सुंदरि जणिउ पुत्तु, सु अणंगकुमारु पडुच्च वुत्तु ॥ २३ ॥
तह सुत्तकण्ठु णामेण कामु, रइसेणा माहणि रमणु दामु ॥ २४ ॥
तिह पुत्तु उवण्णउ अइ सदप्पु, कंदप्पु णामि वहिरप्प थप्पु ॥ २५ ॥

घत्ता— सत्थत्थ सगव्विरु पाव णिही, कुल कलमय मत्तउ रायंधओ।
णिवणंदण सुहिउ सयास गुणी, हिंढ़णसीलु विरोहु संबंधओ ॥ ५ ॥

दुवई— बहु विज्जा संपण्ण सलक्खणु, रक्खणु सो ण पाणिया।
तिणमिव गिणइ अवणि जेमु मणस, माणी मायावणिया ॥ ५ ॥

६

पद्धरी— महिणाह तणुब्भव सम सणेहु, मणु इक्कु पवट्टइ भिण्ण देहु ॥ १ ॥
सम सीलु अहोणिसि भमण भाउ, ते विण्णि णयरि पर रमणि राउ ॥ २ ॥
पुर वीथी हिंढहि इक्क सत्थि, आहरण विहूसण सुहम वत्थि ॥ ३ ॥
जणु पिक्खिय मोहइ तत्थ सव्वु, गिरि माणिण णिवडिउ कोस गव्वु ॥ ४ ॥
तदणंतरि तावसु इक्कु आउ, किस-कायु अराउ महाणु भाउ ॥ ५ ॥
सयकित्ति विहाणे वंभयारि, सत्थत्थ कुसलु पावापहारि ॥ ६ ॥
अइ घोर वीरु तव तावियंगु, विणु पोत्थइ वत्थ ण तणिय संगु ॥ ७ ॥
पर रमणि परम्मुह भाव सुद्ध, तीयइ दिणि पाणु करइ सु-दुद्ध ॥ ८ ॥
पय पाणे पाणी असण चत्तु, पुरयण तिंह जायउ सयलु भत्तु ॥ ९ ॥
वायरण विज्जलंकार सारु, छंदायम तक्क वियार चारु ॥ १० ॥

तदनन्तर मृगांकलेखा कहती है—हे स्वामिन्! हम दोनों के स्नेह का अवश्य ही कोई कारण होगा अत: आप मुझसे हमारे भवान्तर कहिए। केवली के सम्मुख क्या असाध्य है। गणधर कहते हैं—भरत क्षेत्र में सिंहपुर नामक विचित्र नगरी है, जहाँ के स्वर्णमय भवन एवं रत्नों से जड़ित हैं। वहाँ हरिषेण नाम का विश्रुत राजा था। उनकी जिनसेना नामक सुन्दर पत्नी के संयोग से अनंगकुमार नामक पुत्र का जन्म हुआ। उसी नगरी में 'काम' नामक सूत्रकण्ठ अर्थात् ब्राह्मण था उसकी ब्राह्मणी रतिसेना नामक सुन्दर पत्नी थी। इन दोनों के अत्यन्त गर्वीला पुत्र उत्पन्न हुआ। हृदय से दर्पवान होने के कारण बाहर से भी उसका नाम कन्दर्प रखा गया॥ १९.२०.२१.२२.२३.२४.२५॥

घत्ता—शास्त्रार्थ करनेवाला वह अभिमानी पाप निधि स्वरूप था। कुल का कलंक था। मतवाला, रागान्ध था। गुणवान नृप नन्दन अनंगकुमार उसका अत्यन्त समीप का मित्र था। दोनों विरुद्ध स्वभावी होते हुए घुमक्कड़ प्रकृति के थे॥ ५॥

दुवई—वह मानी, मायावी, बहुविद्या सम्पन्न सुलक्षण होते हुए भी जीवों की रक्षा नहीं करता था तथा पृथ्वी पर जितने भी प्राणी थे उन सबको तृणवत् तुच्छ समझता था॥ ५॥

६

पद्धरी—राजपुत्र के साथ उसका बड़ा स्नेह था। वे दोनों मन से एक तन से पृथक्-पृथक् थे। वे दोनों ही घुमक्कड़ स्वभाव के थे अस्तु नगरी में रात्रिन्दिन घूमते हुए पर नारियों से रमण करते थे। सुन्दर आभूषण-विभूपण, झीने सूक्ष्म वस्त्रों को धारण कर वे दोनों एक साथ नगर की वीथियों में घूमा करते थे। जो इन दोनों को देखते वे सभी इन पर मोहित हो जाते थे और उनका गर्व कोष अभिमानरूपी पर्वत से गिर जाता था॥ १.२.३.४॥

कुछ समय पश्चात् उसी सिंहपुरी नगरी में एक तपस्वी आया, जो अति कृशकाय, उत्कृष्ट परिणामी एवं राग से अति दूर था। 'शतकीर्ति' नाम का वह ब्रह्मचारी तपस्वी शास्त्रार्थ करने में कुशल एवं पापापहारी था। अति दुर्द्धर, घोर और वीर तप से जिसके अंग तप्त थे जिसके साथ न कोई ग्रन्थ था, न ही शरीर पर कोई वस्त्र था। वह शुद्ध स्वभावी पर स्त्रियों से पराङ्मुख तृतीय दिन दुग्ध मात्र से पारणा करता था। दुग्ध ग्रहण कर वह भोजन और जल का भी त्याग कर देता था। सारे पुरवासी उस तपस्वी के भक्त हो गए। व्याकरण, विद्यालंकार, छन्द, आगम, तर्क का श्रेष्ठ और सुन्दर विचारक यानी ज्ञाता था॥ ५.६.७.८.९.१०॥

बहु चट्टवग्गु णर णारि जासु, उवयेसु लहेविणुं तवसि तासु ॥ ११ ॥
जणु जाउ विवहु वहु तिंह पसाइ, कंदप्पु सदप्पउ णियडि थाइ ॥ १२ ॥
पडिहासइ अलियु कसांय रत्तु, रे तावस! संधि समास चत्तु ॥ १३ ॥
सुद्धक्खरु होइ ण तुज्झ वाय, किं गव्वहि एवहि इत्थु आय ॥ १४ ॥
खम धारु ण धारइ मणि विरुद्ध, पडिहासइ अम्ह गिरा असुद्ध ॥ १५ ॥
बंभणु तावस णिंदइ अयाणु, दिढ पाव कम्म वंधइ णियाणु ॥ १६ ॥
कालंतरि वंभणु णयरि कोइ, किर पउमदेउ अविहाणि सोइ ॥ १७ ॥
पउमा पणयणि सम रत्त चित्तु, सु तियाल कुसलु तिट्ठइ पवित्तु ॥ १८ ॥
तणया तिय तासु उवण्ण दच्छि, छणइंदवत्ति णं वीय लच्छि ॥ १९ ॥
कमला ललियंगि अणंगि छित्त, णावइ णर मारण भल्लि घित्त ॥ २० ॥
सुंदरि सरूव गइ जिय मराल, णं णाइ कण्ण अच्छरि गुणाल ॥ २१ ॥
णव जुव्वण गव्विर विप्प धूव, सा वाल विहव विहवसि पहूव ॥ २२ ॥

घत्ता— णिम्मल चित्ति पवित्त वरो, भत्ति भाइ जणि ते महियओ।
सो तावसु कमला विप्प सुया, दाण माणि राहइ अहियओ ॥ ६ ॥

दुवई— बंभणु रुद्ददत्तु तिंह णयरी, तरुण सरूवि सुंदरो।
रत्तउ सत्त वसणि णिसिवासरि, किरिया कम्मि णिद्दिरो ॥ ६ ॥

७

पद्धरी— सो इक्क दिवसि णिसि चोर वित्ति, तत्थाउ सु-कमला सयण खित्ति ॥ १ ॥
सा जग्गइ विरहाउर सदुक्ख, ससणेही पीडणु मोउ मुक्ख ॥ २ ॥
तिय जंपइ हा विहणा महु ण सिज्ज, सिज्जसि ता महु णर भउ ण दिज्ज ॥ ३ ॥
जय मणव जम्मि लब्भइ विजोउ, ता झत्ति सिमंतिणि मरणु होउ ॥ ४ ॥
विहवसि जयगोहु मिलइ सयाणु, तिह सत्थि झडति करउ पयाणु ॥ ५ ॥

उस तपस्वी के उपदेश श्रवण किए बिना ही बहुत से स्त्री-पुरुष उसके शिष्य हो गए। उसकी कृपा से अनेक पुरुप विद्वान हो गए। निकट ही रहनेवाला दर्पशील कषायानुरंजित कन्दर्प उस तपस्वी से झूठा परिहास करता है। वह कहता—रे तपस्वी! प्रतिभासित होता है कि तू सन्धि-समास से रहित है अर्थात् अनभिज्ञ है। तेरी वाणी में शुद्धाक्षर भी नहीं है अर्थात् तू शुद्ध उच्चारण करना भी नहीं जानता फिर यहाँ आकर इस प्रकार गर्व क्यों करता है। वह क्षमाधारी कहता—हाँ हमारे वचन अशुद्ध हैं और अपने मन में किञ्चित् मात्र भी विरोध भाव नहीं रखता है॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

वह अज्ञानी कन्दर्प ब्राह्मण उस तपस्वी की निन्दा करता हुआ कठोर दृढ़ निधत्ति जैसे पाप कर्मों को बाँधने लगा। कुछ समय पश्चात् उसी नगरी में पद्मदेव नाम था जिसका ऐसा एक ब्राह्मण आया। वह त्रिकाल कुशल और पवित्र भावों से वहाँ रहने लगा। वह निरन्तर अपनी पद्मा नामक प्रणयिनी में अनुरक्त रहता था। उस ब्राह्मण दम्पत्ति से एक कन्या उत्पन्न हुई जो अति दक्षा और पूर्ण चन्द्रमुखी थी, जो ऐसी लगती थी मानों दूसरी लक्ष्मी ही हो। उस कमला नामक कन्या के सुन्दर अंग अनंगदेव द्वारा स्पृष्ट/छुए हुए थे, जो ऐसे लगते थे मानों मनुष्यों को मारने हेतु फेंके गए भाले ही हों। सुन्दर स्वरूपवाली उस कन्या ने हंस की चाल को भी जीत लिया था। वह कन्या ऐसी लगती मानों कोई नाग कन्या अथवा गुणशीला अप्सरा हो। वह विप्र सुता नव यौवना होने से गर्व मुक्त थी तथा कर्म संयोग से प्रभूत वैभव की स्वामिनी थी॥ १६.१७.१८.१९.२०.२१.२२॥

घत्ता—वह विप्र कन्या कमला अत्यन्त निर्मल, पवित्र और उत्तम चित्त सहित भक्ति भाव पूर्वक उस लोक पूजित तपस्वी की दान-मानपूर्वक महा आराधना करती थी॥ ६॥

दुवई—उसी सिंहपुरी नगरी में एक तरुण सुन्दर रूपवान रुद्रदत्त नामक ब्राह्मण रहता था, जो क्रिया कर्म का निन्दक था। रात्रिन्दिन सप्त व्यसनों में लिप्त रहता था॥ ६॥

७

पद्धरी—सो एक दिन वह विप्र रुद्रदत्त रात्रि में चोर वृत्ति से लुक-छिपकर वहाँ आया, जहाँ शयनागार में विप्रसुता कमला शयन कर रही थी। वह जाग गई और उस रुद्रदत्त के स्नेह से काम पीड़ित हो हर्ष रहित विरहातुर हो दु:खी हो गई। वह कमला कहने लगी—हा विधाता! मेरे साथ तो ऐसा मत कर अर्थात् मुझे संसार में पुन: मत रच। यदि तू पुन: मेरी रचना करता ही है तो मुझे मनुष्य जन्म मत देना; क्योंकि संसार में मनुष्य जन्म में जीव कहीं वियोग को प्राप्त होता है तो कहीं शीघ्र ही पत्नी का मरण हो जाता है। यदि कर्म संयोग से मुझे कोई विज्ञ पुरुष मिल जाए तो मैं शीघ्र ही उसके साथ प्रस्थान कर जाऊँगी॥ १.२.३.४.५॥

आइण्णि गिरा खणि रुद्ददत्तु, भासइ तवणे हि इत्थ पत्तु ॥ ६ ॥
किव करि मयच्छि रइ राग रंगि, हउ पीडी जंतउ तणि अणंगि ॥ ७ ॥
परसप्पर जाम अलाव जाव, मणु डुल्लिउ णावइ सभर णाव ॥ ८ ॥
कीलणु पीलणु करि अइ सणेहि, ते विण्णि विणिग्गइ झत्ति गेहि ॥ ९ ॥
णं पवणवेय मय तट्ठ णट्ठ, णावइ रवि उग्गमि तिमिरु भट्ठ ॥ १० ॥
णव पिम्म रत्त चित्तेण भग्ग, अवियाणिय सुहि कुढि कोण लग्ग ॥ ११ ॥
अकहिय वत्ता सुविहारु कीउ, सयकित्ति णामि सो तावसीउ ॥ १२ ॥
तद्दिणि वयरु दिय पुत्ति होइ, तावसु णिय ठाणि ण लद्ध सोइ ॥ १३ ॥
पुरि सयल पवर अपवाउ जाउ, आइंदइ कमला माइ ताउ ॥ १४ ॥
कंदप्पु दप्पि जणि वुत्तु भेइ, सयकित्ति गयउ धुव णारि लेइ ॥ १५ ॥

घत्ता— सज्जण विसाउ सुअयंभु मणे, घरि घरि अयसु पवित्थरिओ।
कंदप्प विप्पसम दुज्जणहो, हरिस पूरु णिब्भर भरियओ ॥ ७ ॥

गाथा— जेण इमा एयं चिय, सुस्सूसा संति सयावि दीसंती।
दोण्हंपि एय चित्ते, णिसंसयं एरिसं संजायं ॥ १ ॥

दिय वयणे णं सव्वो, सयकित्ती णिच्चमेव हीलंतो।
त धम्म रम्म कम्मे विरत्त चित्तो जणो जाउ ॥ २ ॥

लंपड्ड मुड्ड मूढ्ढ अहम्मि पावी पाविट्ठ भिट्ठ अणयारी।
तावस रूवि पवंची सव्वे जणि मुणहु अवणि हिडंता ॥ ३ ॥

णिंदहि णिच्च अहम्मि बंभण पमुहाइ राइ पुत्त सया।
विवुह णर णारि सव्वे, कय तुण्ही रहिय अप्पाणं ॥ ४ ॥

मा होहि सवणगाही, जाव ण दिट्ठोसि णयण पच्चक्खं।
पच्चक्खं पुणु दिट्ठं , जुत्ता-जुत्तं वियारेहिं ॥ ५ ॥

पण पुत्त जुत्त कुंती, वहि-जंती पामरी य तह वुत्तं।
एसा णिलज्ज भज्जा, पंचणरा रत्त हीलंता ॥ ६ ॥

कमला के ऐसे वचन सुनकर रुद्रदत्त झट से बोला—मैं आपके स्नेह से ही यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। हे मृगाक्षि! कृपाकर मेरे साथ रति-क्रीड़ा सम्बन्धी राग कर। मेरा शरीर कामदेव की पीड़ा से पीड़ित हो रहा है। इस प्रकार एक प्रहर तक दोनों में वार्तालाप होता रहा, पश्चात् उन दोनों का मन ऐसा डोल गया जैसे भारयुक्त नाविक की नौका डोल जाती है। दोनों ने अत्यन्त स्नेह के साथ रति-क्रीड़ा, स्तन मर्दन आदि क्रियायें की। पश्चात् वे दोनों त्वरा गति से अपने घर से वैसे ही निकल गए जैसे भय से नष्ट हुए मृग पवन वेग से भाग खड़े होते हैं। अथवा जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार भाग जाता है॥ ६.७.८.९.१०॥

नूतन प्रेम की आसक्ति से भग्न हो गया है चित्त जिनका ऐसे वे दोनों मूर्ख बिना जाने ही सुख सहित एक झोपड़ी के किसी कोण में ठहर गए। जिस दिन द्विज कन्या कमला की यह घटना घटी अर्थात् वह रुद्रदत्त के साथ भागी उसी दिन शतकीर्ति नामक तपस्वी नगरवासियों से कहे बिना ही मंगल विहार कर गए। तपस्वी को उसके स्थान पर न पाकर सारी नगरी में महान् अपवाद फैल गया। कमला के माता-पिता रुदन करने लगे। अभिमानी कन्दर्प विप्र लोगों से रहस्यमय बातें करने लगा 'निश्चित ही शतकीर्ति उस स्त्री को लेकर भाग गया है'॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

घत्ता—सज्जनों के मन में स्वयं ही अत्यन्त विषाद और दुःख हुआ। घर-घर में अपयश फैल गया। जो दुर्जन कन्दर्प ब्राह्मण था वह हर्ष रूप जल प्रवाह से पूर्ण रूपेण भर गया अर्थात् अतिशय प्रसन्न हुआ॥ ७॥

गाथा—'इसीलिए वह कमला इस प्रकार की तपस्वी की शुश्रुषा करती हुई निरन्तर देखी जाती थी।' दोनों का एक जैसा मन था, इसीलिए निःसन्देह ऐसा हुआ॥ १॥

इस प्रकार कन्दर्प द्विज के वचनानुसार सकल नर-नारी नित्य ही शतकीर्ति की अवहेलना/निन्दा करने लगे तथा सुन्दर धर्म कार्यों से लोगों का मन विरक्त होने लगा॥ २॥

पृथ्वी पर घूमता हुआ वह लम्पट तपस्वी, मुण्डित शिर, मूढ़ अधर्मी, पापी पापात्मा, अनाचारी, तपस्वी वेश में प्रपञ्ची ठगियाँ था, ऐसा सभी लोग मानने लगे॥ ३॥

उस अधर्मी कन्दर्प ब्राह्मण को आदि लेकर राजपुत्र अनंगसेन तक सभी लोग नित्य ही शतकीर्ति तपस्वी की निन्दा करने लगे। विज्ञ स्त्री-पुरुष सभी ने अपने आपको मौन रहित कर लिया अर्थात् वे भी निन्दा करने लगे कोई भी चुप न रह सका॥ ४॥

जब तक किसी बात को अपनी आँखों से प्रत्यक्ष न देखो, तब तक कानों पर विश्वास करनेवाले अथवा कान के कच्चे मत बनो। यदि प्रत्यक्ष देख भी लो तो युक्तायुक्त/श्रेय-अश्रेय का भी विचार कर लेना चाहिए॥ ५॥

जैसे कुन्ती के पाँच पुत्रों सहित द्रौपदी को बाहर जाती हुई देखकर एक पामरी तिरस्कारपूर्वक कहती है—यह स्त्री निर्लज्ज है जो पाँचों पुरुषों में आसक्त होकर घूम रही है॥ ६॥

अवियाणिय कज्ज गई वुत्त ण जुत्तेण सुट्ठ पुरिसाणं।
काऊ अणत्थदंडं, अकहिय कहि यं सया जेण॥७॥

अण्णदिणे तम्मिपुरे, पत्तो सयमेव तहवि सयकित्ती।
गंतू सह लोएणं कंदप्पो कुट्टिओ गाढं॥८॥

उवसंत मणि सुजाऊ जट्ठी मुट्ठी सुणिवड संघाए।
साहेइ तत्थ सव्वे चिंतंतो कम्म सविवाओ॥९॥

सत्तम दिणम्मि जीहा कुहिया कंदप्प विप्प पावेण।
मरिऊण सारमेऊ, सगवारं जाउ सो दुट्ठो॥१०॥

पुण पुण कुहिया जीहा, पुणु पुणु दुह कूवि उवरि णिवडंता।
कम्मगई सुविचित्ती, मरि वेसत्तणे पत्तो॥११॥

दोहा— विवुहु पुरिसु कंदप्पु दिजु, मरि वेसा सो होइ।
कुलवल विज्जा राजमदु, मणि धारउ मति कोइ॥४॥

कम्म उदइ भव णीच लहि, भुंजि विपाउ अपारु।
तसु गणिका बंधव हुवउ, भव भमि राजकुमारु॥५॥

छणससिमुह दिग-मिग रुचिर, चाल मराल सुवाल।
सा वेसा विहवसि भई, सुंदरि रूवि रसाल॥६॥

गाथा— सा जत्थ जत्थ तरुणी, वित्थारइ तं सुवलिय णेत्ताणि।
णिवडेइ तत्थ तत्थ य, अइ विसमा विसम सर वाडी॥१२॥

कार्य की गति को जाने बिना श्रेष्ठ पुरुषों को उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना श्रेष्ठ नहीं है। जो व्यक्ति सदा अकथनीय बात को कहता है वह अनर्थदण्ड करता है॥ ७॥

अन्य किसी दिन उसी सिंहपुरी नगर में वही शतकीर्ति तपस्वी स्वयं ही आए। दुष्ट कन्दर्प ने लोगों के साथ शतकीर्ति को लाठियों और मुष्टियों से अतिशय रूप से पीटा॥८॥

वह उपशान्त मनवाला होकर वही सभी के सम्मुख गिर पड़ा। सबके समक्ष उसने सत्य बात कही और कर्म के फल पर विचार करने लगा॥ ९॥

पापोदय से सातवें दिन उस कन्दर्प विप्र की जिह्वा दुर्गन्धित हो गई अर्थात् उसे पूति रोग हो गया। वह दुष्ट मरकर सात बार श्वान हुआ॥ १०॥

बार-बार/हर जन्म में उसकी जिह्वा दुगन्धित हो जाती थी। वह बार-बार दु:ख-कूप में गिरता हुआ कष्ट भोगता रहा। कर्म गति बड़ी विचित्र है। सातवीं बार श्वान मरकर वेश्यापने को प्राप्त हुआ अर्थात् कामलता नामक वेश्या हुआ॥ ११॥

दोहा—कन्दर्प ब्राह्मण जैसा विद्वान पुरुष मरकर वेश्या हो जाता है, अत: हे भव्यों! कुल मद, बल मद, विद्या मद एवं राज मद को हृदय में स्थान ही मत दो॥ ४॥

कन्दर्प ने कर्मोदय से नीच कुल में जन्म लिया और अपार कर्म फलों को भोगा। उधर वह अनंगसेन राजकुमार (कन्दर्प का मित्र) भी संसार में परिभ्रमण करता हुआ इसी वेश्या (कन्दर्प के जीव) का भ्राता हुआ॥ ५॥

वह वेश्या कर्म संयोग से सुन्दर, रमणीय, मनहर, रुपवती हुई। उसका मुख पूर्णेन्दु-सम-सुन्दर था। उसके सुन्दर नेत्र मृग जैसे थे तथा उस बाला की गति हंस सदृश थी॥ ६॥

गाथा—वह तरुण वेश्या जहाँ-जहाँ अपने नेत्रों का वलय विस्तारती थी अर्थात् जहाँ-जहाँ दृष्टि डालती थी; वहाँ-वहाँ अति विषम कामदेव के वाणों का समूह गिर पड़ता था॥ १२॥

८

पद्धरी— कउसंवि णयरि णिरु णियडि जत्थ, रुवा अणंगसेणा सुतत्थ ॥ १ ॥
तिह कामलया पुत्ती सरूव, दिग वाणे विंधइ चवल भूव ॥ २ ॥
कलयंठि कंठि णह मणि दिवंत, कलहोय कंति तण तावियंत ॥ ३ ॥
सा सुंदरि णं सुर णाय कण्ण, वर वेस पसंसहि एह धण्ण ॥ ४ ॥
तिह णयरि वसइ जिणयासु सिट्ठि, णिच्चच्चइ जिणु झावइ पमिट्ठि ॥ ५ ॥
विमला पिय जुव्वणि जणिउ पुत्तु, णामे अणंगरुइ रूव जुत्तु ॥ ६ ॥
कमलच्छु दच्छु कल गुण पवीणु, विज्जावल विहर समुद्द मीणु ॥ ७ ॥
जह जह सो सुंदरु मग्गि जाइ, तिहं पिक्खि तरुण गणु पुट्ठि धाइ ॥ ८ ॥
णं कामदेउ णं अमरणाहु, वणि तणरुह सुहगु सुदीह वाहु ॥ ९ ॥
वायरण छंद अवगाहु कव्वु, सिधंतसार गुण जाणु सव्वु ॥ १० ॥

गुरु भत्ति परायणु धम्म लीणु, तरुणत्त णिराइ कसाइ खीणु ॥ ११ ॥
पर रमणि परम्मुहु अइविचित्तु, सत्थत्थ पवर मइ महि पवित्तु ॥ १२ ॥
तं तावस जीउ उवण्णु सोइ, जो आसि खिमा गुणु चत्तु भोइ ॥ १३ ॥
किर कमला कारणि णिरवराही, कुट्टंतु ण कुवियउ मउणि साहि ॥ १४ ॥
परदोस वियारणि मुक्ख गोहु, वणिवर गिह मंडणु हीण कोहु ॥ १५ ॥
तावस विहि तउ करि अज्ज सत्ति सावइ कुलु लद्धउ करुण भत्ति ॥ १६ ॥
सो इक्क दिवसि पहि जंतु संतु, णिय कमि कमि वसुहा दिग णियंतु ॥ १७ ॥
रूवा पिक्खिसु मणि मोउ जाउ, चिरु कम्म वीउ उइयउ सराउ ॥ १८ ॥
परसप्पर दिट्ठि मिलंति जाम, सर पीडिउ वणि सुउ झत्ति ताम ॥ १९ ॥
वेसा किमि णिवडइ तिह कुमार, विहलंघल रूउ णियंत सार ॥ २० ॥

पद्धरी—कौशाम्बी नगरी के निकट जहाँ अनंगसेना नामक वेश्या रहती थी वही उसकी अत्यन्त रूपवती कामलता नामक पुत्री रहती थी, जो अपने चपल नयन रूपी वाणों से राजा को भी बींध देती थी। उस कोयल कण्ठी के नखरूपी मणि दैदीप्यमान थे। उसका शरीर तप्त स्वर्ण के समान दीप्तिवान् था। वह सुन्दरी ऐसी लगती थी मानों सुर कन्या अथवा नागकन्या हो। उसका उत्तम वेश प्रशंसनीय एवं धन्य था॥ १.२.३.४॥

उस कौशाम्बी नगरी में जिनदास नामक सेठ रहते थे। जो नित्य जिनेन्द्रार्चन एवं पंच परमेष्ठी का ध्यान करते थे। उनकी यौवन सम्पन्न विमला प्रिया ने अतिशय रूपवन्त अनंगरुचि नामक पुत्र को जन्म दिया। वह पुत्र कमल दल के समान सुन्दर नेत्रवाला अति निपुण, कला और गुण में प्रवीण था। विद्या, बल और वैभव से वह ऐसा बलशाली था जैसे समुद्र के जल में विचरती मीन बलवती हो जाती है। जिस-जिस मार्ग से वह सुन्दर कुमार अनंगरुचि जाता था, उसे देखने हेतु युवतियों का समूह उसके पीछे-पीछे दौड़ पड़ता था। वह वणिक पुत्र ऐसा लगता था मानों कामदेव हो अथवा अमरपति इन्द्र हो। उसकी भुजाएँ अतिदीर्घ थी। वह सौभाग्यशाली व्याकरण, छन्द, काव्य और सिद्धान्त के सारभूत सर्वगुणों का ज्ञाता था॥ ५.६.७.८.९.१०॥

वह गुरु भक्ति में तत्पर धर्म में संलीन था। तरुणावस्था में ही उसका राग एवं कषाय भाव क्षीण था। जो पर-स्त्रियों से पराङ्मुख था। शास्त्रार्थ करने में पृथ्वी पर जिसकी मनीषा अति पवित्र थी। जो क्षमा गुणी था तथा भोगों से रहित था, उसी तपस्वी (शतकीर्ति) का जीव ही यह अनंगरुचि के रूप में उत्पन्न हुआ। द्विज कन्या कमला के कारण वह निरपराधी शतकीर्ति तापस कूटा-पीटा जाता हुआ भी कुपित नहीं हुआ था। उसने यह सोचते हुए कि 'दूसरों के दोष विचारने वाला पुरुष मूर्ख होता है, वह भले ही श्रेष्ठ वैश्य का गृहमण्डन/तिलक भी क्यों न हो, किन्तु क्रोधी होने से दीन-हीन ही होता है, मौन धारण कर लिया॥ ११.१२.१३.१४.१५॥

उस तपस्वी ने स्वार्जित सामर्थ्य से सविधि तप किया तथा कारुणिक भक्ति द्वारा श्रावक कुल प्राप्त किया। एक दिन वह अनंगरुचि अपने पैरों से पैदल ही मार्ग में आठों दिशाओं को निहारते हुए चल रहा था कि उसके द्वारा वह पर्ण सुन्दरी कामलता (कन्दर्प का जीव) देखी गई। देखते ही उसके मन में प्रमोद उत्पन्न हो गया। पुरातन कर्म बीज के उदित होने से वह कुमार उस सुन्दरी कामलता में सरागावस्था को प्राप्त हुआ। जब दोनों की परस्पर दृष्टि मिली तब शीघ्र ही वणिक पुत्र काम देव के वाणों से पीड़ित हो गया। वेश्या के उत्तम रूप को देखकर व्याकुल शरीरवाला वह कुमार उसके चरणों में गिर पड़ा॥ १६.१७.१८.१९.२०॥

ते मंदिरि विण्णि पइट्ठ तुट्ठि, रइ रस विलासि थिरु थाइ पुट्ठि ॥ २१ ॥
वट्टिय सणेहि ते विण्णि सोइ, पल अंतरु वरिस विजोउ होइ ॥ २२ ॥
चंदण संगे तरु चंदणाइ, वेसा जिणधम्मि थई मणाइ ॥ २३ ॥
सावय वय गिण्हि तजइ वियारु, णिंदइ णिय जम्म सया अयारु ॥ २४ ॥
पंचुंवर हल ति मयार जुत्तु, णिसिभोयणु सा ण करइ पवित्तु ॥ २५ ॥
पणधारि अणुव्वय पाउ छंडि, जीवाजम ठिय णिय करण दंडि ॥ २६ ॥
सइ अण्ण पुरिस तजि सीलु सारु, मणि धारि णिवारइ काम चारु ॥ २७ ॥

घत्ता— सकुला सम तिट्ठइ गेहि सदा, पइ अणंगरुइ सेवइ।
वणि सुउ तजि पाणिगहणु, सगुणो परियण गुट्ठि ण वेवए ॥ ८ ॥

गाथा—वणि सुय अणंगरुइणा, संसग्गेण जिणंद धम्मम्मि।
णिच्चल चित्ता जाया, जीवाणं गई अहो विविहा ॥ १३ ॥

दोहा— काललद्धि पाणी परसि, होइ सदउ णिरु भीलु।
केसरि संजमु संगहइ, वेसा धारइ सीलु ॥ ७ ॥

प्राणी णिकसि णिगोद ते, हुइ णर सिवपुरि जाइ।
गीवकियाइ अभव्व रिसि, चरित मगि धपि धाइ ॥ ८ ॥

चदुगदि घरु छाड़इ नहीं, समकित विना रिसीउ।
दंसण धरु आचार जुत, लोय सिहरि ठिदि ईसु ॥ ९ ॥

आनन्दपूर्वक दोनों वेश्यालय में प्रविष्ठ हुए तथा रतिरस के विलासी उन दोनों ने एक-दूसरे को स्पर्श किया। बढ़ते हुए स्नेह से उन दोनों को एक पल का अनन्तर एक वर्ष के वियोग जैसा प्रतीत होता था। जैसे चन्दन वृक्ष की संगति से अन्य वृक्ष भी चन्दनत्व को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् सुरभित हो जाते हैं, वैसे ही कुमार की संगति से वह रूप सुन्दरी जिन धर्म में स्थिर मनवाली हो गई। विकारों को छोड़कर उसने श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिए और निरन्तर अपने निस्सार वेश्या जन्म की निन्दा करने लगी। तीन मकारों मद्य, मांस, मधु सहित पंच-उदम्बर फलों का भी उसने परित्याग कर दिया। अब वह पवित्रा रात्रि भोजन भी नहीं करती थी॥ २१.२२.२३.२४.२५ ॥

उसने पंचाणुव्रत अंगीकार कर लिए तथा जीवन पर्यन्त के लिए उसने अपनी इन्द्रियों को दण्ड अर्थात् मन-वचन-काय को अशुभ व्यापार से नियन्त्रित कर लिया। उस सती ने अन्य पुरुष का भी त्याग कर उत्तम शील को मन में स्वीकृत कर सुन्दर काम-भाव का निवारण कर दिया॥ २६.२७ ॥

घत्ता—कुलवन्ती नारियों की तरह वह सदैव अपने भवन में ही ठहरती थी तथा अपने पति अनंगरुचि के साथ रमण करती थी। पश्चात् परिजन मण्डली में मेल न होने के कारण वैश्य पुत्र अनंगरुचि ने उस गुणवती का पाणिग्रहण कर परित्याग कर दिया॥ ८ ॥

गाथा—वैश्य पुत्र अनंगरुचि के संसर्ग से वह बाला जिन धर्म में निश्चल चित्तवाली गई थी। अहो! जीवों के गति बड़ी विचित्र है॥ १३ ॥

दोहा—काललब्धिवश किरात जैसा क्रूर प्राणी भी उत्तम संगति से दयावन्त हो जाता है। सिंह जैसा क्रूर जीव संयम धारण कर लेता है और वेश्या जैसी स्त्रियाँ शील धारण कर लेती हैं॥ ७ ॥

यह जीव निगोद से निकलकर मनुष्य हो मोक्ष चला जाता है। चारित्र मार्ग पर चलकर अभव्यसेन जैसा ऋषि भी ग्रैवेयक पहुँच जाता है॥ ८ ॥

सम्यग्दर्शन के अभाव में ऋषिजन भी चतुर्गति रूप घर को नहीं छोड़ते हैं तथा सम्यग्दर्शन जिन्हें प्राप्त हो गया है वे आचरण से युक्त हो ईशत्व प्राप्त कर लोक शिखर पर जा विराजते हैं॥ ९ ॥

पद्धरी— वेसा जणणी मणि करि कसाउ, पुत्ती सम धरइ णियांण भाउ॥ १॥
कुल रीदि सु लोहे सा कुणारि, खणि डज्झइ खणि मणि धम्मुधारी॥ २॥
सवियप्पि मुई को मुणइ भेउ, संसारी जीवहु णत्थि छेउ॥ ३॥
सा अण्ण दिवसि वर वेस णारि, सरवरि करि कीलु कुमइ विचारि॥ ४॥
तिणि मिहुणु मराल विसाल णेत्ति, परसप्पर पिक्खि रमंत खेत्ति॥ ५॥
कवडे णर गिण्हि करइ सु पीउ, हंसी तसु पिक्खि हुई सभीउ॥ ६॥
कुंकुम पिंजरि पंजरिउ देहु, कुवि मुणइ ण भंति मरालु एहु॥ ७॥
तसु करुण रूयंती तिव्व वाल, पुणु पुणु मुच्छंती विरह झाल॥ ८॥
सव्वंग सकंपिर आरडंति, घडिया इगवीस सु णीससंति॥ ९॥
पिय णियडि ण ढुक्कइ पत्ति आइ, दंपइ मदि विब्भमि दूरि थाइ॥ १०॥

खणि हंस गयउ सर मज्झि जाम, हरिणंक सवण्णउ दिट्ठु ताम॥ ११॥
मिलिया मिहुण्णल्लउ पुणु सणेहि, हसि वंधणु वंधिउ णर तणेहि॥ १२॥
ता पच्छइ धारिउ धम्मु तेण, सुह भवि मरि णिरु जाइ जेण॥ १३॥
सु समाहि साहि ठिय पढम सग्गि, इंदाणि होइ जिण धम्मि लग्गि॥ १४॥
सक्कस्स परम संतोसयारि, सा देवि सिरोमणि अइ पियारि॥ १५॥
वासव सम भोइ विलासि रत्त, सुहु साहि अहिउ पुण्णाउ पत्त॥ १६॥

घत्ता— धणयत्त पुत्ति तुहं आइ हुई, छण-ससि-वत्ति विचित्त मई।
तण तत्त समुज्जल कणय छवि, धम्मधुया ससिलेह सई॥ ९॥

गाथा— वंभणु मइंकलेहा, जाया सीलम्मि पत्त जयरेहा।
णिवसुउ अणंगकुमरो, मणिमण्णिय तवसि तं पावं॥ १४॥
भमिऊण भवे जाया, एत्थ सही तुज्झ चित्तलेहासु।
जं दूसिउ तया सो, तेण कलंको तुहं जाऊ॥ १५॥

पद्धरी—कामलता वेश्या की माता अनंगसेना मन में कषाय करके पुत्री के साथ निदान भाव करती है कि इस कुलटा स्त्री ने कुलरीति अर्थात् वेश्यावृत्ति की परम्परा को विनष्ट कर दिया है अत: क्षणैक में वह ईर्ष्या से जल उठती है और क्षण भर में निज चित्त में धर्म धारण करती है। इस तरह विकल्प करती हुई जिनसेना वेश्या यम की अतिथि हो गई। संसारी जीवों के अन्तर्हित रहस्यों का भेद कोई नहीं जानता। किसी एक दिन उस उत्तम कामलता वेश्या ने सरोवर में क्रीड़ा की, पश्चात् उसी सरोवर तट पर परस्पर क्रीड़ा/रमण करते हुए विशाल नेत्रवाले हंस मिथुन को देखकर उसने कुमति विचारी अर्थात् उसके मन में खोटा विचार उत्पन्न हुआ॥ १.२.३.४.५॥

उसने छलपूर्वक नर हंस को पकड़कर पीला कर दिया, जिसे देखकर हंसी किञ्चित् भयभीत हो गई। कुंकुमादि सुगन्धित द्रव्य विशेष से पंजरित अर्थात् रक्तपीत वर्णों से मिश्रित देहवाले उस हंस को कोई भी भ्रान्ति वश यह नहीं मानता था कि यह 'मराल' है। वह हंस बाला अपने पति हंस को न पाकर करुण स्वर में रोती हुई बार-बार मूर्च्छित हो जाती है। विरह-ज्वाला से काँप गया है सर्वांग जिसका ऐसी वह मराली इक्कीस घड़ी तक नि:श्वास छोड़ती हुई आक्रन्दन करती है किन्तु हंसी की दम्पत्ति सम्बन्धी कि यह 'मेरा पति हंस है' ऐसी मति भ्रम हो जाने से वह अपने प्रिय हंस के पास नहीं जाती; उससे दूर-दूर ही भागती है॥ ६.७.८.९.१०॥

हंसी की ऐसी दशा देखकर हंस सरोवर के मध्य जल में चला गया। क्षण भर में उसका वर्ण चन्द्र के समान धवल हो गया जिसे देख दोनों परस्पर मिल गए और स्नेहपूर्वक मिथुन क्रिया में संलग्न हो गए और उस वेश्या ने उस हंस नर के कारण हँसी-हँसी में कर्म बाँध लिया। पश्चात् उसने धर्म को धारण किया और शुभ भाव सहित समाधि मरण कर प्रथम स्वर्ग में इन्द्राणी के रूप में उत्पन्न हुई और जिन धर्म में संलग्न हो गई। वह इन्द्र की परम सन्तोषकारी सर्व देवियों में शिरोमणि अत्यन्त प्रिय थी। इन्द्र के साथ सुखपूर्वक भोग-विलासों में अनुरक्त होकर उसने पूर्णायु को प्राप्त किया अर्थात् आयु पूर्ण की॥ ११.१२.१३.१४.१५.१६॥

घत्ता—पश्चात् प्रथम स्वर्ग से च्युत होकर वह धनसार श्रेष्ठी की पूर्णचन्द्रमुखी, अतिशय बुद्धिमती, तप्त स्वर्ण के समान उज्ज्वल देह और सुन्दराकृति वाली धर्मपुत्री तू सती मृगांकलेखा हुई है॥ ९॥

गाथा—'कन्दर्प' नामक ब्राह्मण कामलता वेश्या की अवस्था में शील को प्राप्त कर उसीके प्रभाव से विजय की रेखा स्वरूप मृगांकलेखा हुआ तथा राजपुत्र अनंगकुमार जो कन्दर्प का मित्र था, जिसने अपने मित्र के कथन पर तपसी शतकीर्ति को पापी समझा था, वह संसार में भ्रमण करता तेरी सखी यह चित्रलेखा हुआ॥ १४.१५॥

णेहो जं च तया, सो णेया तुह तेण दुक्ख पत्थारी।
जाया वहु मइ पावा, सम दुक्खा चित्तलेहाय॥ १६॥

घडिया ज एक्कवीसं, हंसी दुक्खम्मि ठाविया जं च।
वरिसाण इक्कवीसं, विरह दुहं तुज्झ तं जायं॥ १७॥

जो तावसु खमधारो, सुर णर भउ साहि जलहिससि जाउ।
तुह दयओ वणि पुत्तो, वेसा रइ राइ अहियारं॥ १८॥

जो जं करेइ कम्मं, विविह विवायं हणेवि णिय कम्मं।
पालेवि विविह धम्मं, कय सिव सम्मं पयत्तेण॥ १९॥

जा सा रूवा जणणी, पुव्व णियायेण भमिवि तत्था या।
सा पउमा ससिलेहा, भत्तार सु अंवया भणिया॥ २०॥

तत्तो सायर चंदो, मइंकलेहा समं च णर णाहो।
पउरजण सम सुणियं, केवलि गिर धम्मं माहप्पं॥ २१॥

णर णारीयण सव्वे, णमिय कम कमल रिसीवरा तत्थ।
णिव पमुहा सुणि धम्मं, णिय णिय ठाणे गया झत्ति॥ २२॥

दोहा— ससिलेहा णिय कंत सम, धारइ संजमु सारु।
जम्मण मरण जलंजली, दाण सुयणुं भवतारु॥ १०॥

करि तणि तपु सिवपुरि गयउ, सो वणि सागरचंदु।
ससिलेहा सुर-वरु भई, तजि तिय तणु अति णिंदु॥ ११॥

लहि णर भउ णिरवाण पदु, पावसि सुन्दरि सोइ।
कवि सु भगौतीदास कहि, पुणु भव भमणु ण होइ॥ १२॥

सीलु बडा संसार महि, सीलि सरहिं सब काज।
इह भवि परभवि सुहु लहइ, आसि भणहि मुणिराज॥ १३॥

सागर चंद णिवाण गमणं तव दीखा साहणं णाम चउत्तो संधि परिछेड सम्मत्तो

चउत्तो संधि सम्मत्तो

हे पुत्री! तूने तपस्वी को जो दूषण लगाया था उसी पाप के फलस्वरूप तुझे भी कलंकित होना पड़ा। तेरे (कन्दर्प) स्नेह के कारण इस चित्रलेखा (अनंगकुमार राजपुत्र) ने तपस्वी शतकीर्ति को दूषण लगाकर जो पाप बुद्धि की थी, उसके फलस्वरूप तेरे साथ यह चित्रलेखा भी दु:ख को प्राप्त हुई॥ १६॥

हे मृगांकलेखे! तूने इक्कीस घड़ी तक हंसिनी को हंस से पृथक् करके दु:ख में स्थापित किया था, इसी कारण तुझे तेरे पति से इक्कीस वर्ष के वियोग का दु:ख प्राप्त हुआ है॥ १७॥

वह जो क्षमाधारी शतकीर्ति तपस्वी था वह वणिकपुत्र, अनंगरुचि फिर देव और मनुष्य भव प्राप्त करके तेरा पति वणिक पुत्र सागरचन्द्र हुआ है और इसी सागरचन्द्र को ही कामलता वेश्या के साथ रतिराग सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हुआ था॥१८॥

जो जीव जैसा कर्म करता है, वह स्वयं ही अपने कर्मों के विविध विपाकों को नष्ट कर विविध प्रकार के धर्म का पालन कर समीचीन प्रयत्नों के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है॥ १९॥

वह जो वेश्या की माता जिनसेना थी वह पूर्व निदान के कारण भ्रमण करके मृगांकलेखा के भर्ता की माता पद्मा कहलाई॥ २०॥

इस प्रकार भवान्तर श्रवणकर सागरचन्द्र और मृगांकलेखा ने राजा अवनिसेन एवं पुरजनों के साथ केवली युगमन्धर की दिव्य वाणी से धर्म के माहात्म्य को सुना॥ २१॥

नृपति को प्रमुख करके सभी नर-नारीजन धर्मोपदेश श्रवण कर ऋषिवर्य के चरण-कमलों में प्रणाम कर अपने-अपने स्थान लौट गए॥ २२॥

दोहा—सती मृगांकलेखा ने अपने पति के साथ जन्म और मृत्यु को जलांजलि देनेवाले श्रेष्ठ संयम को धारण कर लिया और वे दोनों सज्जन पुरुषों के लिए संसार समुद्र से पार उतारने वाले श्रेष्ठ दान देने लगे अर्थात् रत्नत्रय का उपदेश देने लगे॥ १०॥

वे भव्य श्रेष्ठी सुत सागरचन्द्र अपने शरीर द्वारा तप करके शिवपुर चले गये और मृगांकलेखा अत्यन्त निन्दनीय स्त्री पर्याय को छोड़कर उत्तम देव हुई॥ ११॥

वह सुन्दरी मनुष्य जन्म पाकर निर्वाण पद को प्राप्त करेगी। कवि भगवतीदास कहते हैं—अब उस सती का पुन: संसार में भ्रमण नहीं होगा॥ १२॥

इस संसार में शील ही सबसे बड़ा है, इसी शील से सारे कार्य सधते हैं। शील के द्वारा जीव इहलोक और परलोक में सुख प्राप्त करता है ऐसा श्री मुनिराज कहते हैं॥ १३॥

दुवई—चरिउ मइंकलेह चिरु णंदउ, जाम गयणि रवि ससिहरो।
मंगलयारु हवइ जणि मेइणि, धम्मपसंग हिद करो॥ ७॥

घत्ता—सगदह सय संवद तीद तदा, विक्कमराइ महप्पए।
अगहण सिय पंचमि सोम दिने पुण्ण ठियउ अवियप्पए॥ १०॥

इति श्री पंडित भगवती दास कृत मृगांकलेखा चारित्रं सम्पूर्ण समाप्तम्॥

दुवई—सती मृगांकलेखा का यह पुनीत चरित्र चिरकाल तक जब तक गगन में सूर्य और चन्द्र प्रकाशित हैं तब तक पृथ्वी पर प्राणियों के लिए आनन्दप्रद, मंगलकारी तथा धर्म प्रसंग में वृद्धिकर एवं हितकारी होवें॥ ७॥

घत्ता—मृगांकलेखा चरित्र विक्रम राजा के शासन के सात, दस, सौ यानि सत्रह सौ वर्ष बीत जाने पर शुभ तिथि मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी, सोमवार को निर्विकल्पतः पूर्ण हुआ॥ १०॥

इस प्रकार श्री मृगांकलेखा चरित्र में बुधजनों के चित्त को अनुरंजित करने में सहायक भट्टारक श्री माहेन्द्रसेन मुनि के शिष्य पं. भगवतीदास विरचित सागरचन्द्र का दीक्षाग्रहण, तपसाधन एवं निर्वाण गमन नामक चतुर्थ सन्धि का हिन्दी अनुवाद आचार्यप्रवर श्री शान्ति - वीर - शिव - ज्ञानसागर के शिष्य आचार्य श्री विद्यासागर मुनि के आज्ञानुवर्ती परम शिष्य राष्ट्रसन्त उपाध्याय श्री गुप्तिसागर मुनि द्वारा सम्पूर्ण हुआ।

॥ इति चतुर्थ सन्धि समाप्तम्॥

मइंकलेहा चरिउ ग्रन्थस्थ सूक्तियाँ

विय अक्ख अखोहणि कम्महुं मोहणि गुत्ति तिगुत्ति पयासिया।
लोयहु णिरु गिज्जइ कट्ठे सिज्झइ रिसि जि तुरियं वउ भासिया॥ १.१.२ (घ.)॥

इन्द्रियों में द्वितीय रसनेन्द्रिय, कर्मरूपी अक्षौहिणी/सेना में मोहनीय कर्म, गुप्तियों में तृतीय मनोगुप्ति एवं व्रतों में चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत कष्ट साध्य है, ऐसा लौकिक जन कहते हैं तथा ऋषियों ने भी यही प्रकाशित किया है।

जो चुक्का गुण संपदा चुक्का कित्ति मुहाउ।
जो जणु चुक्का सील तें चुक्का सयल सुहाउ॥ १.१.१ (घ.)॥

जो पुरुष गुण रुपी सम्पदा से चूक गया, समझो वह यश के मुख से वंचित हो गया और जो मनुष्य शील से चूक/स्खलित हो गया वह परमात्म स्वभाव से ही स्खलित हो गया।

णिरु गुणवंतहु काइ ण दिज्जइ १.६.१४

अत्यन्त गुणवान् के लिए क्या नहीं दिया जाता?

वर तुच्छा आउ संसिउ गुणालु १.८.१०

तुच्छ/अल्पायु वाला गुणवन्त भी श्रेष्ठ कहा गया है।

विस संचु बहुवि किंह कज्ज होइ १.८.१२

अधिक विष का संचय करने से क्या कार्य सिद्ध होता है

घिय साउ ण पुज्जइ तिल्लि सोइ १.८.१२

घृत का स्वाद पूजा जाता है, तैल का नहीं।

वर पाइस भोज्जु वरिक्क भव्वु, कोद्दवकण असणि ण णिच्च गव्वु १.८.१३

एक बार सुन्दर क्षीरान्न खाना श्रेष्ठ है किन्तु नित्य ही कोदों का भोजन करने से क्या गौरव?

भुंजुंतु णमंतु णसंतु सुतु, बाला वालउ रिसि झाण जुतु १.९.१
हम्मंतु संतु तसु पवर पाउ, गइ आउह सुहड ण दिंति घाउ १.९.२

भोजन करते हुए का, नमस्कार करते हुए का, पलायन करते हुए का, बालक-बालिका का, ऋषिजनों का एवं ध्यान में युक्त प्राणियों का वध करने में महापाप होता है इसलिए योद्धा पुरुष आयुध ग्रहण कर इनका वध नहीं करते हैं।

असुह कम्म किर बुद्धि कासु? १.९.४

अशुभ कर्मोदय में ऐसी/विपरीत बुद्धि किसकी नहीं होती?

किं किं ण करइ मइ दुट्ठ खुद्द? १.९.५

दुष्ट और क्षुद्र बुद्धि क्या-क्या नहीं करती?

अइ कोहु ण भल्लउ होइ पुत्त १.१०.५

हे पुत्र! अति क्रोध भला नहीं होता।

विणु अवराहे दंडणु अजुत्त १.१०.५

अपराध बिना दण्ड ठीक नहीं होता।

जो कुछ विधि विधनाथ की कौन सकइ तिंह टालि १.१०.२ (दो.)

जो कुछ विधाता की कर्मविधि हैं उसे कौन टाल सकता है।

संपति विपति विजोगु रोग भोगु भावी उदइ।
हरिसु विसादु रु सोगु समान चलई तिंह तणउ॥ १.१०.१ (सो.)॥

हे पुत्र! सम्पत्ति, विपत्ति, वियोग, रोग, भोग, भवितव्यता, उदय, हर्ष, विषाद और शोक सदैव एक से नहीं रहते।

विहवसि जणु णच्चइ लोइ सव्वु १.११.७

संसार में सारे प्राणी कर्माधीन होकर ही नाचते हैं।

धणु गुण विज्जाण वि सत्ति सारु, सुहकम्म उदइ विणु विरु असारु १.११.११

धन, गुण, विज्ञान तथा प्रयोजनभूत शक्ति विशेष ये सभी वस्तुएँ शुभ कर्मोदय के अभाव में निश्चित ही निस्सार हैं।

सिविणइ संपइ किर कवणु गव्वु १.११.७

स्वप्न में प्राप्त हुई सम्पदा पर कौन गर्व करता है

विज्जावलु उज्जमु रुउ सारु, सुंदरि गुणाल अह पुरिसु मारु १.११.८
जणि दइव परम्मुह दुहु किलेसु, दुह पीडिज्जइ णरु असुह लेसु १.११.९

विद्याबल, उद्यम, सुन्दर रुप, सुन्दर गुणशीला स्त्रियाँ, कामदेव जैसा पुरुष ये सब दैव के प्रतिकूल होने पर जीव को दुःख और क्लेश ही उत्पन्न करते हैं। जीव अशुभ लेश्याओं से दुःखी और पीड़ित होता है।

किर कम्मु उदइ छुट्टइ ण कोइ, अइ सवलु णिवलु णर अमरु होइ १.११.१०

निश्चित ही कर्मोदय से कोई भी प्राणी नहीं छूट सकता चाहे वह अति सबल हो या निर्बल, अमर हो या कि नर।

णाहे पडिकूले सुहु ण होइ १.१२.४

नाथ के प्रतिकूल होने पर सुख नहीं होता।

मालति केरे फूल जिउं णिरु णिफलु वणिवासु १.१३.७ (दो.)

जंगल में मालती के पुष्प नितान्त निष्फल हैं।

कम्म उदइ सुहु दुहु हवए १.१३.१३ (घ.)

सुख और दुःख कर्मोदय से ही होते हैं।

इंद णरिंदचंद विज्जाहरे चक्की जिण हरि हलहरा।
कम्म विवाउ उदय णिरु भुंजइ सो यहु कम्मुधरा वरा॥ १.१३.४ (दु.)॥

इन्द्र, नरेन्द्र, चन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती, जिनेन्द्र, नारायण एवं हलधर सभी कर्मफल को भोगते हैं। सच है कर्म ही इस पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ है।

धणु जुव्वण जीवणु संझराउ १.१४.३

धन, यौवन और जीवन सांध्यराग की भाँति क्षणभंगुर हैं।

पिय पुत्त कलत्तसु सिविण भाउ १.१४.३

पति, पुत्र और कलत्र स्वप्न वत् अस्थिर हैं।

विणु अप्प ण अप्पणु अवरु कोइ १.१४.४

अपनी आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा अपना नहीं है।

जिणणामे णासइ अह किलेसु १.१४.१३

जिनेन्द्र भगवान् का नाम पाप और क्लेशों को नष्ट करता है।

कउसिय सिसु मुणइ ण उयउ भाणु १.१४.१४

उल्लु का बच्चा उदित सूर्य को भी नहीं मानता।

णर णारि ण सव्वह इगु पमाणु १.१५.१३

सभी स्त्री-पुरुष एक समान नहीं होते।

सुहु दुहु भुञ्जिइ जिअ अप्पि अप्पु, णिरुदइय उदय किर किं वियप्पु १.१६.१३

जीव अपने आप ही सुख-दुःख भोगता है, निर्दय कर्म के उदय में विकल्प क्या करना।

सुण्हा सासु वइरु चिरु वुच्चइ १.१६.८ (दु.)

सासु-बहु का बैर तो चिरकाल से प्रसिद्ध है।

जाणि सुहकम्म उदय सया सुह संगमु हुइ आइ।
गाडरविंद समूह लखि बालु पिवइ पइ माइ॥ १. १६. १२॥ (दो.)

शुभ कर्म का उदय होने पर अनवरत शुभ पदार्थों का ही समागम होता है, अशुभ वस्तुओं का नहीं, जैसे कि बहुत सी गाडरों के समूह को देखकर भी वालक उनमें से केवल अपनी माँ का दूध पीता है अन्य का नहीं।

हरिबल चक्केसर चंद दिणेसर सुर णर वर पंडिय पवरा।
गणहर रिसिसारा णाण वियारा कम्म उदय णिरु णडहि धरा॥ २.४.४ (घ.)॥

नारायण, बलभद्र, चक्रवर्ती, चन्द्र, सूर्य, देव, राजा, पण्डित प्रवर, गणधर, ऋषीश्वर एवं तत्त्वज्ञानी सभी कर्मोदय से पृथ्वी पर नाचते हैं।

रिद्धि वा हाणी वा गरुयाणं णउण हीण दीणाणं।
महिमा उवरागो वा ससिसूराणं ण ताराणं॥ २.४.३. (गा.)॥

लाभ और हानि का महत्त्व तो बड़े लोगों को ही होता है, न्यून या क्षुद्र दीन-हीनों के साथ नहीं, क्योंकि महिमा यानी उदय और उपराग अर्थात् ग्रहण सूर्य और चन्द्र का ही होता है, ताराओं का नहीं।

पुव्वकय दुक्कियाणं सव्वं भव्वं धुवं होही २.५.५ (गा.)

पूर्व कृत दुष्कृत्य सभी जीवों के साथ लगे रहते हैं।

जुव्वणि जर जम्मि मरण वियाणि, सुहियउ णिरु होइ दुही णियाणि २.८.५

जिस प्रकार यौवन के साथ बुढ़ापा, जन्म के साथ मरण सुनिश्चित है उसी प्रकार सुखी प्राणी नियम से दु:खी होते हैं।

संजोइ विजोयहु इक्क सत्थु, आवइ ण गहिज्जइ को गिहत्थु २.८.६

संयोग-वियोग दोनों एक साथ रहते हैं। ऐसा कौन सा गृहस्थ है जिसे आपत्तियाँ ग्रहण न करती हों।

दंपइ संजोउ विजोउ इत्ति, सियठाणि सवइ दारिद्द सत्ति २.८.७

दम्पत्ति का संयोग वियोग को तथा लक्ष्मी का आस्पद दरिद्रता की शक्ति को उत्पन्न करता है।

सिविणइ सिय दंसणि कवणु दप्पु २.८.८

लक्ष्मी तो स्वप्न में दिखाई देती है अर्थात् स्वप्न जैसी अस्थिर है, उस पर क्या दर्प करना।

ईसरु दारिद्द राउ रंकु, असई आइरु पइवइ कलंकु २.८.९

ऐश्वर्यवान्, दरिद्री, राजा और रंक यदि ये कुस्सिल शील वाले हैं तो इनका आदर पतिव्रता के लिए कलंक की बात है।

अथवा जैसे ऐश्वर्यवान् को दरिद्री का, राजा को रंक का एवं पतिव्रता को व्यभिचारिणी असतियों का आदर कलंक की बात है उसी प्रकार चपल लक्ष्मी का आदर बुद्धिमानों को अशोभनीय बात है।

विहवसि णिरु णडइ सया सयाणु २.८.१०

कर्माधीन सज्जन भी संसार में नट की तरह नाचते रहते हैं।

किर कम्मे कासु ण मलिउ माणु २.८.१०

कर्मोदय से किस जीव का मान मलिन नहीं होता।

किं किं ण कुणइ माया २.८.१२ (ग्रा.)

माया क्या-क्या नहीं करती।

नाथ के प्रतिकूल होने पर सुख नहीं होता।

मालति केरे फूल जिउं णिरु णिफलु वणिवासु १.१३.७ (दो.)

जंगल में मालती के पुष्प नितान्त निष्फल हैं।

कम्म उदइ सुहु दुहु हवए १.१३.१३ (घ.)

सुख और दुःख कर्मोदय से ही होते हैं।

इंद णरिंदचंद विज्जाहरे चक्की जिण हरि हलहरा।
कम्म विवाउ उदय णिरु भुंजइ सो यहु कम्मुधरा वरा॥ १.१३.४ (दु.)॥

इन्द्र, नरेन्द्र, चन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती, जिनेन्द्र, नारायण एवं हलधर सभी कर्मफल को भोगते हैं। सच है कर्म ही इस पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ है।

धणु जुव्वण जीवणु संझराउ १.१४.३

धन, यौवन और जीवन सांध्यराग की भाँति क्षणभंगुर हैं।

पिय पुत्त कलत्तसु सिविण भाउ १.१४.३

पति, पुत्र और कलत्र स्वप्न वत् अस्थिर हैं।

विणु अप्प ण अप्पणु अवरु कोइ १.१४.४

अपनी आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा अपना नहीं है।

जिणणामे णासइ अह किलेसु १.१४.१३

जिनेन्द्र भगवान् का नाम पाप और क्लेशों को नष्ट करता है।

कउसिय सिसु मुणइ ण उयउ भाणु १.१४.१४

उल्लु का बच्चा उदित सूर्य को भी नहीं मानता।

णर णारि ण सव्वह इगु पमाणु १.१५.१३

सभी स्त्री-पुरुष एक समान नहीं होते।

सुहु दुहु भुज्जिइ जिअ अप्पि अप्पु, णिरुदइय उदय किर किं वियप्पु १.१६.१३

जीव अपने आप ही सुख-दुःख भोगता है, निर्दय कर्म के उदय में विकल्प क्या करना।

सुण्हा सासु वइरु चिरु वुच्चइ १.१६.८ (दु.)

सासु-बहु का बैर तो चिरकाल से प्रसिद्ध है।

जाणि सुहकम्म उदय सया सुह संगमु हुइ आइ।
गाडरविंद समूह लखि बालु पिवइ पइ माइ॥ १. १६. १२॥ (दो.)

शुभ कर्म का उदय होने पर अनवरत शुभ पदार्थों का ही समागम होता है, अशुभ वस्तुओं का नहीं, जैसे कि बहुत सी गाडरों के समूह को देखकर भी बालक उनमें से केवल अपनी माँ का दूध पीता है अन्य का नहीं।

हरिबल चक्केसर चंद दिणेसर सुर णर वर पंडिय पवरा।
गणहर रिसिसारा णाण वियारा कम्म उदय णिरु णडहि धरा॥ २.४.४ (घ.)॥

नारायण, बलभद्र, चक्रवर्ती, चन्द्र, सूर्य, देव, राजा, पण्डित प्रवर, गणधर, ऋषीश्वर एवं तत्त्वज्ञानी सभी कर्मोदय से पृथ्वी पर नाचते हैं।

रिद्धि वा हाणी वा गरुयाणं णउण हीण दीणाणं।
महिमा उवरागो वा ससिसूराणं ण ताराणं॥ २.४.३. (गा.)॥

लाभ और हानि का महत्त्व तो बड़े लोगों को ही होता है, न्यून या क्षुद्र दीन-हीनों के साथ नहीं, क्योंकि महिमा यानी उदय और उपराग अर्थात् ग्रहण सूर्य और चन्द्र का ही होता है, ताराओं का नहीं।

पुव्वकय दुक्कियाणं सव्वं भव्वं धुवं होही २.५.५ (गा.)

पूर्व कृत दुष्कृत्य सभी जीवों के साथ लगे रहते हैं।

जुव्वणि जर जम्मि मरण वियाणि, सुहियउ णिरु होइ दुही णियाणि २.८.५

जिस प्रकार यौवन के साथ बुढ़ापा, जन्म के साथ मरण सुनिश्चित है उसी प्रकार सुखी प्राणी नियम से दु:खी होते हैं।

संजोइ विजोयहु इक्क सत्थु, आवइ ण गहिज्जइ को गिहत्थु २.८.६

संयोग-वियोग दोनों एक साथ रहते हैं। ऐसा कौन सा गृहस्थ है जिसे आपत्तियाँ ग्रहण न करती हों।

दंपइ संजोउ विजोउ इत्ति, सियठाणि सवइ दारिद्द सत्ति २.८.७

दम्पत्ति का संयोग वियोग को तथा लक्ष्मी का आस्पद दरिद्रता की शक्ति को उत्पन्न करता है।

सिविणइ सिय दंसणि कवणु दप्पु २.८.८

लक्ष्मी तो स्वप्न में दिखाई देती है अर्थात् स्वप्न जैसी अस्थिर है, उस पर क्या दर्प करना।

ईसरु दारिद्द राउ रंकु, असई आइरु पइवइ कलंकु २.८.९

ऐश्वर्यवान्, दरिद्री, राजा और रंक यदि ये कुस्सिल शील वाले हैं तो इनका आदर पतिव्रता के लिए कलंक की बात है।

अथवा जैसे ऐश्वर्यवान् को दरिद्री का, राजा को रंक का एवं पतिव्रता को व्यभिचारिणी असतियों का आदर कलंक की बात है उसी प्रकार चपल लक्ष्मी का आदर बुद्धिमानों को अशोभनीय बात है।

विहवसि णिरु णडइ सया सयाणु २.८.१०

कर्माधीन सज्जन भी संसार में नट की तरह नाचते रहते हैं।

किर कम्मे कासु ण मलिउ माणु २.८.१०

कर्मोदय से किस जीव का मान मलिन नहीं होता।

किं किं ण कुणइ माया २.८.१२ (ग्रा.)

माया क्या-क्या नहीं करती।

सहसा अणत्थ सत्थं लहंति पावा किमच्छरियं २.९.१४ (गा.)

पापी जीव सहसा ही अनर्थ समूह को प्राप्त करते हैं इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

सीलं किं किं ण साहेई २.९.१५ (गा.)

शील से क्या-क्या सिद्ध नहीं होता ?

संसारि ण के किर मणुव भग्ग २.१०.५

संसार में कौन मनुष्य नष्ट नहीं होता ?

अण्णाण तवे किं कम्म णासु, णिज्जर लहु बंधणु अहिउ तासु २.११.१३

अज्ञान तप से क्या कर्म नाश होते हैं; नहीं, इससे निर्जरा कम, बन्ध अधिक होता है।

णर णाण विहूणे काइगुट्ठि २.११.१४

ज्ञान रहित मनुष्य शरीर की पोटली/गठरी मात्र है।

पय सक्कर जरिय ण होइ पुट्ठि २.११.१४

मनुष्य की पुष्टि घृत और शर्करा मात्र से नहीं होती।

विसियर जिम डंकिए विसय सिट्ठु, चव्वंत लवइ रुइ णिव्वु मिट्ठु २.११.१५
णाणी णर मणइं धम्मसारु, तणु धणु जीवणु जाणइ असारु २.११.१६

विषधर जिसे डसता है उसके विष ही संचित होता है और फिर विषाक्रान्त व्यक्ति रुचिपूर्वक नीम चर्वण करता हुआ उसे मीठा कहता है इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष धर्म को ही सारभूत मानता है तथा तन, धन और जीवन को असार समझता है।

जय देवया वि रक्खइ मंतो तंतो य खित्तवालो य।
मियमाणं पि मणुस्स णर णियरा अक्खया होंति॥ २.११.३० (गा.)॥

यदि देवता, मन्त्र-तन्त्र, क्षेत्रपाल रक्षा करने में समर्थ होते तो मरते हुए उनके आत्मीय जन निश्चित ही अक्षत हो जाते।

असरण जीव सरण रहियओ इंदु कालि कवलिज्जए २.११.११ (घ.)

जीव शरण रहित है चूँकि चन्द्रमा भी काल कवलित हो जाता है।

आयुक्खएण मरणं चक्की हरि रुद्द दंद अहमिंदा २.११.३१ (गा.)

आयु के नष्ट हो जाने पर जीव निश्चित ही मरण को प्राप्त होता है चाहे वह चक्रवर्ती हो, नारायण, रुद्र, इन्द्र अथवा अहमिन्द्र भी क्यों न हो।

सुहि काल जाइ तं जम्म लाहु २.१३.१७

यदि सुखपूर्वक समय बीतता है तो ही जन्म लेने का लाभ है।

संसारु ण जाणइ धम्म सारु २.१३.१९

यह संसार धर्म के सार को नहीं जानता।

सुहि कारणि दिज्जइ अत्थदंडु, सुह कारणि तउ मण इंदि दंडु २.१३.२०

सुख के कारण अर्थदण्ड दिया जाता है और सुख के लिए ही तन, मन और इन्द्रियों का नियमन किया जाता हैं।

समसीले वरं मरणं जीविय हलु पत्ति सया वि अकंलकं २.१३.४१ (गा.)

शील के साथ मर जाना श्रेष्ठ है क्योंकि जीवन का फल सदा निष्कलंक रहने से प्राप्त होता है।

विहवसि काइ ण होइ २.१३.२१ (दो.)

कर्म वश क्या नहीं होता?

पावी पावे खउ जाइ सिग्घ, धम्मी धम्मे तिट्ठइ अविग्घ २.१४.१०

पापी पाप के कारण शीघ्र ही नष्ट हो जाता है तथा धर्मात्मा धर्म के कारण निर्विघ्न तिष्ठा रहता है।

असई दासि णडी णिवमंदिरि वच्चइ सिय लाहो लहो २.१४.१२ (दु.)

धन प्राप्ति की इच्छा से ही आश्रित होकर असती, दासी और नटी राजमन्दिर जाती है।

झत्ति ण सुट्ठु कज्जु २.१५.९

शीघ्रता में कोई कार्य अच्छा नहीं होता।

विणु पिय पय रुवे पडउ वज्जु २.१५.९

पति के बिना प्राप्त पद और रुप पर वज्र पड़े।

णिय बुद्धि वियारे कज्जु होइ २.१५.१०

अपनी बुद्धि के अनुसार विचार करने पर ही कार्य होता है।

किर सिज्झइ अणुसारे असज्झु २.१५.११

बुद्धि अनुवर्तन रूप उपाय से असाध्य कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं।

सहियव्वो कम्म परिपागो २.१५.४९ (गा.)

कर्म का परिपाक भोगना ही चाहिए।

गुरु सव्वावरण विहीणु जोइ२.१६.७

सर्वावरणों से रहित योगी ही गुरु होता है।

घिय कज्जु अज्जु किं पइ असज्झि २.१७.११

क्या आज भी दूध से घृत निकालना असाध्य कार्य है?

अरहंत देउ दय धम्मसारु, णिग्गंथु जईसरु गुरु अमारु २.१८.२३

अरहन्त देव है, दया ही सारभूत धर्म है, निर्ग्रन्थ ही यतीश्वर है तथा कामजेता ही गुरु होता है।

हाडइ जडि सोहइ मणि णिहाणु २.२५.१

मणियों का समूह स्वर्ण में जड़कर ही शोभा पाता है।

किं करभ कलभ सम घडइ जुत्ति २.२५.३

क्या गज शिशु और ऊँट की जोड़ी बनती है।

किं कद्दमि कवल ण उवण हेउ २.२५.७

क्या कीचड़ कमल की उत्पत्ति का कारण नहीं है?

तिय रयणु समीहइ पुरिस हेम २.२५.८

स्त्रीरूपी रत्न पुरुषरूपी स्वर्ण की इच्छा करता है।

जो कूउ खणइ किर परहु कज्जि, सो अप्पणु बूडइ हाणि सज्जि २.२६.८

जो दूसरों को कुआँ खोदता है सो खुद ही उसमें गिरता है, वह अपनी हानि ही तैयार करता है।

पर दाहउ डज्झइ तासु सत्थि २.२६.९

जो दूसरों को जलाता है उसी के साथ वह स्वयं जलता है।

किर कम्मु गइ को सकंइ पिल्लि॥

जो इंद फणिंद णरिंद सव्व ते काल गसि जहि गलिय गव्व॥ २.२६.१४॥

निश्चय ही कर्म की गति को कौन टाल सकता है? जो इन्द्र फणीन्द्र या नरेन्द्र हैं, वे सर्व काल ग्रसित होने से गलित गर्व यानि निरभिमानी हो जाते हैं।

धम्मे जय पावे णर पवाणु २.२६.१७

प्रवीण पुरुष धर्म के द्वारा ही विजय प्राप्त करते हैं।

रत्ति दुगइ दायार सारि सुविरत्ती वे कुल पलयमारि २.१६.१९

स्त्रियों की दो गतियाँ होती हैं यदि वे प्रसन्न रहती हैं तो ही श्रेष्ठ होती हैं अन्यथा विरक्त/रुष्ट हो जाने पर उभय कुलों के लिए प्रलय अथवा मारि स्वरूप हो जाती हैं।

किं पाहण फिट्टइ अयलमेरु ३.२.९

क्या पत्थर अचलमेरु को ध्वस्त कर सकते हैं?

णर हणणि महा अहु मुणहि णाहि ३.२.५

क्या नहीं जानते मनुष्य वध के समान महा पाप नहीं होता?

सव्वह पाणिय णिय पाण वित्तु ३.२.१५

सभी प्राणियों को अपने प्राण ही धन है।

अहोह दुरंतो सया णेहो ३.३.१०(गा.)

अहो! स्नेह बड़ा दुरन्त है।

उवघाइ मरणु जणि णर असोह ३.४.९

नरपुंगवों को अपघात मरण शोभा नहीं देता।

तण धण वित्तं खित्तं, हरि करि णिय देस कोस सव्वत्थं।

जीवियाहिलास तिणमिव गरुयाणं धम्म-कम्मम्मि॥

तन, धन, वैभव, क्षेत्र, सिंह, देश, कोष एवं जीवन की अभिलाषा ये सर्व पदार्थ तृण के समान तुच्छ हैं, केवल एक धर्म-कर्म ही भारी अर्थात् महिमावन्त है।

सीहणि सोवइ णिब्भय णिरुत्त, केसरि किसोरु जिणि जणिय पुत्त ४.१.४

जिन्होंने केशरी पुत्र अर्थात् सिंह शावक जैसे पुत्र को जन्म दिया है निश्चित ही वे नारियाँ ही सिंहनी के समान निर्भय होकर शयन करती हैं।

कि रासहि तणय पसूय सारु णिय पिट्ठि वहइ सा णिच्च भारु ४.१.५

गधे जैसे पुत्रों को जन्मने से क्या प्रयोजन? जो नित्य ही अपनी पीठ पर भार ढोता फिरता है।

किं वंस विड उसरि तासु होइ ४.१.६

क्या विट पुरुषों से वंश की वृद्धि होती है अथवा क्या बंजर भूमि में बीज वृद्धि होती है?

किं कम्म समूहे सिद्ध एक ४.१.१०

क्या कर्म समूह विद्यमान रहने पर सिद्ध पद प्राप्त हो सकता है?

किं तणरुह बहुले विहि अतुट्ठ ४.१.११

क्या असंतुष्ट रखनेवाले बहुत से पुत्रों से कार्य सिद्ध होता है?

संवरु संपद दारिदि अभीर ४.१.१४

जो संवर रूपी सम्पदा से युक्त हैं वे दारिद्र से अभीत हैं।

रज्जे सुविणउ आवइ सुधीर ४.१.१४

धैर्यवानों को आपत्तियाँ तो स्वप्न में भी रुचिकर लगती हैं।

णर जम्मु ण विहलिज्जइ अयत्थि ४.१.१९

व्यर्थ के कार्यों में मनुष्य जन्म निष्फल नहीं करना चाहिए।

संसार असारु ण सारु भोउ, जर जम्मणु मरणु असाहिरोउ ४.१.२०
काले कवलिज्जइ णिच्च जीउ अप्पा परु ण वियाणइ सईउ ४.१.२१

संसार निस्सार है, भोगों में भी सार नहीं हैं। जन्म, मरण और बुढ़ापा तीनों असाध्य व्याधियाँ हैं। जीव नित्य ही काल कवलित हो रहा है तथापि आत्मा और पर पुद्गल के स्वभाव को नहीं जानता।

सिविणउ संजोड विजोड सत्थि, गिहवासु पासु णिरुणारी अत्थि। ४.१.२४

संयोग और वियोग तो स्वप्न में ही प्रशंसनीय माने गये हैं वस्तुतः तो गृहवास और नारी तो बन्धन ही हैं।

संजम सम सुख संभवइ सो णर भवि ते होइ ४.१.३ (दो.)

संयम से समता रुपी सुख उत्पन्न होता है और वह संयम मनुष्य जन्म में ही सम्भव है।

दाणे सिय तप सुर सुहु लहंति, णाणे सिव पद अंतिसु ण भंति। ४.२.२

जीवदान से श्री सम्पदा, तप से स्वर्ग सुख और ज्ञान से अन्तिम शिव पद प्राप्त करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

कोहे पंचाणणु णरइ वासु ४.५.१५

क्रोध से जीव सिंह और नरकावास को प्राप्त होता है।

माणे रासहु तणि सहइ तासु ४.५.१५

मान से गधे का शरीर धारण कर कष्टों को प्राप्त होता है।

माया तिरयंचु णिहीण होइ, किम कउसिउ कीड णियाणि सोइ। ४.५.१६

मायाचारी से जीव क्षुद्र कृमि, कौशिक (उल्लू) और कीट जैसी योनियों में उत्पन्न होता है।

लोहेण भुयंगमु दुट्ठ जीव, दुह सलिलिय मज्जइ भवि सईव। ४.५.१७

लोभ से जीव दुष्ट भुजंग होता है और संसार के दु:ख सागर सदैव डूबता रहता है।

अइ पावे संचइ बहुल वित्तु॥
पर पीड कयायरु धम्म णासु, किर दंसण मोहणि बंधु तासु॥ ४.४.१५॥

जो पाप से प्रचुर धनार्जन करते हैं, दूसरों को पीड़ा पहुँचाते हैं, धर्म का नाश करते हैं वे निश्चित ही दर्शन मोहनीय कर्म का बन्ध करते हैं।

मा होहि सवणगाही, जाव ण दिट्ठोसि णयण पच्चक्खं।
पच्चक्खं पुणु दिट्ठं-जुत्ताजुत्तं-वियोरेहिं॥ ४.७.५॥ (गा.)

जब तक किसी बात को अपनी आँखों से प्रत्यक्ष न देखो तब तक कानों पर विश्वास मत करो अर्थात् कान के कच्चे मत बनो। यदि प्रत्यक्ष देख भी लो तो युक्त-अयुक्त का विचार करना चाहिए।

अवियाणिय कज्ज गई वुत्त ण जुत्तेण सुट्ठ पुरिसाणं।
काउ अणत्थदंडं अकहिय-कहियं सया जेण॥ ४.७.७॥

कार्य के गति को जाने बिना श्रेष्ठ पुरुषों के सम्बन्ध में कुछ भी कहना श्रेष्ठ नहीं है। जो व्यक्ति सदा अकथनीय बात को कहता है वह अनर्थ-दण्ड करता है।

परदोस वियारणि मुक्ख गोह।

दूसरों के दोष विचारने से जीव मूर्ख होता है।

□

मइंकलेहा चरिउ ग्रन्थस्थ

विशिष्ट शब्दों की शब्दानुक्रमणिका (अकरादि क्रम से)

ध्यातव्य—क्रमांकों के सन्दर्भों में प्रथम अंक सन्धि सूचक, दूसरा अंक उसी सन्धि के कडवक छन्द का सूचक तथा तीसरा उस कडवक की पंक्ति सूचक है और उसके आगे लिखा घ. घत्ता, दु. दुवई, गा. गाथा एवं सो. सोरठा सूचक है। तीसरे अंक के आगे यदि घ. दु. गा. सो. है तो वह उसी नम्बर के घत्तादि आदि का सूचक है।

अ

अइराउ अत्यन्त लाल, अति राग १.१५.८

अइरेण अचिरेण, अविलम्ब, शीघ्र, तत्काल १.६.१५

अइसइ अतिशय, महिमा विशेष, चमत्कार २.१७.११

अंग पुव्व अंग-पूर्व (श्रुत के भेद) २.१६.१४

अंतरप्पा अन्तरात्मा, अन्तःकरण, हृदय ३.६.३१ (गा.)

अंतराइ अन्तराय, विघ्न, बाधा, रुकावट, घातिया कर्मों का एक भेद ४.५.१२

अंदोलि हिलाना, झलना, हवा करना १.४.१५

अंसु पवाह अश्रु प्रवाह, अश्रु धारा १.१६.६

अक्क अर्क, सूर्य, अम्बरीष, जगद्दीप, नभमणि, द्युमणि, भास्कर, आदित्य, प्रद्योत, तपनांशु, मार्तण्ड १.२.१०

अक्खहि कहना, कथन करना १.५.३

अक्खया अक्षत, अविनाशीक २.११.३० (गा.)

अकहिय अकथित, बिना कहे ४.७.१२

अकाम कर्म निर्जरा का एक भेद, अकाम, निर्जरा, निष्काम, निष्प्रयोजन ४.५.३

अक्षपक्ष्म पलक, नेत्रों का बाह्य उपकरण २.४.१ (अनु.)

अखौहणि अक्षौहिणी, सेना १.१.२ (घ.)

अग्गइ आगे, अग्र, सम्मुख, समक्ष, सामने ४.५.२०

अघडु अघट, अनहोनी घटना, अप्रिय वृत्त २.१३.२१ (दो.)

अच्छइ तिष्ठना, ठहरना, रुकना २.१.२ (दु.)

अच्छरिय आश्चर्य, कौतुक, विस्मय २.६.६ (गा.)

अज्जव आर्जव, सरलता, ॠजुता, कुटिलता का अभाव ४.४.१७

अज्जिय अर्जिका, आर्यिका, आर्या २.२२.१३

अट्ठमंग शरीर के आठ अंग १.३.४ (गा.)

अठाही ऊसव [अष्टाह्निकोत्सव] अष्ट दिनी महोत्सव—जो नन्दीश्वर पूजन, विधान एवं सिद्धों की महामह पूजा द्वारा सम्पन्न होता है ३.६.१२

अडवि अटवी, बीहड़ वन प्रदेश २.६.९ (गा.)

अणज्ज अनार्य, म्लेच्छ १.१०.३

अणत्थदंड अनर्थदण्ड, श्रावक के व्रतों का एक अतिचार, निष्प्रयोजनीय हिंसक अथवा पापकर्म ४.७.७ (गा.)

अणयारु अनाचारी, विरुद्ध ३.१.४

अणह अनघ, निर्दोष, पवित्र, अक्षत, क्षति रहित ३.३.१७ (गा.)

अणह अनभस्, भूमि, वसुधा

अण्णाण तव अज्ञान तप, मिथ्या तप, बालतप, ज्ञान रहित तप, मूर्खता पूर्ण तप क्रिया, अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानकर किया जाने वाला तपश्चरण २.११.१३

अण्णाहिलास अन्याभिलाषा, दूसरों की अपेक्षा २.१२.७

अण्णारिसु (अन्यादृश) दूसरे के जैसा, अन्यथा, विकल्पतः, इतरथा, वरन्, अपितु, किंवा, नहीं तो २.१२.८

अणिल वायु, समीर, पवन, राक्षस वंशीय एक राजा ३.२.८ (गा.)

अणिमिस अनिमेष, निर्निमेष, अपलक, एकटक ३.६.३३ (गा.)

अणेय अनेक, विविध, नाना ३.६.२

अणुवम [अनुपम] अद्भुत, उपमातीत, अनोखा ३.६.६

अणंगकुमारु अनंगकुमार एक राजपुत्र, कामदेव, मकरध्वज, रतिपति ४.५.२३

अणंगरुइ अनंगरुचि श्रेष्ठी पुत्र ४.८.६

अणिंदु अनिन्द्य, सुन्दर, अतिकमनीय १.१६.२

अत्थुताम अस्तांचल ३.१.१३

अत्थदंडु अर्थदण्ड, जुर्माना २.१३.२०

अताणु अत्राण, रक्षा रहित, अरक्षित ३.१.२१

अतित्त अतृप्त, प्यास न बुझना, अपूर्ण काम, मन न भरना १.२.१३

अत्ति आर्त, पीड़ा, कष्ट, वेदना १.९.५

अदंसणीउ अदर्शनीय १.१५.९

अज्झवसाण अध्यवसानभाव, आत्मपरिणाम २.१८.२०

अपवाउ अपवाद, अयश, निन्दा, अपकीर्ति ४.७.१४

अप्पइ अर्पित करना, सौंपना २.२४.७

अप्पणिलइ आत्म निलय, चेतन भवन २.२३.९

अप्पवत्थु आत्म वस्तु १.१.१२

अब्भछाया [अभ्रच्छाया] मेघच्छाया ४.१.१ (दु.)

अब्भथाणु [अभ्युत्थान] आदर सत्कार, सादर, सम्मानपूर्वक, यथायोग्य विनय ३.७.१३

अब्भुव रुव अद्भुत रुप, अद्वितीय, सौन्दर्य, अनूठा २.८.८. (दु.)

अभग्ग अभागी, भाग्यहीन, दुर्भाग्यशाली २.१९.२६

अभगोच्छाह अभग्न उत्साह, सोत्साह, पूरे उत्साह के साथ ३.३.२१ (गा.)

अभीर [अभीत] निर्भीक, निडर, निर्भय ४.१.१४

अममत्ति अममत्व, निमर्मत्व, ममता रहित २.२.२

अमरी अमर कन्या, अप्सरा, देवकन्या, देवपुत्री, देववधू, देवी, सुरबाला, देवेशी, सुरसुन्दरी, स्वर्गवधू, हूर, दिव्यनारी १.२.९

अम्मावईय देवी, कुलदेवी २.१०.२ (उ.गा.)

अम्ह हम सबको १.५.१४

अमाण अपरिमित, अप्रमेय, असीम १.३.११

अमार कामजेता, ब्रह्मचारी २.१६.१२

अमिद अमृत, दुग्ध, क्षीर, २.२३.२५ (घ.)

अमिय तरंगिणि अमृत तरंग, अमृत लहरी १.२.३ (घ.)

अमियविल्लि अमृतबेल, अमरबेलि, अमरलता, परजीवी वनस्पति, परोपजीवी पादप १.२.२ (घ.)

अमुत्त अमूर्त, अमूर्तीक, स्पर्शादि अष्ट गुण रहित २.१८.२

अमंदु अमन्द, शीघ्र, त्वरा, द्रुतगति ३.१.२०

अयत्थि [अयथार्थ] व्यर्थ, बेकार, नाहक ४.१.१९

अयलमेरु अचल मेरु, पर्वत विशेष, धातकी खण्ड की पश्चिम दिशा का एक प्रसिद्ध पर्वत ३.२.९

अयलु ठासु अचलस्थान, अविनश्वरपद २.२३.१२

अयालि अकाल, अयोग्य काल, दुर्दिन अथवा पूजादि धर्मानुष्ठानों के योग्य काल का अभाव २.१७.७

अरि शत्रु, रिपु, दुश्मन, प्रतिद्वन्दी, विरोधी, बैरी, प्रतियोगी १.१.४

अलाव आलाप, वार्त्तालाप, बातचीत, कथन, चर्चा, सम्भाषण, संगीत में सात स्वरों का सराग उच्चारण, तान १.८.१५

अलियु अलीक, मिथ्या, ऋत, झूठ, असत्य ४.६.१३

अवगण्णिय अवगणना, अनादर करना, निरादर, अवहेलना, अवज्ञा १.१३.३२ (गा.)

अवजसु अपयश, अकीर्ति, बदनामी, कुख्याति, अपकीर्ति ३.१.१५

अवच्छ अवश्य, नियमत: ४.५.१९

अवणिसेन राउ. अवनिसेन नामक राजा १.२.१०

अवत्त अपात्र, अयोग्य, योग्यता हीन २.२३.३

अवत्थ अवस्था, दशा, परिस्थिति, मामला, वस्तु स्थिति, योग, आलम, फ़िज़ा, कैफ़ियत, सूरत, हालात ३.७.१९

अवयासु अवकाश, स्थान, शरण, छुट्‌टी, आकाश द्रव्य का गुण २.१८.३

अवरुज्ज अपर, अन्य, इतरा, दूसरा १.११.२

अवसवण [अपशकुन] अपशकुन, खोटे निमित्त, अशुभ चिह्न, अनिष्ट सूचक निमित्त, कुशकुन ३.३.१९

अवहि अवधिज्ञान १.१४.१७

अविग्घि निर्बाध, अविलम्ब, निरापद १.५.११

अविहाणि अभिधान, नाम २.२४.१४

अवंक अवक्र, निष्कपट, ऋजु, सरल २.२७.४

असगाहे विशेष आग्रह १.११.२०

असज्झु असाध्य २.१३.१३

असणत्थि भोजन निमित्त, आहारार्थ १.६.८

असाहि रोउ [असाध्य रोग] लाइलाज बीमारी, जिनका कोई उपचार न हो सके ऐसे दुर्निवार रोग ४.१.२०

असोय अशोक तरु, वृक्ष विशेष, शोक रहित, महाग्रह, तीर्थंकर मल्लिनाथ का चैत्यवृक्ष, तीर्थंकर का एक प्रातिहार्य विशेष ३.३.१५ (गा.)

असंकु आशंका, भ्रान्ति, सन्देह १.४.१३

अह अघ, पाप, दुष्कर्म, दुष्कृति, कल्मष, अपराध, पातक, धर्मोल्लंघन, दुरित, कल्मष, गुनाह, अथवा १.१५.१३

अहणिसि अहर्निश, अहोरात, अहोरात्रि, रात्रिन्दिन १.५.१७

अहम्मकारि अधर्मकारी, पापकर्मी ४.४.२३

अहर अधर, ओष्ठ, अशक्त, असमर्थ, नीचे का, नीच, अधम ३.३.१७ (गा.)

अहाणु अघ कारक, पापकर्ता ४.४.२३

अहिसेउ अभिषेक, आराध्य का न्हवन, पूजा का एक अंग २.२२.४

अहोगइ अधोगति, अधोगमन, नीचे गिरना २.९.१३

अहोणिसि अहर्निश, दिनरात ४.६.२

आ

आइ आदि, प्रथम, पहला ३.२.८

आइण्णि आकर्ण, सुनकर, श्रुत्वा २.२.१

आइद्ठिय आदिष्ट, अधिष्ठित ३.३.२० (गा.)

आइणाह आदिनाथ, ऋषभदेव, आद्य तीर्थंकर १.१४.११

आइंद्दइ आक्रन्दन करना, विसूरना, विलाप करना, फूट-फूटकर रोना, विलखना २.७.१२

आएसु आदेश, आज्ञा १.११.५

आकिदि	आकृति, रूप. नेननक्श, प्रतिच्छाया ३.७.१४
आकंदिद्	आक्रन्दन, विलाप, रुदन १.१२.८
आच्छोडइ	खोलना २.६.१३
आढकी	धान्य नापने का पात्र विशेष, पाँच सेर का पात्र (ढाई सेर का पात्र) २.३.३ (दो.)
आणा सम्मत्त	आज्ञा सम्यक्त्व २.१६.८
आभिंतरि	आभ्यन्तर, भीतरी भाग २.१९.१०
आयमु सिधंतु	आगम सिद्धान्त २.१८.८
आरणाल	कांजी २.२२.११
आलिंगइ	आलिंगन, भुजपाश, बाहुपाश, प्रेमालिंगन, कण्ठालिंगन, अंकवार, अंगपाली, बग़लगीरी, जफ़्फ़ा ३.८.२
आलु	आल, ऋत, झूठा, मिथ्या, असत्य २.१५.१४
आवइ	आपत्ति, कष्ट, संकट, आना (क्रिया पद) १.१.६
आवणि	दुकान, हाट, आपणिका २.२०.४
आवाहइ	आह्वान करना, बुलाना १.१३.८
आवाहि	आह्वान करना, बुलाना २.१५.१३ (दु.)
आवेसए	आना, आगमन २.२७.२४ (दु.)
आसण्ण लग्ग	निकट तिथि, विवाह की निकट तिथि १.७.५
आस पास	आशा रूपी पाश, बन्धन १.११.६
आसासिउ	आश्वस्त, विश्वस्त, आशान्वित होना १.१५.३७ (गा.)
आसाहिय	आसाधित, जिसका मन अपने आधीन न रह गया हो वह ३.४.१
आही	आधि, मानसिक रोग, चिन्ता, मनः पीड़ा, मनोव्यथा, संताप, मानसिक पीड़ा १.३.१८ (गा.)

इ

इंदद	इन्द्र, शचिपति, देवेन्द्र, सुरेन्द्र, सुरराज, विवुधपति, शक्रेन्द्र, नाकाधीश २.११.३१ (गा.)
इंदाणि	इन्द्राणी, इन्द्र पत्नी ४.९.१४
इंदु	इन्दु, चन्द्र, अन्धक शत्रु, अंशुमान, क्षपाकर, मयंक, सुधाकर, हिमांशु २.११.११. (घ.)
इच्चाइ	इत्यादि, आदि-आदि २.५.४. (गा.)
इच्छिच्छइ	अभिलाषा करना, इच्छा करना, प्राप्त करने की चाह रखना २.१७.२२
इत्थु	यहाँ, अत्र ३.७.१९
इयरह	इतर, अन्य, दूसरा २.१४.२
इयरहु पदि	एक दूसरे के प्रति, परस्पर ३.७.१५
इयरावि	इतरपि, और भी २.२१.३

उ

उइओ ससंकु	[उदित चन्द्र] उदित हुआ चन्द्रमा ४.१.७
उवगोहण	उपगूहन, दोषों को छुपाना, दूसरे के दोषों को ढँकना २.१८.६० (गा.)
उडगणि	(उडुगन) नक्षत्र समूह, ऋच्छ ४.१.७
उच्छाण	वृषभ, बैल, उक्षन् आंत का आवरण, न्यून, हीन (उच्छत्तं वा न्यूनत्वं वा) २.२०.९
उज्जयणि	मालव देश का एक नगर, उज्जैन/ अवन्तिका नगरी १.२.३
उज्जोउ	उद्योत, प्रकाश, उजाला २.५.१२
उण्हं णह वाहजल	नभ से गिरता हुआ, गरम-गरम जल प्रवाह १.१५.३९ (गा.)
उत्तिण्णु	उत्तीर्ण होना, पार उतरना ३.१.१३
उतंगु	[उत्तुंग] अत्यन्त ऊँचा ३.६.८
उताल	लगातार रुदन, अन्तर रहित क्रन्दन की आवाज २.१३.१४

उद्दाम सद्दि	उच्च स्वर, प्रचण्ड स्वर, स्वर विशेष, जो ऊँची आवाज से बोला जाए वह स्वर २.१२.६
उद्दालए	उत्पाटित होना, विनष्ट होना २.२१.२३ (घ.)
उद्धरेह	ऊर्ध्व रेखा २.७.१६
उम्मूलिइ	उखाडना, मूल से उखाड़ फेंकना ३.३.२२ (गा.)
उम्मूलिऊण	(हे.कृ.) उखाड़कर
उयउभाणु	उदित सूर्य, सूर्योदय, उगता सूर्य १.१४.१४
उररुह	उरोज, स्तन २.२३.२५ (घ.)
उरोए	उरोज, स्तन, आंचल, कुच, छाती, पयोधर ३.६.३१ (गा.)
उल्लिउ	आर्द्र, गीला २.२२.११
उल्लिहिय	उल्लिखित, लिखा हुआ २.४.९
उवएस सम्मत्त	उपदेश सम्यक्त्व, धर्मोपदेश सुनकर होनेवाला सम्यग्दर्शन २.१६.१०
उवघाइ मरण	उपघात मरण, आत्म हत्या ३.४.९
उवण्णिज्जइ	उत्पन्न होना, आविर्भाव, उत्पत्ति, उदय, उद्भव १.१.१०
उवद्दव	उपद्रव, धातुगत दोष २.१८.७
उवमग्ग	उन्मार्ग, कुमार्ग, कुपथ ४.४.१३
उवयंत	उत्पन्न, प्रादुर्भूत, समुद्भूत, प्रभूत १.२.२ (घ.उ.)
उवयरण	उपकरण, साधन २.१९.५३ (गा.)
उवराग	उपराग, ग्रहण २.४.३ (गा.)
उववज्जइ (हि)	उत्पन्न होना २.२३.९
उववण	उपवन, बाग, बगीचा, उद्यान ३.६.१
उव्वह	(उद् + वह) धारण करना, उठाना ३.३.१७ (गा.)
उव्वहिय	उद्वेलित, प्रेरित, उत्क्षिप्त, फेंका हुआ २.२०.६
उवाद	उत्पाद, उत्पत्ति, प्रादूर्भूति २.१८.३
उवेहसे	उपेक्षित, उपेक्षा करना, तिरस्कार, अपमान, अनादर १.१३.२६
उसरि	[ऊसर] बंजर भूमि, अनुर्वरक भू खण्ड ४.१.६
ऊसव	उत्सव, समारोह/पर्व-त्यौहार २.५.६ (दु)

ए

एकत्त वितक्क	एकत्व वितर्क नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान २.१८.१६
एगंत	एकान्त, निर्जन स्थान २.१५.४३ (गा.)
एयंति	एकान्त, निर्जन स्थान १.८.१७
एत्तह	इधर २.१४.११
एत्थंतरि	अनन्तर, पश्चात् १.३.१
एयग्गझाणि	एकाग्र ध्यान, सल्लीनता १.३.२
एयभुत्त	एक भुक्त, एक बार भोजन करना २.२६.५
एयह	इनका २.२२.१४

क

कइया	कैसे, किस प्रकार किस समय में २.२३.१५
कइया	कवि द्वारा १.२.१४
कउतिगि	कौतुक, कौतूहल, आश्चर्य ४.२.२ (दु)
कउसल	कौशल, कुशलता, कमाल, खूबी, पटुता, सिद्धहस्तता, लियाक़त, दक्षता, चतुरता २.७.४
कउसिय	कौशिक, उल्लू, उलूक १.१४.१४
कउसंवि	कौशाम्बी नगर ४.८.१
कंक	बगुला, गृहप्रिय, तीर्थसेवी, जलाश्रय, बलाका, मेघानन्द, वायस, सरोत्सव १.१५.१५
कंचुइ संदोह	कंचुकी की सन्धियाँ/जोड़ ३.७.४

कंद — स्कन्ध २.३.१०
कंदलण — अंकुरित करने वाला ३.२.४ (गा.)
कच्चुव — कच्चा भोजन १.६.९
कज्जलकाय — कृष्ण काय, कृष्णवर्णी देह २.१२.१३
कड्ढि — काढ़ना, निकालना १.८.१५
कट्ठु — कष्ट, वेदना, पीड़ा १.१.७
कडक्ख — कटाक्ष, नेत्र विकार २.११.१२
कडिमद्दणु — कटिमर्दन, कमर तोड़ना १.१५.७ (दु.)
कढ्ढि — काढना निकालना ३.१.१ (दु.)
कणय — कनक, कंचन, सोना, अग्निजात, धतूरा, अग्निशेखर, महाधातु, श्री निकेत, वसुचारुक, कुन्दन १.१५.१७
कणयकंति — कनककान्ति, स्वर्णाभा, स्वर्ण के समान कान्तिमान १.४.३
कणयधउ — कनकध्वज, एक राजा का नाम, स्वर्ण पताका २.२७.२९ (घ.)
कणयद्धउ — कनध्वज नामक राजा २.१४.१७
कणयवाहू — कनकबाहु तान्त्रिक २.१५ (गा.)
कणयोवलि — कनकोपल, अन्ध पाषाण, कनक पाषाण, स्वर्ण पाषाण २.२५.८
कण्ण — कन्या, कुमारिका, अविवाहिता, अगृहीता १.४.११
कण्णमुह — कन्या का मुख २.१५ (गा.)
कत्थ — कहाँ, कुत्र ३.२.१ (गा.)
कत्थूरी — कस्तूरी, नाभिगन्ध १.१५.१४
कद्दमि — कर्दभ, कीचड़, पंक, कीच २.२५.७
कप्प पाइव — कल्पपादप, कल्पद्रुम, कल्पवृक्ष, वृक्ष विशेष, मनोवांछित फल को देने वाला वृक्ष २.१२.३७ (गा.)
कप्पलया — [कल्पलता] अमरवेल, कल्पवल्ली ३.१०.१२ (घ.)
कप्पिधर — कल्पवासी, वैमानिक देव, जिन स्वर्गों में इन्द्र सामानिकादि दस प्रकार के देवों की कल्पना/व्यवस्था की जाती हैं २.१.१ (सो.)
कमलच्छि — कमलाक्षी, कमल के समान सुन्दर नेत्रों वाली, कमलनयनी, राजीवलोचना, पद्मलोचना १.२.१८
कमलसिरी — कमल की शोभा श्री, कमल सौन्दर्य ३.३.१४ (गा.)
कमि कमि — क्रम क्रम से, शनैः शनैः, अनुक्रमात् १.३.८
कमिणंक — क्रमागत, शरणागत, शरणार्थी ३.१.९
कम्मिक — कर्मिक, कर्म सम्बन्धी २.२.५ (दो.)
कमुघिवंत — चरणों में गिरना, चाटुकारी करना २.१९.१७
कमुदेइ — चरण, पद, पाद, प्रपद १.१.२
कयत्थु — कृतार्थ, कृत्कृत्य ४.३.३
कयायरु — कृतादर, आदर करने वालां ४.५.८
कयंत — कृतान्त/यम ३.३.२० (गा.)
कयंतंतरि — कृतान्त के मुख में, मृत्यु मुख ३.१.२ (घ.)
करणिज्जु — करणीय, करने योग्य २.९.९
करताल — ताली बजाना, झांझ, मंजीरा १.४.६
करपल्लव — कर रुपी किसलय, हस्त रूपी कोमल कोपलें ३.३.१५ (गा.)
करभ — उष्ट्र, ऊँट २.२५.३
कररुहजावलिय — अंगुलियों का समूह, करांगुलियाँ, शलाकावली/शक्वरी समूह १.३.२
करलंवण — हस्तावलम्बन, हाथ का सहारा १.५.१४
करह — ऊँट, ऊष्ट्र २.२७.१
करिंद जूह — गज यूथ, हाथियों का झुण्ड २.५.७
कल — सुन्दर, कमनीय, ललित, रमणीय १.७.२७
कलइंट्ठि — कोकिला, अपराजिता, कादम्वरी,

पिक, मकरन्द, सारंग, सुधाकण्ठ, अन्यपुष्टा, मधुकण्ठ १.१५.१५

कलभ हाथी का बच्चा २.२५.३

कलयंठि कंठ कोकिलकण्ठी, मीठी, मधुभाषिणी, कलकण्ठ, मयूरकण्ठी १.४.८

कलहोय कलधौत, तप्तस्वर्ण ४.८.३

कवड कपट, छल, छद्म, मायाचार, विडालव्रत, कपटाचरण, कृत्रिम धार्मिकता १.५.१२

कवणु कौन १.११.७

कवल कमल, पंकज, अरविन्द, सरोज, सरसिज, पद्म २.२५.७

कवलिज्जइ [कवलित] खाया जाना, ग्रसना ४.१.२१

कव्व काव्य २.१८.१७

कव्वडि कर्बट, कुत्सित नगर २.२०.३

कव्वु काव्य, कविता, शेरो शायरी ४.८.१०

कवाली कपाली, कापालिक ३.१.१९

कवालु कपाल, ललाट, मस्तक २.१५.१४

कवोल कपोल, गण्ड ३.३.१६ (गा.)

कहंतरु कथान्तर २.४.१३

कहा कथा, जीवन वृत्त, जीवन चरित्र, घटना चक्र, इतिवृत्त, आख्यायिका, कथानक दास्तां १.१.१ (घ.)

काइगुट्ठि काय पोटली, शरीर रुपी गठरी २.११.१४

काइर कायर, भीरु, डरपोक ३.२.१०

काउसग्गु कायोत्सर्ग, खड्गासन, मुद्रा का एक भेद जिसमें निश्चित समय के लिए कषाय और देह ममत्व का परित्याग किया जाता है १.६.२

काम थत्ति कामदेव की विश्राम स्थली १.३.६

कामलया कामलता नामक वेश्या ४.८.२

कामसेण वेसा कामसेना नामक वेश्या २.१३.१

किंकणि किंकिणी, मेखला, कटिबन्ध, क्षुद्र घण्टियाँ

किजिउं किसी, कहीं २.१.२ (दो.)

किडि सुअर, वराह, शूकर, दन्तायुध २.४.५

किण्ह लेसु कृष्ण लेश्या ४.४.२१

किणंति क्रय करना, खरीदना २.२१.८

किंणरि गन्धर्व कन्या, किन्नरी, गीतमोदिका, देव गायिका १.२.२ (गा.)

किण्ह कृष्ण, काली ३.६.२

कित्ति कीर्ति, यश, ख्याति, प्रशंसा, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि १.१.१

किराउ किरात, भील ३.५.१६

किव कृपा, क्षमादान, दया, दान, वरदान, संरक्षणपूर्ण सहायता, मेहरबानी, दृष्टि प्रसन्नता ४.७.७

किवणु कृपाण, तलवार ३.१.१ (दु.)

किविण कृपण, कंजूस ३.१.१४

किसकायु कृशकाय, दुर्बल, क्षीणदेही ४.६.५

कीयउ कीचक, विराट नगर का राजपुत्र, जो द्रौपदी पर मोहित हुआ था १.१.९

कीलणु रति क्रीडा, केलि क्रीडा ४.७.१

कीला क्रीड़ा, मनोरञ्जन, आनन्द केलि २.६.११

कुकलत्त (इ) खोटी स्त्री, कुकलत्र २.१.२ (दु.)

कुच्छि कुक्षि, कूख, उदर, कोख, उदर का वह स्थान जहाँ गर्भस्थ शिशु रहता है २.५.५ (घ.)

कुच्छिय कुत्सित, खोटा, मिथ्या २.२३.३

कुंजरु गज, हस्ती १.१.२

कुट्टिओ कूटना, पीटना, मारना ४.७.८ (गा.)

कुढि कुटी, कुटिया, झोपड़ी ४.७.११

कुपत्त कुपात्र, अयोग्य ३.२.४

कुमइ — कुमति, खोटी बुद्धि ३.२.४
कुरु — क्रूर, क्रौर्यशील २.१२.३
कुलणह — कुल रूपी नभ २.५.१३
कुलिस — वज्र, इन्द्रराज का आयुध विशेष ३.८.४० (गा.)
कुसि — कुशी, लौहे का वना एक हथियार २.२१.७
कुहिया — कुथित रोग, दुर्गन्धि रोग, पूति नामक व्याधि ४.७.१० (गा.)
कुसील — जैन श्रमण का एक भेद, जो क्रोधादिक कषाय और कृष्णादिक लेश्याओं में संसक्त रहते हैं। कुशील, कदाचरण २.१८.५२ (गा.)
कूउ — कूप, कुआँ, गर्त्त, चुराई गई चीज की खोज में जाना, चोरी की वस्तु को छुड़ाने वाला, छीनी वस्तु को कलह करके वापिस लेने वाला २.२६.८
केरओ — (सं.कृ.) अव्यय, के लिए १.११.१ (दु)
केरिसं — कैसा १.१३.१९ (गा.)
केसरि — केशरी, सिंह, मृगराज, पंचास्य, पंचानन, मृगेन्द्र, शार्दूल, व्याघ्र, केहरी, केसरी १.१.२
केसरि किसोरु — [केशरी किशोर] सिंह शावक ४.१.४
कोडीधउ — कोटि ध्वज, करोड़ों ध्वजाएँ २.६.१२
कोव हुयासणु — क्रोधाग्नि २.१.३

ख

खंधवारि — स्कन्धावार, छावनी, कटक, सेना का पड़ाव १.१४.१८
खग्गु — खड्ग, असि, तलवार, करवार, कृपाण ३.१.२०
खज्जोवइ — खद्योतपति, चन्द्रमा २.२५.४
खडणाइदण — षड् अनायतन २.१६.१५ (दु.)
खडदंसण — षट्दर्शन २.८.१४
खद्ध — भक्षित, भुक्त २.२६.७
खड दव्व — षट द्रव्य (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) २.१८.२
खड्‌रस — षट्रस, छहों रस १.६.९
खडवस्स — षडावश्यक, जैन श्रमण के छह आवश्यक कर्म, अवश्य करने योग्य कृतिकर्म २.१९.६
खडसंहण — छह प्रकार के संहनन, संहनन अर्थात् सहन करने योग्य सामर्थ्य विशेष अस्थि विशेष २.१९.९
खणइ — खोदना २.२६.८
खणंतरि — क्षणैक में, क्षणभर १.४.१४
खम — क्षमा, तितिक्षा, सर्वसहा, अप्रतिघात १.१६.१०
खमधारो — क्षमाधारी, क्षमाशील ४.९.१८ (गा.)
खयर — खेचर, नभगामी १.१४.५ (दु.)
खयरि — खेचरी, विद्याधरी, आकाशचरी, गगनांगना, व्योमगामिनी १.२.९
खर — तीक्ष्ण, पैने, नुकीले २.१२.२
खर — गर्दभ, गधा, राभस, खच्चर, निष्ठुर, रुक्ष, परुष, कठोर, क्षर, विनश्वर, अस्थायी
खर पइंगु — प्रखर सूर्य, प्रचण्ड मार्तण्ड, चण्ड भास्कर २.३.९
खलि — खलि, तेल निकल जाने के बाद शेष बचा कठोर भाग, निस्सार पदार्थ १.१५.१४
खाम — कृश, क्षीण, दुर्बल, अशक्त २.८.८ (दु)
खारंभोणिहि — खारे पानी का समुद्र, क्षार समुद्र, लवण समुद्र १.२.१
खालणत्थि — प्रक्षालनार्थ, स्नानार्थ २.६.६

खिज्जइ सं. [क्षीयते] क्षीण करना, कमजोर करना, नष्ट करना ३.६.२९ (गा.)

खित्तमूढ क्षेत्रमूढ़ता २.१७.३

खित्तवाल क्षेत्रपाल २.११.१८ (गा.)

खित्ति पृथ्वी, वसुन्धरा, भूमि, क्षिति, गन्धवती, अचला, अदिति, रत्नगर्भा, क्षौणि, इला, सुरभि, सागराम्बरा, हरिप्रिया, काश्यपी, धारिणी, क्षान्ता १.४.४

खिमा क्षमा, अप्रतिघात, तितिक्षा, सहिष्णुता, दण्डमुक्ति ४.८.१३

खिरंति खिरना/झरना–गिरना, बरसना १.४.४

खीर क्षीर, दुग्ध, पय, पीयूष ३.६.३१ (गा.)

खुट्टए छूटना, नष्ट होना २.४.५ (दु.)

खुद्द क्षुद्र, तुच्छ, हीन, अधम, दुर्जन, नगण्य, सूक्ष्म, लघुकाय, नाचीज १.९.५

खुब्भ क्षोभ २.२६.२१

ग

गइ गति, चाल, गमन विशेष, धर्म द्रव्य का लक्षण, दशा, नरकादि चारों गति ३.३.१५ (गा.)

गउरव गौरव, बड़प्पन, महत्त्व ३.९.७

गउडुराइ गरुडराज, अमृताहरण, वैनतेय, पक्षिराज, यक्ष विशेष, भगवान् शान्तिनाथ का शासन यक्ष, भवनवासी देवों की एक जाति, सुपर्णकुमार ३.२.८

गउरीविव गौरी इव, गौरी के समान १.१३.२२ (गा.)

गणिया गणिका, पण्यसुन्दरी, रूपाजीवी, देहजीवी २.१३.३

गणेसि गणेश, गणधर, विघ्न विनायक, गजानन २.१६.१३

गत्ता गात, शरीर, देहयष्टि, तनु, वपु, घट, अंग, कंकालय, कलेवर, काय, काया, जिस्म, चोला, जीवगृह, जीव मन्दिर, विग्रह, व्याधि मन्दिर, इन्द्रियायतन, नव द्वार का पिंजरा १.१५.४१ (गा.)

गदि गति, गमन, धर्म द्रव्य का लक्षण २.१८.२

गब्भि गर्भ में १.३.२

गयगामिणि गजगामिनी, गज जैसी मस्त चाल वाली १.२.१४

गयघड गज कुम्भ (हाथी का गण्डस्थल) २.१२.४

गयणग्ग लग्ग गगनाग्र लग्न, गगन के अग्र भाग को छूते हुए, अत्यन्त ऊँचे, गगनचुम्बी, गगनस्पर्शी १.२.५

गरुड वैनतेय, पक्षिराज, अमृताहरण

गरुया महान्, भारी, गुरु महत्त्व २.४.३ (गा.)

गलिय गव्वु गलित गर्व, निरभिमान, निरहंकार

गब्भब्भ गर्भस्थ, गर्भाब्भ, डिम्ब ३.३.३

गह ग्रह, भूतादि, घट, धाम, निकेतन, सदन, आलय, निलय, ठाँव, निवास, प्रासाद २.११.३१ (गा.)

गहिज्जइ ग्रहण करना २.८.६

गहिल्ल उन्मत्त ३.३.१८ (गा.)

गहिल्लउ गहिल, उन्मत्त, पागल, विक्षिप्त १.१५.६ (दु.)

गहीर गम्भीर, महत्त्वपूर्ण १.१.१

गहिल्लु गहिल, उन्मत्त स्वभाव वाला, भ्रान्त चित्त ४.५.४

गहिला उन्मत्ता, पागल, विक्षिप्ता २.१५.१२

गाडर अंवरि गाड़रों का समूह/अम्बार (विना परिणाम विचारे अनुकरण करने वालों

	का ढेर) २.१३.१७ (दो.)
गालिवि	गालकर, छानना, गलित, वस्त्रपूत, जलगालन २.२३.१
गिज्जइ	गीयते, गीत गाना/कहना १.१.२ (घ.)
गिर गोयर	[वचन गोचर] वचनों द्वारा कथ्य ३.९.६
गिलणत्थ	निकलना, निगलने के अर्थ २.१२.१३
गिलंति	निगलना, साबुत खा जाना २.५.८
गिलिया	निगलना ३.३.१९ (गा.)
गिह सिहरि	गृह शिखर १.२.४
गिहंति	गृह, सदन, मन्दिर, सद्म, निकेतन, आलय, भवन
गीवकियाइ	ग्रैवेयक, कल्पातीत लोक, वैमानिक देव विमान ४.८.८ (दो.)
गुडियउ	गुटिका १.१५.१५ (घ.)
गुंजा पुंज	गुञ्जाफलों का समूह २.१२.३
गुट्ठि	गोष्ठी, मेल मिलाप, संगीति ४.८.८ (घ.)
गुण संकिण्णउ	गुण संकीर्ण, गुणाकीर्ण, गुणों से भरा, गुणयुक्त १.१५.१५ (घ.)
गुणाल	गुणी, गुणशील, गुणवान्, गुणाढ्य १.३.८
गुणियण	गुनिया, गोझा, मन्त्र, तन्त्रवादी, तान्त्रिक २.१५.१३ (दु.)
गुत्त भज्ज	गोत्र भग्न, कुल कलंकित करना २.१.४
गुत्तुवत्तु	गुप्तवार्त्ता, रहस्य, मर्म, भेद २.१५.२
गोउर	गोपुर, सिंहद्वार, महाद्वार, मुख्यद्वार, मंगलद्वार १.२.४
गुरुहार	भारी बोझ वाली, गर्भवती २.१.१
गोउलु	गोकुल, गोशाला, गोगृह २.१०.८ (घ.)
गोणी गण	गायों का समूह ३.६.३
गोमुह	गोमुख, यक्ष, चक्रेश्वरी देवी का पति, आदिनाथ जी का शासन यक्ष १.१४.५ (दु)
गोव गिहणि	गोप वधू, गोपी, ग्वालिन २.८.२
गंडोल	[गण्ड़ोल] पेट की कृमि विशेष ४.१.९
गोह	सुभट, योद्धा, जंगावर, शूरवीर, सैनिक, भट, नश्वीर, सामन्त, रणवीर, सूरमा, शस्त्रधारी, शस्त्रजीवी, वीर, वीरेन्द्र १.२.६

घ

घडइ	घटना, क्षीण होना २.८.४
घडिया	घटिका, घड़ी, नाली, मिनिट, मुहूर्त ४.९.९
घण गहणि	सघन वन, दुर्ग्राह्य अटवी २.२७.४
घण णीसास	नि:श्वास रूपी मेघ १.१५.३९ (गा.)
घणथण	स्थूल स्तन, पीन स्तनी, सघन स्तनों वाली २.२०.५
घणसार	चन्दन, कर्पूर २.२१.१
घणि वणि	सघन वन में २.१.६
घरणी	गृहिणी, गृहस्वामिना, गृहलक्ष्मी १.२.१८
घल्लमि	डालना, गेरना ३.३.४ (घ.)
घल्लिया	फेंका हुआ, डाला हुआ २.९.९ (दु.)
घुट्ठणाउ	उच्च स्वर, उदात्त स्वर, उत्स्वन १.७.१

च

चइसु	छोड़ना, त्यागना १.३.६ (गा.)
चउविह असण चाउ	चतुर्विधाहार त्याग, अनशन, उपवास १.५.७
चक्की	चक्री, चक्रवर्ती, षट्खण्डाधिपति, राजेन्द्र २.११.३१ (गा.)
चक्केसरीय	चक्रेश्वरी देवी, (ऋषभदेव की शासन साक्षी) १.१४.१६

चडइ	चढ़ना, लगना २.१३.१०
चच्चरि	चतुष्पथ, चौराहा, चौहट्टा, जहाँ से चारों ओर के लिए मार्ग जाता हो, चौक २.२०.३
चच्चिय	चर्चित, अलंकृत, चिह्नित २.७.१६
चट्टवग्गु	चटवर्ग, शिष्यवर्ग, शिष्यसमूह ४.६.११
चत्त(त्तु)	त्याग, प्रत्याख्यान २.१६.५
चत्त पाणु	प्राण रहित, मरण २.९.१३
चनक	चना, चणक २.२.७ (दो.)
चमक्कि	चमत्कार, आश्चर्य, विस्मय, कौतुहल २.७.६
चरणाउह	चरणायुध, जिनके पैर ही आयुध/शस्त्र का कार्य करते हैं ऐसे पशु-पक्षी २.२१.५
चवल	चपल, चंचल, अस्थिर, तरल, द्रुत, नश्वर, विनोदप्रिय ४.८.२
चारु	सुन्दर, मनोहर, कमनीय २.१५.१२
चिडयहु	चिड़ियाँ, चटक वृन्द, पक्षी विशेष १.१३.६
चित्तगुत्तु	चित्रगुप्त नामक सार्थवाह २.४.१
चियरइहुयासु	चिताग्नि, मृतक को जलानेवाली अग्नि ३.४.२
चिराणउ	पुरातन, चिरातन, प्रागैतिहासिक, पौराणिक, परम्परागत, अनद्यतन, आर्ष, क़दीली ३.९.५
चिराणउं	चिरातन, पुरातन, चिरकाल १.१६.१२
चिहुरत्तर	केश ३.३.१४ (गा.)
चुक्का	चूकना, स्खलित होना, फिसल जाना, अवसर खोना १.१.१ (दो.)
चेईहर	चैत्यगृह, जिनालय, मन्दिर, जिन सद्म, देवालय, महालय, देवायतन, उपासनागृह १.२.७
चेयालउ	चैत्यालय, चैत्य भवन, अर्हन्मन्दिर, जिनगृह, जिन मन्दिर, देवघर २.२७.८
चेयणु	चेतना, मन, हृदय १.७.७

छ

छंदायम	छन्दागम ४.६.१०
छज्जइ	शोभना, सुशोभित होना १.३.१०
छणइंदवत्ति	पूर्ण चन्द्रमुखी ४.६.१९
छणिंद्दइंदु	पूर्णेन्दु, पूर्णचन्द्र १.१६.७
छवासय	षडावश्यक, षट्कर्म, श्रावक और श्रमण के करने योग्य चर्या के छह अवश्य करणीय कर्म २.२२.३
छाडिकइ	छोड़ना, त्यागना, अग्रहण १.१६.३ (सो.)
छिक्कि(ओ)	छींक १.१३.१२ (घ.)
छुह मोयणु	क्षुधा मोचन, भूख मिटाना, क्षुधाशान्ति, क्षुधा शमन, क्षुधा निवारण १.६.९

ज

जईसरु	यतीश्वर २.१८.२३
जक्ख	यक्ष, शासनदेव, जक्ष, विदेव १.४.१०
जक्खणि	यक्षिणी, शासन देवी, जाखिनी, यक्षी १.४.१०
जज्जरिओ	जर्जरित, खोखला, जीर्ण, झांझर ३.२.१ (गा.)
जट्ठी	यष्टि, लकड़ी, बेंत, दारु ४.७.९ (गा.)
जणिरावलि	मनुष्यों का समुदाय १.१.४
जत्ता	जात्रा, यात्रा, तीर्थाटन, जातरा, जिन प्रतिमा सम्बन्धी महोत्सव विशेष १.१३.३० (गा.)
जत्थ	जहाँ, यत्र, जिस स्थान १.४.१
जम	यम, काल, मौत, अंतक २.९.१४ (गा.)
जम णयरि	यमनगरी, यमलोक, यमपुरी, मृत्युधाम २.१४.१४ (घ.)

जम दिसा यमदिसा, दक्षिण, यम नामक लोकपाल की दिशा २.२०.१७ (दु.)

जयावइ जयावती, अवनिसेन राजा की पत्नी १.२.१३

जर जरा, वार्धक्य, वृद्धावस्था, बुढ़ापा ४.१.२०

जरिय जरिया, तरीका, उपाय, साधन के द्वारा २.११.१४

जलंजलि जलांजलि, तर्पण २.१०.४

जलणिहिमइंकु सागरचन्द, मृगांकलेखा का पति, चरित्र नायक १.४.९

जलदुग्ग जलदुर्ग ३.३.१४ (गा.)

जलरासिसंसि जलराशिशशि, सागरचन्द्र ३.१०.१० (दो.)

जलवाह जलप्रवाह, जलधारा, जलप्रपात ३.२.४ (गा.)

जलुमूरिष जलमूर्खा, मीन, मत्स्य १.१३.८ (दो.)

जलोलियणयण सजल नेत्र, अश्रुपूरित नयन २.७.९

जवइ जपना, जप करना १.१४.११

जवाइ जवाकुसुम, जपाकुसुम, जपापुष्प, अडहुल, अर्ककान्ता, गुडहल, हरिवल्लभा, विक्रान्ता, देवीपुष्प १.३.४ (गा.)

जसणिहाणु यश निधान, यशभण्डार ४.२.१२

जाइय जाति, वर्ग, वंश, समाज, बिरादरी, तबक़ा, क़ौम, फ़िरक़ा ३.६.३१ (गा.)

जोईसर योगीश्वर, निर्ग्रन्थमुनि २.२२.१३

जाणावइ जतलाना, ज्ञापित कराना ३.७.२

जाणुजुयलंतराले युगल जानुओं के अन्तराल में, दोनों जंघाओं के बीच में १.९.१२ (गा.)

जाम जब, यावत्, जभी १.५.१५

जामउ जैसे, जिससे २.२.७

जामिणि यामिनी, रजनी, निशा २.९.१५ (गा.)

जालामालिणि ज्वालामालिनी देवी २.१५.४३ (गा.)

जिण जिन, वीतराग देव, आप्त, इन्द्रिय और मन के जेता, मोह विजेता, जैन धर्म के आराध्य देव १.२.२०

जिणबिंब पइट्ठा [जिनबिम्ब प्रतिष्ठा] पंच कल्याणक रूप धार्मिकानुष्ठान, वह मंत्र रूप क्रिया कर्म जिससे पत्थर को 'देव जैन प्रतिमा' बनाया जाता है, जिनगुणारोपणरूप मन्त्र विधि ३.१०.२१

जिणसुत्त जिनसूत्र, जिनागम, तीर्थंकर के मुख कमल से निसृत दिव्य वचन २.१८.५७ (गा.)

जिनदीखसु जिनदीक्षा, महाव्रत, पंच पाप त्याग रूप संन्यास विधि १.१२.२ (दु.)

जीहा जिह्वा, रसना, रसज्ञा, रसा, रसाला, ज़बान ४.७.१० (गा.)

जुगंत युगान्त, प्रलयकाल का समय, युग का अन्त समय १.१३.२२ (गा.)

जुज्जइ जोड़ना, युक्त करना १.१५.३७ (गा.)

जुट्ठ झूठा, असत्यवादी, मिथ्यालापी, मृषा वादी १.१५.२०

जुण्ह ज्योत्सना, चन्द्रिका, चाँदनी १.३.४

जुत्ति युक्ति, सतर्क, साधार, उपयुक्त, तर्कसंगत १.३.२

जुम्म युगपत, एक साथ ३.५.४

जुयल युगल, दो, युग्म, द्वन्द, यमल, युति १.४.४

जुव्वण समिद्ध यौवन सम्पन्न, नवयौवना १.३.८

जोइणी योगिनी, जोगन, जोगिनी, योगवती, साधिका, साध्वी २.११.३१ (गा.)

जोइवर उत्तम योग १.३.६

जोइसि ज्योतिषी २.१८.५५ (गा.)

जोई योगी, कापालिक ३.१.१९

जोए निहारना, दर्शन करना, प्रेक्षणा १.४.१

जोगिय योग्य, अधिकारी, उपयुक्त, क़ाबिल, पात्र, समर्थ, गुणी, लायक, माक़ूल २.१४.१६

जोगो योग, समय १.६.७ (गा.)

जोणिसि मइंकु ज्योतिषचन्द्र, ज्योतिषी देवों का इन्द्र ४.१.७

जंपइ कहना, बोलना १.४.७

जंपाण जम्पान शिविका, पालकी, वाहन विशेष, सुखासन, शवयान २.२०.९

झ

झड़त्ति झट, शीघ्र, तुरत, क्षिप्र, अविलम्ब, तत्क्षण, वेग, द्रुत, त्वरा, तत्काल १.४.१४

झडप्पइ झपटना, आक्रमण करना ३.२.८

झल्लुकिय उण्ण, गर्म, दग्ध, विदग्ध, जला हुआ १.१५.३९ (गा.)

झुसुर ताम्बूल, नागकेशर २.२१.२

झंखति बकवास करना, व्यर्थ की बातें करना १.१५.१९

झंप ढकना, आच्छादित करना, छिपाना, कूदना २.१.१

झावइ (ध्या) ध्यान करना ४.८.५

ठ

ठाइ (स्थायी) ठहरना, रुकना १.११.३

ठिक्क शिश्न, पुरुष की जननेन्द्रिय १.१५.१८

ठिय स्थित होना १.४.१

डज्झहि जलना, दग्ध होना १.१०.३

डुल्लिउ डोलना, डगमगा जाना ४.७.८

ढक्कणु ढँकना लगाना, बंद करना, पिहित करना २.२.२०

ढुक्कु ढोया जाना, उपस्थित होना, प्राप्त होना १.५.१०

ढोवइ भेंट करना, समर्पित करना, अर्पण करना ३.५.१७

ण

णउण न्यून, हीन, क्षुद्र, तुच्छ, हल्का, ओंछा २.४.३ (गा.)

णगु नग, नगीना (स्वर्णादिक धातुओं के आभूषणों में जड़ा जाने वाला बहुमूल्य पत्थर) २.१३.१०

णच्चिज्जइ नाचना, नृत्य करना १.७.३

णिट्ठुर निष्ठुर, दया हीन, कठोर हृदय, पाषाण हृदय, बेरहम दिल, पत्थरदिल १.१५.५

णड नट, नर्तक, बहुरूपिया, धात्रीपुत्र १.१५.७ (दु.)

णडहि नृत्य करना, नाचना २.४.४ (घ.)

णयणीय तरंगिणी न्यायनीति रूपी सरिता १.२.११

णयणं रहियं नयन रहित अर्थात् जहाँ कोई देखने वाला न हो ३.२.२ (गा.)

णयहु नय (वस्तु के धर्मों का एक देश व्याख्यान करने वाली पद्धति) २.१८.९

णरदेव नरदेव, वैश्रवण वणीश का पुत्र २.६.१० (गा.)

णरभउ नरभव, मनुष्य जन्म १.१.१०

णरय नरक, श्वभ्र भूमि १.१.९

णरय खोणि नरक भूमि, श्वभ्र भूमि १.१.१३

णराहिय नराधिप, नृपति, नृप, नरेश, राजा ४.५.२२

णवणेह नूतन अनुराग २.२३.९

णवदंडे नवदण्ड, (सम्रम्भ, समारम्भ, आरम्भ, कृत, कारित, अनुमोदन, मन, वचन, काय) १.१.१ (गा.)

णवयारमंतु णमोकार मन्त्र, नमस्कार मन्त्र, अपराजित मन्त्र ३.२.२२

णुवेदि प्रणाम करके, नमन कर, नमस्कार करके १.५.१२

णहणाण निहनन, वध हेतु बलिनिमित्त २.१०.१६ (गा.)

णहमग्ग नभमार्ग, आकाशपथ, गगनपथ ३.३.१६ (गा.)

णहमणि नख रुपी मणि १.४.३

णहंगणए नभांगन से, नभ रूपी आंगन से १.२.३ (घ.)

णहंतु नभ का आखिरी भाग, क्षितिज १.१५.८

णहर [नखर] नख वाले, नख, नाखून, कर-कंटक, करवाल, नह, पाणिरुह २.१२.२

ण्हवणच्चण जिनाभिषेक और जिनपूजा १.५.१६

णहू नव, नवीन, नूतन, नया २.६.१५

णाइ की तरह, समान २.२४.१०

णाइगु नायक, नेता ३.६.६

णाइवित्तु न्यायवित्त, न्यायपूर्वक अर्जित धन, न्यायनीति से संचित धन-सम्पदा ४.४.७

णाउ नाम/नामकरण, अभिसंज्ञा, अभिधान १.३.७

णाउ नाग, भुजंग, भवनवासी देवों की एक अवान्तर जाति नागकुमार, धरणेन्द्र, गज, कुंजर, वृक्ष विशेष ३.२.८

णाण वियारा ज्ञानी, तत्त्वज्ञान विचारक २.४.४ (घ.)

णायकण्णए नागकन्या, काद्रवेयी, फणीकन्या १.३.२ (गा.)

णाल त्रस्त, गिरा हुआ २.३.४

णाव नाव, नौका ४.७.८

णाइव मानों, जैसे २.२४.२१ (दु.)

णाह नाथ, पति, स्वामी, प्राण वल्लभ, कान्त, प्रीतम, प्रिय १.३.१

णाहवासि नाथ का आवास, पतिगृह, ससुराल १.१२.२

णिकिट्ठ निकृष्ट, व्यर्थ, विफल, अकारथ, असार, निरर्थक, मूल्यहीन, अनर्ह, बेमानी १.३.१२

णिकंदहे उन्मूलन करना, निकाल फेंकना, निष्कासित करना, आमूल उखाड़ फेंकना १.१४.१३ (घ.)

णिक्क सुनिर्मल, सर्वथा मल रहित १.८.११

णिक्किक्तिमि अकृत्रिम, निस्वार्थ, आकस्मिक २.८.३

णिखित्तं निक्षिप्त, पड़ा हुआ, फेंका गया २.७.११ (गा.)

णिगोह न्यग्रोध, वटवृक्ष २.५.४

णिच्चच्चणु नित्यार्चना, नित्यमह पूजा ३.६.९

णिच्छएण निश्चय रूपेण, नियमतः, निश्चयतः, तथ्यतः, वस्तुतः २.११.३३ (गा.)

णिछोडण छेदन, कर्तन, तोड़ना, निकालना १.१५.४० (गा.)

णिज्जणि वणि निर्जन वन, शून्यारण्य, ऐसा वन प्रदेश जहाँ कोई मनुष्य दिखाई न देता हो ४.१.१ (घ.)

णिज्जर निर्जरा, कर्मों का एक देश क्षय २.११.१३

णिद्दउ निर्दय, दयाहीन, बेरहम, अत्याचारी, निष्ठुर, बर्वर, बेदर्द, खूँखार, आततायी, क्रूर, कृपाहीन ४.४.२१

णिद्दय निर्दय, अकरुण, अत्याचारी, उत्पीड़क, उद्धत, कठोर, क्रूर, खूँखार, दयाहीन, निष्ठुर, नृशंस, पापी, हिंस्र, बर्वर,

बेदर्द, बेपीर, बेरहम १.१५.४० (गा.)

णिद्दि निन्दा, आत्म निन्दा १.१५.१५ (घ.)

णिद्दिरो निन्दक, निन्दा करने वाला ४.६.६ (दु.)

णिद्दोसा निर्दोष, दोष रहित १.१५.३६ (गा.)

णिधाडि निकालना, निस्सरण, बाहर करना १.१२.६

णिब्भच्छइ (णिर् + भर्त्स) तिरस्कार करना, अपमानित करना, भर्त्सना करना १.१२.१३

णिब्भय निर्भय, अभय, निडर, निर्भीक, भय रहित ४.१.४

णिब्भर निर्भर ३.७.३

णिम्मवइ निर्मित करना, बनाना, निर्माण करना, सृजन करना १.९.१४ (गा.)

णिम्मल काइअ निर्मल काय, सप्तधातु विरहित देह, वैक्रियिक शरीर ३.२.३ (घ.)

णिमित्तणाणी निमित्तज्ञानी, निमित्तज्ञ, निमित्त ज्ञाता १.४.१

णियर निकर, वृन्द ३.६.४

णियाणु निदान, कारण, हेतु १.११.१४

णिरयावणि नरकावनि, नरक भूमि, श्वभ्र स्थली ४.५.१४

णिरवराह निरपराध, निर्दोष १.८.९ (घ.)

णिरवराही निरपराधी ४.८.१४

णिरवियप्पु सं. निर्विकल्प, विकल्पातीत ३.८.५

णिराइ नीराग, राग रहित ४.८.११

णिरारी नितराम् (अव्यय), हमेशा, नित्य, लगातार, निरन्तर, सतत, सदा, सर्वथा, निश्चित ही १.१२.१४

णिरास निराश, उदास, हताश १.११.१३

णिलओ निलय, आलय, आस्पद, स्थान २.१५.१६ (घ.)

णिलाडु लिलाट, ललाट, भाल २.९.१३

णिव नृप, राजा १.१५.१

णिवजुव्वणि नव यौवना, नवौढ़ा ३.१.५

णिवडइ निपतति, गिरना १.१.२

णिवडंताण निपतति, गिरे हुए, डूबते हुए १.५.१४

णिव मंदिरि राजमन्दिर २.१४.१२ (दु.)

णिव्वाण णयरु निर्वाण नगर, सिद्धार्थ नगर ३.३.२१

णिव्वासिया निर्वासित, निकाल दी जाना २.१.१ (गा.)

णिव्वु निम्ब, नीम, चीर्णपर्ण, महातिक्त, सर्वतोभद्रक, अरिष्ट २.११.१५

णिवसिज्जइ निवास करना, रहना १.१२.२

णिवह वैभव, समृद्धि, समूह, राशि ३.१.८

णिवाइ निपात, गिरना, अन्य छोर, छापा, तीव्र नदी, निर्झर, विमान, अवपात १.१५.३९ (गा.)

णिविज्ज निर्वेद, विरक्त भाव, उदासीन १.१३.२५ (गा.)

णिविट्ठ निविष्ट, बैठकर, उपविष्ट १.५.१२

णिसंसयं नि:संशय, नि:सन्देह ४.७.१ (गा.)

णिसुण (नि + श्रु) सुनना, श्रवण करना ३.४.३

णिसुंणि सुनना/सुनकर १.१४.५

णिहउ निहत, पटकना ३.३.२२ (गा.)

णिहालित देखा ३.८.६

णिहियासा निहिताशा (जिसकी आशा नष्ट हो गई है वह) २.१२.३७ (गा.)

णिहीण अतिहीन, तुच्छ, क्षुद्र ३.२.३

णिहीस निधीश, निधियों के स्वामी २.२३.१५

णिहेलण निकेतन, भवन, प्रासाद, सदन, निलय, निवास, आगार, मन्दिर, गृह, गेह, वेश्म १.१५.७ (दु.)

णीवासि आवास पर ले जाना १.४.५ (घ.)

णीसेस — निश्शेष, सम्पूर्ण, अशेष २.१५.४२ (गा.)

णेहखाणि — स्नेहखान, स्नेहनिधान १.७.१०

णेही रोहस — स्निग्ध पदार्थ, अत्यन्त चिक्कण पदार्थ, जिनके किनारों से (घृत) रस चूं रहा हो २.२१.३

णं — मानों (अव्यय) जैसे १.२.३

णंदीसरह पव्वु — नन्दीश्वर पर्व, अष्टाह्निक पर्व, जिसमें लगातार आठ दिनों तक नन्दीश्वर द्वीप एवं सिद्धचक्र की पूजा की जाती है ३.६.१२

णंदीसरह (दीव) — नन्दीश्वर द्वीप, अष्टम द्वीप ३.६.१२

णीउ — नीच, निम्न, गोत्र कर्म का एक भेद, नीच गोत्र कर्म ४.५.१०

णीससंति — नि:श्वास छोड़ना ४.९.९

त

तइया — उसे, उस समय ३.८.४० (गा.)

तक्क — तर्क ४.६.१०

तक्कर — तस्कर, चोर, लुटेरा २.४.५

तच्च — तत्त्व, पुद्गल, भूत, महाभूत, वास्तव, सूक्ष्म, सत्त्व ४.३.९

तज्जियइ — त्यागना, तजना २.२२.१६

तडत्ति — तड तड़ की आवाज २.७.११ (गा.)

तण — तनु, शरीर, वपु, विग्रह, आत्मालय, इन्द्रियायतन, कंकालय, जीवगृह, व्याधि मन्दिर, जीवपरिधान, पिंजरा, काय, कलेवर, जीवरथ, बदन १.४.३

तणजा — तनुजा, अंगजा, पुत्री, सुता, कन्या, नन्दिनी, वंशोद्भवा, आत्मोद्भवा, कुलंधरा, आत्मजा, धी, जाया १.४.७

तणु तिल्लिउ भिंगिउ — तैल मर्दन, मालिश, अंगमर्दन, सम्मर्दन १.६.७

तणुब्भव — तनूद्भव, अंगज, पुत्र ४.६.१

तत्त — तप्त, संतप्त, दु:खित, पीड़ित, तपा हुआ २.२३.१४

तत्तसमुज्जलकणयदेह सं. [तप्त समुज्वल कनक देह] तपे हुए जाज्वलयमान स्वर्ण के समान देह ३.८.७

तम सम — अन्धकार के समान २.१२.१३

तम्मि — तम, अन्धकार में, अँधेरे में २.४.१४

तलारु — तलवर, कोतवाल २.२.१४

तव — आपकी, तुम्हारी २.२.१५

तवइ — तपना, गर्म होना, उष्ण होना, संतप्त होना, जलना २.३.२

तवखीणा — तप क्षीण, तप से क्षीण हुई १.१३.२२ (गा.)

तसइ — त्रसित होना, भयभीत होना, डरना २.१५.१५ (घ.)

ताउ — तात, पिता, जनक २.२७.६

ताडंक — कर्ण, कुण्डल, बड़ी बालियाँ १.४.४

ताडणु — ताडना, कष्ट पहुँचाना, पीड़ा देना, प्रताड़ित करना ४.४.४

ताण — त्राण, मुक्ति, छुटकारा ३.८.४० (गा.)

तामलित्तु — ताम्रलिप्त नामक नगर, बंगदेश की प्राचीन राजधानी २.२७.८

तारसर — उच्चस्वर, ऊँची आवाज १.१४.२१

ताल — करताल, ताजी बजाना १.७.८

तावियंगु — तप्तांग वाला, तप से जिसके अंग तप गए हैं वह ४.६.७

तिगुत्ति — त्रि गुप्तियाँ (मन, वचन और काय का गोपन) १.१.२ (घ.)

तिजोइ — त्रियोग, तीनों योग (मन, वचन और काया की चेष्टाएँ) ४.३.२

तिणकट्ठ — तृण काष्ठ, तृण तथा शुष्क अरणियाँ ३.४.१

तिपयाहिण — [त्रिप्रदक्षिण] तीन प्रदक्षिणा, तीन

परिक्रमा ४.३.२
तीन मकार (मद्य. मांस. मधु) ४.८.२५
स्निग्ध/आर्द्र देह २.१.५
तिलक द्वीप अर्थात् सर्व द्वीपों में श्रेष्ठ द्वीप १.२.३
सुर नर्तकी, अप्सरा १.३.३
तीसरा. तृतीय ४.६.८
टूटना, विखरना. नष्ट होना १.११.२४
न्यून. कमजोर. शक्तिहीन करना, (प्राचीन गुजराती शब्द) ३.२.२
तुरंग, अश्व, हय, घोड़ा. सैंधव. हयंद, रथवाह, युद्धसार ३.९.३
तुरन्त, शीघ्र १.१३.१२
तुरंग, घोड़ा, अश्व, हय १.१३.१४
चतुर्थ, चौथा १.१.१२
तुलना, समान, उपमा, बराबर १.३.१०
तुष, छिलका ३.९.४३ (गा.)
उच्चस्वर, ऊँची आवाज २.७.१३
वन्दनवार, मेहराव, शुककूट, कण्ठ, हलक, ग्रीवा १.२.४

थ

स्थान, घर, जन्मभूमि, जन्मस्थान, आवास, धाम १.११.१८
स्थावर, केन्द्रिय जीव २.१०.२५
ठहर-ठहर ३.१.१ (दु.)
स्थिर योनी, गर्भवती २.६.८ (गा.)
स्तुति, गुण संकीर्तन, स्तवन, स्तव, प्रार्थना, महिमा गीत, गुणकथन, कीर्ति वर्णन १.६.४
थोड़ी सी दूरी पर, अल्प अन्तराल पर ३.४.१७
स्तम्भावष्टम्भ, स्तम्भ के सहारे अवस्थित होना १.१३.२३ (गा.)

धक्कइ रहना. बैठना. स्थिर होना. नीचे जाना. थकना. शान्त होना २.२.१४
धक्कउ ठहराना (ठहरा हुआ). शान्त होना. थकना. स्थिर होना २.२७.९
धणवत्तु स्तनमुख. चुचुक. कुचमुख. कुचाग्र. चुसनी १.१७.७
धप्पि स्थापित करना. ठहरना १.११.१८

द

दइया दयिता. दारा. पत्नी. भार्या. भामिनी. अर्धांगिनी. अंक शायिनी १.३.१३
दइव दैव, पति. भाग्य. विधि. नियति १.११.९
दक्खण दक्षिण २.२७.१५
दच्छि दक्षा, निपुणा. सयानी. चतुरा २.७.२
दडि वाद्य विशेष २.२७.५
दप्पु दर्प. गर्व, अभिमान. हेकड़ी १.१.२
दब्भग्ग दर्भाग्र, दर्ब का अग्रभाग, दूर्वा के नुकीले कोर २.३.४
दल्लिजइ दलित करना २.२२.१९ (दु.)
दव परिहास, द्रव. जल. पानी. तरल पदार्थ १.१५.४० (गा.)
दहइ तपना, जलना, दहना १.४.६ (गा.)
दहण दहन, जलन, अग्नि (चिता) प्रवेश ३.९.८
दाइउ दायद, उत्तराधिकारी, पितृ दाय, विरासत २.८.१४
दाणसाल दानशाला, अन्नशाला, अतिथिशाला, अन्नपूर्णा, सिद्धान्नगृह २.२३.२५ (घ.)
दारणत्थु विदारणार्थ, फाडने के लिए, काटने या चीरने के लिए २.६.१३
दारावेखणु द्वारापेक्षण (द्वार पर खड़े होकर अतिथि की प्रतीक्षा करना) पड़गाहन क्रिया,

पात्र को प्रतिगृहीत करने की एक विधि २.२२.१४

दारिय दारित, विदारित ३.३.६

दावए दिखलाना ३.७.५ (दु.)

दिग इयर दूसरी आँख ३.७.५

दिगमिग मृगनेत्र, मृगनयन, मृगलोचन, मृगाक्ष, हरिणाक्ष १.३.८

दिद्ठिपह दृष्टिपथ, नयनगामी, नजर आना, नेत्रमार्ग, आँखों में आना, दिखलाई देना, दृष्टिगोचर, नयनगोचर १.१३.३१ (गा.)

दिढासु दृढाशा, ढिढासा, धैर्य, दृढ़ता १.१२.३

दिणेसर दिनेश, सूर्य, अर्चिमाली, सहस्ररश्मि २.४.४ (घ.)

दित्ति दीप्ति, कान्ति, प्रखरता, प्राखर्य, तैजस १.२.५

दिवंत दैदीप्यमान १.१३.१९

दिवंत भालु दैदीप्यमान ललाट, भाग्यशाली १.२.१५

दिव्ववसा दैववश, कर्माधीन २.१५.४५ (गा.)

दीवाण बहुत से द्वीप, दीप समूह १.२.१

दीविय दीपित, चमकदार, दैदीप्यमान १.४.३

दीहर दीर्घ, लम्बा १.८.२

दीहरोस दीर्घ रोष, तीव्र क्रोध १.१५.३४ (गा.)

दुगिज्झि दुर्ग्राह्य २.३.८

दुगंछि जुगुप्सा, ग्लानि, घृणा, विचिकित्सा १.१२.१३

दुघुट्टरासि दुःखों की राशि २.२३.७

दुत्थावत्थो दुस्थितावस्था, दुःखी हालत १.९.१४ (गा.)

दुत्थिय दुस्थित, दुखी जन, दुखी अवस्था ३.१०.१२

दुदंत दुर्दांत ३.३.२० (गा.)

दुप्पोस दुष्पोष्य, पोषण के अयोग्य २.२३.७

दुभिक्खु दुर्भिक्षु, खोटे भिखारी २.२.२०

दुल्लहु दुर्लभ, अप्राप्य, अलभ्य, ईद का चाँद, कठिन, दुष्प्राप्य, दुरधिगम ४.३.१६

दुव्वक्खय दूर्वाक्षत १.१३.१६

दुव्वार दुर्वार (जिसका निवारण करना अत्यन्त कठिन हो) ४.४.१६

दुसज्झि दुसाध्य, दुर्ग्राह्य २.१०.१७

दुहगा दुर्भाग्य शालिनी १.८.३

दुहलेहा दुख की लेखा स्वरूप ३.५.१

दुहसायरि दुख सागर में, शोक समुद्र १.१.११

दुहियह दुखिया ३.१.७

देउ देव, अरहन्त, भट्टारक, चतु र्निकाय के देव २.१६.६

देव वस्त्र दिव्य वस्त्र, देवोपुनीत वस्त्र ३.२.२ (दो.)

देवलि देवघर, जिनगृह, जिनमन्दिर, देवालय १.५.१७

देवलु देव, देवता, आराध्य २.१९.३

दोवइ द्रौपदी, अर्जुन की पत्नी १.१.८

दोहयारि द्रोहकर्ता, द्रोहकारी ४.४.१३

दोहलु दोहला, दोहद, गर्भवती स्त्री की गर्भ काल में होनेवाली इच्छा १.२.४

दंत जंत दन्त रूपी यन्त्र ३.३.२० (गा.)

दंसण दर्शन, श्रद्धान १.३.९

दंसणाहिलास दर्शनाभिलाषा, दर्शनेच्छा, देखने की इच्छा ३.१०.११

ध

धगधगंतु धगधगाती ३.४.८

धण दिसा धन की दिशा अर्थात् उत्तर और ऐशान दिसा २.२०.१७ (दु.)

धणंजउ धनञ्जय, मृगांकलेखा का भ्राता, अग्नि, अर्जुन का एक नाम २.२.५

धनद, वैश्रवण का पुत्र २.६.१० (गा.)
धनवती, वैश्रवण श्रेष्ठी की प्रिया, मृगांकलेखा के पुत्र सुरेन्द्रदत्त कुमार को पालने वाली स्त्री २.६.१०
धनसार श्रेष्ठी, मृगांकलेखा का पिता, विपुल सम्पदा का स्वामी १.२.१६
धमाका की आवाज, किसी वस्तु/व्यक्ति के गिरने की आवाज २.९.१४
धर्मोपदेश, धर्माख्यान, धर्म कथा २.१६.१
धर्म, शुभ कार्य, प्रशस्त कर्म ३.७.१० (घ.)
ध्वजा, पताका, झंडा, वैजयन्त, केतन, केतु, परचम १.२.८
धरा, पृथ्वी, धरती १.७.६
पर्वत, गिरि, नग, अचल, शैल ३.१.१२
धरा का अग्रभाग, पृथ्वी का ऊपरी तल, धरातल २.३.२
भूपति, वसुधाधिय ३.५.१५
धातकी वृक्ष, वृक्ष विशेष २.७.७
घबराया हुआ, घबरा गया २.७.६
धावमान, दौड़ना १.८.१५
आक्रन्दन करना, आर्त्तनाद करना २.७.१३
धृष्टा, हठीली, जिद्दी २.१.१२
धूया, पुत्री, अंगजा, तनुजा, आत्मजा, आत्मोद्भवा, सुता २.३.१६
धूर्तता, कुटिलता, काइयाँपन, टेढ़ापन, वंचकता, हेराफेरी इत्यादि से गढ़ा/भरा शरीर २.१४.७
धुरा को धारण करने वाला २.२४.११
ध्येय, उद्देश्य, लक्ष्य २.१९.१८

न

निरखिया — निरखिया, निरखना, निहारना, अवलोकरन करना १.१३.५ (दो.)

प

पइ — तुम, पति १.७.८
पइट्ठ — प्रविष्ट, प्रवेश करना ३.३.२२
पइडंतह — प्रकट होने पर १.१७.३
पइत्त(त्ते) — प्रयत्न, यत्नपूर्वक २.२२.१६
पइ पंकइ — पदपंकज, चरण कमल १.५.१२
पइवइ — पतिव्रता, सती स्त्री, पतिवती २.८.९
पइंपइ — कहना, कथन करना ३.३.१०
पइसार भू — प्रतिसार नामक राजा ३.३.१०
पउ — पद, स्थान ३.२.२२
पउम — पद्म, कमल, उत्पल, अम्बुज, सरसिज, सरोज, अरविन्द, रामचन्द्र का अपर नाम, संख्या वाचक, एक सरोवर का नाम, चक्रवर्ती की नव निधियों में से एक निधि १.२.२०
पउमदेउ — पद्मदेव, एक ब्राह्मण ४.६.१७
पउरजण — पुरजन/पुरवासी ४.९.२१ (गा.)
पक्खीव — पक्षी के समान ३.२.७ (गा.)
पक्खो — पंख, पाँख ३.२.७ (गा.)
पच्चत्तु — प्रत्याख्यान, त्याग, उपवास पूर्वक ३.१.२ (घ.)
पच्छण्ण वेसि — प्रच्छन्न वेश, बदला हुआ वेश २.८.१९
पज्जलइ — प्रज्ज्वलित होना, ईर्ष्या से जल जाना २.१.२
पज्जलिर — प्रज्ज्वलित, खौलता हुआ २.७.११ (गा.)
पज्जालि — प्रज्ज्वलित, जलाना, ३.४.२
पजाइ — पर्याय, अवस्था विशेष २.१८.४
पट्टणि — पत्तन, नगर, शहर २.२०.३

गडकुडी पटकुटी, वस्त्र कुटी, तम्बू, वस्त्र गृह २.२७.३

गडहघोस पटहघोष, मुनादी, नगर घोषणा २.१५.२३ (दो.)

गडिच्छहि प्रतीक्षा करना, स्वीकार करना, ग्रहण करना १.१३.३

गडिणीउ प्रत्यनीक, विरोधी, प्रतिद्वन्द्वी, विपरीत ४.३.२२

गडिम प्रतिमा, जिन चैत्य १.२.४ (घ.)

गडिवज्जउ भेजना, प्रेषित करना, पहुँचाना १.१०.३

गडिय प्रतिज्ञा, सौगन्ध, उद्देश्य, नियम बद्धता २.२०.२२ (घ.)

गडिहारु प्रतिहारी, कोतवाल, राजकर्मचारी २.१४.१७

ाडुर पाड़ा, भैंस का बच्चा १.१६.११ (दो.)

ाढम दीउ प्रथम द्वीप अर्थात् जम्बूद्वीप १.२.१

ाणइणि प्रयणिनी, प्रियपत्नी, प्राणप्रिया, प्रणीता, मनमोहिनी १.८.५

ाणगुरु पंच परमेष्ठी, अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु १.३.२

ाणवहि प्रणति, प्रणाम करना १.१.३

ाण्ह प्रश्न १.५.२

ाणामु अर्पण करना, भेंट करना २.१४.५

ात्तदाणु पात्रदान, अतिथि संविभाग, आहार दानादि १.११.२३

ात्थण प्रार्थना, अभ्यर्चना, निवेदन, आमन्त्रण, अनुग्रह १.६.४

ात्थाण प्रस्थान, गमन १.१३.१६

ात्थावो प्रस्ताव, प्रसंग १.६.७ (गा.)

ापुच्छइ पूछना १.११.१८

ाभट्ठ प्रभ्रष्ट, मार्ग भूलना, पथभ्रष्ट ३.५.१६

ाभायं प्रभात, विहान, भोर, सुवह, प्रातःकाल २.१२.४० (गा.)

पमाय प्रमाद, आलस, कुशल कार्यों में अनादर का भाव ४.५.९

पमिट्ठि परमेष्ठी का भक्त २.२४.३

पमिल्लहि (प्र-मील) विशेष संकोच करना, सकुचना २.१०.१

पमुहा प्रमुखा, प्रधानस्त्री, ज्येष्ठा, मालकिन ३.९.१६

पय पद, चरण, दूध, क्षीर, जल, किसी छन्द का एक चरण १.१.३

पयचारी पदचारी, पैदल चलनेवाला ४.२.२ (घ.)

पयड प्रकट, सम्मुख होना १.१७.१

पयडइ प्रकट होना, उत्पन्न होना १.५.१९ (घ.)

पयडरुअ प्रकट रूप, प्रत्यक्ष ३.३.१०

पयडु प्रत्यक्ष, प्रकट २.१७.१७

पय-पय पद-पद, कदम-कदम ३.३.१२ (गा.)

पयलिय प्रचलित, स्खलित, गिरा हुआ २.२.२ (घ.)

पय लुलंत चरणों में लोटना ३.९.९

पयाणु प्रयाण, प्रस्थान, गमन, प्रदान, दान, वितरण, प्रतान, विस्तार २.२७.१५

पयार प्राकार, प्राचीर, परकोटा १.२.३

पयासइ प्रकाशित करना ३.५.१२

पयूस पूर पीयूष पूर, अमृत प्रवाह ३.९.३

परएसणि परदेशिनी, दूसरे देश की स्त्री २.१४.१२ (दु.)

परमक्खरु परमाक्षर, उत्कृष्ट अक्षर, कल्याणप्रद अक्षर, स्वस्तिवाचक शब्द १.१४.११

परमावहि परमावधि ज्ञान २.१५.१६ (च.)

परमूसउ परमोत्सव ३.६.९ (घ.)

परवित्त पराया धन १.२.१७

परवंचनीक, दूसरों को ठगनेवाला, परवंचक, ठगिया, धूर्त्त ४.५.१२
पराभव, तिरस्कार, अनादर १.११.१९
परिणय, विवाह ३.२.५ (दो.)
प्रणाम करना १.३.४ (गा.)
परिमित, सीमा, मर्यादा, परिमाण युक्त २.२७.२४ (दु.)
परिजन, बन्धु वर्ग २.४.८
परिपाटी, परम्परा, पंक्ति ३.३.१७ (गा.)
स्पर्श, छूना १.१५.२
पराभव, अपमान १.११.१ (दु.)
परिखा, खाई, खतिका, उपकुल्या, नगर परिखा, जो नगर की सुरक्षा हेतु चारों ओर खुदी होती है जिसमें घुटनों या कमर पर्यंत पानी भरा होता है १.२.३
परिभ्रमण करना, भटकना, डोलना
परिभ्रमण करता हुआ (व.कृ) ३.३.१० (गा.)
पुरोहित, पुरोधा २.२४.२६ (घ.)
प्रारम्भ, आरम्भ, उपक्रम, प्रतिपत्ति, शुरुआत, समारम्भ, सूत्रपात ४.४.१९
पलायन करना, भाग जाना, चले जाना २.१२.८
चोरों का गुप्त निवास स्थान ३.५.१८
पल्लीपति, भीलों का सरदार ३.५.१७
पसरता हुआ, प्रसरमान, फैलता हुआ, प्रवर्धमान, बढ़ता हुआ ३.१.१४
वायव्य दिशा २.२०.१७ (दु.)
पवनवेग, वेगगामी ४.७.१०
प्रवर, ज्येष्ठ, अधिवयस्क, वरिष्ठ, श्रेष्ठ, जेठा ४.४.१७

पवर पाउ प्रवर पाप, उत्कृष्ट पाप, उत्कृष्ट पाप, महान् पाप १.९.२
पवर सत्ति प्रवर शक्ति, पूरी ताकत १.८.१६
पवरा [प्रवर:] उत्कृष्ट ३.६.७
पवंग प्लवग, बन्दर, कपि, वानर २.२१.५
पवंचु प्रपञ्च २.२६.११
पवसिय प्रवासी ३.५.१०
पवि वज्र, इन्द्रास्त्र ३.२.७ (गा.)
पवीणु प्रवीण, दक्ष, चतुर, निपुण १.२.१२
पव्वणि पर्वों में, पवित्र दिनों में १.५.१६
पसत्त प्रसक्त, आसक्त, अनुरक्त, राग युक्त २.८.१२ (गा.)
पसत्थ प्रशस्त, श्लांघनीय, शुभ, कल्याणकारी, अत्युत्तम, अतिशयी १.१.१ (घ.)
पसत्थो पार्श्वस्थमुनि, जैनश्रमण जो सुख पूर्वक वसतिका में प्रतिबद्ध रहते हैं, प्रशस्त, पार्श्व में स्थित २.१८.५२ (गा.)
पसिद्ध प्रसिद्ध, विख्यात १.४.८
पसुत्त प्रसुप्त, गहरी नींद में सोना, गहन निद्रा २.१३.३
पह पथ, मार्ग, रथ्या, रास्ता १.२.५
पह प्रभा, दीप्त, कान्ति, आभा, तेज ४.१.८
पहणिरोह पथनिरोध, मार्गरोकना, पथप्रतिबन्धी १.२.५
पहरण आयुध, शस्त्र, प्रहार क्रिया १.१५.१०
पहरीण प्रहर हीन (रात्रि का एक प्रहर शेष रह जाने पर), पश्चिम रात्रि २.१२.१२
पहाइ प्रभात, प्रातःकाल, प्रत्यूष १.३.१
पहारु प्रहार, आघात ३.२.११
पहाल उत्तम ढाल २.२१.६

पडकुडी — पटकुटी, वस्त्र कुटी, तम्बू, वस्त्र गृह २.२७.३

पडहघोस — पटहघोष, मुनादी, नगर घोषणा २.१५.२३ (दो.)

पडिच्छहि — प्रतीक्षा करना, स्वीकार करना, ग्रहण करना १.१३.३

पडिणीउ — प्रत्यनीक, विरोधी, प्रतिद्वन्द्वी, विपरीत ४.३.२२

पडिम — प्रतिमा, जिन चैत्य १.२.४ (घ.)

पडिवज्जउ — भेजना, प्रेषित करना, पहुँचाना १.१०.३

पडिय — प्रतिज्ञा, सौगन्ध, उद्देश्य, नियम बद्धता २.२०.२२ (घ.)

पडिहारु — प्रतिहारी, कोतवाल, राजकर्मचारी २.१४.१७

पडुर — पाड़ा, भैंस का बच्चा १.१६.११ (दो.)

पढम दीड — प्रथम द्वीप अर्थात् जम्बूद्वीप १.२.१

पणइणि — प्रयणिनी, प्रियपत्नी, प्राणप्रिया, प्रणीता, मनमोहिनी १.८.५

पणगुरु — पंच परमेष्ठी, अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु १.३.२

पणवहि — प्रणति, प्रणाम करना १.१.३

पण्ह — प्रश्न १.५.२

पणामु — अर्पण करना, भेंट करना २.१४.५

पत्तदाणु — पात्रदान, अतिथि संविभाग, आहार दानादि १.११.२३

पत्थण — प्रार्थना, अभ्यर्चना, निवेदन, आमन्त्रण, अनुग्रह १.६.४

पत्थाण — प्रस्थान, गमन १.१३.१६

पत्थावो — प्रस्ताव, प्रसंग १.६.७ (गा.)

पपुच्छइ — पूछना १.११.१८

पभट्ठ — प्रभ्रष्ट, मार्ग भूलना, पथभ्रष्ट ३.५.१६

पभायं — प्रभात, विहान, भोर, सुवह, प्रातःकाल २.१२.४० (गा.)

पमाय — प्रमाद, आलस, कुशल कार्यों में अनादर का भाव ४.५.९

पमिट्ठि — परमेष्ठी का भक्त २.२४.३

पमिल्लहि — (प्र-मील) विशेष संकोच करना, सकुचना २.१०.१

पमुहा — प्रमुखा, प्रधानस्त्री, ज्येष्ठा, मालकिन ३.९.१६

पय — पद, चरण, दूध, क्षीर, जल, किसी छन्द का एक चरण १.१.३

पयचारी — पदचारी, पैदल चलनेवाला ४.२.२ (घ.)

पयड — प्रकट, सम्मुख होना १.१७.१

पयडइ — प्रकट होना, उत्पन्न होना १.५.१९ (घ.)

पयडरुअ — प्रकट रूप, प्रत्यक्ष ३.३.१०

पयडु — प्रत्यक्ष, प्रकट २.१७.१७

पय-पय — पद-पद, कदम-कदम ३.३.१२ (गा.)

पयलिय — प्रचलित, स्खलित, गिरा हुआ २.२.२ (घ.)

पय लुलंत — चरणों में लोटना ३.९.९

पयाणु — प्रयाण, प्रस्थान, गमन, प्रदान, दान, वितरण, प्रतान, विस्तार २.२७.१५

पयार — प्राकार, प्राचीर, परकोटा १.२.३

पयासइ — प्रकाशित करना ३.५.१२

पयूस पूर — पीयूष पूर, अमृत प्रवाह ३.९.३

परएसणि — परदेशिनी, दूसरे देश की स्त्री २.१४.१२ (दु.)

परमक्खरु — परमाक्षर, उत्कृष्ट अक्षर, कल्याणप्रद अक्षर, स्वस्तिवाचक शब्द १.१४.११

परमावहि — परमावधि ज्ञान २.१५.१६ (घ.)

परमूसउ — परमोत्सव ३.६.९ (घ.)

परवित्त — पराया धन १.२.१७

परवंचनीक, दूसरों को ठगनेवाला, परवंचक, ठगिया, धूर्त्त ४.५.१२
पराभव, तिरस्कार, अनादर १.११.१९
परिणय, विवाह ३.२.५ (दो.)
प्रणाम करना १.३.४ (गा.)
परिमित, सीमा, मर्यादा, परिमाण युक्त २.२७.२४ (दु.)
परिजन, बन्धु वर्ग २.४.८
परिपाटी, परम्परा, पंक्ति ३.३.१७ (गा.)
स्पर्श, छूना १.१५.२
पराभव, अपमान १.११.१ (दु.)
परिखा, खाई, खतिका, उपकुल्या, *नगर परिखा, जो नगर की सुरक्षा हेतु* चारों ओर खुदी होती है जिसमें घुटनों या कमर पर्यंत पानी भरा होता है १.२.३
परिभ्रमण करना, भटकना, डोलना
परिभ्रमण करता हुआ (व.कृ) ३.३.१० (गा.)
पुरोहित, पुरोधा २.२४.२६ (घ.)
प्रारम्भ, आरम्भ, उपक्रम, प्रतिपत्ति, शुरुआत, समारम्भ, सूत्रपात ४.४.१९
पलायन करना, भाग जाना, चले जाना २.१२.८
चोरों का गुप्त निवास स्थान ३.५.१८
पल्लीपति, भीलों का सरदार ३.५.१७
पसरता हुआ, प्रसरमान, फैलता हुआ, प्रवर्धमान, बढ़ता हुआ ३.१.१४
वायव्य दिशा २.२०.१७ (दु.)
पवनवेग, वेगगामी ४.७.१०
प्रवर, ज्येष्ठ, अधिवयस्क, वरिष्ठ, श्रेष्ठ, जेठा ४.४.१७

पवर पाउ प्रवर पाप, उत्कृष्ट पाप, उत्कृष्ट पाप, महान् पाप १.९.२
पवर सत्ति प्रवर शक्ति, पूरी ताकत १.८.१६
पवरा [प्रवर:] उत्कृष्ट ३.६.७
पवंग प्लवग, बन्दर, कपि, वानर २.२१.५
पवंचु प्रपञ्च २.२६.११
पवसिय प्रवासी ३.५.१०
पवि वज्र, इन्द्रास्त्र ३.२.७ (गा.)
पवीणु प्रवीण, दक्ष, चतुर, निपुण १.२.१२
पव्वणि पर्वों में, पवित्र दिनों में १.५.१६
पसत्त प्रसक्त, आसक्त, अनुरक्त, राग युक्त २.८.१२ (गा.)
पसत्थ प्रशस्त, श्लांघनीय, शुभ, *कल्याणकारी, अत्युत्तम, अतिशयी* १.१.१ (घ.)
पसत्थो पार्श्वस्थमुनि, जैनश्रमण जो सुख पूर्वक वसतिका में प्रतिबद्ध रहते हैं, प्रशस्त, पार्श्व में स्थित २.१८.५२ (गा.)
पसिद्ध प्रसिद्ध, विख्यात १.४.८
पसुत्त प्रसुप्त, गहरी नींद में सोना, गहन निद्रा २.१३.३
पह पथ, मार्ग, रथ्या, रास्ता १.२.५
पह प्रभा, दीप्त, कान्ति, आभा, तेज ४.१.८
पहणिरोह पथनिरोध, मार्गरोकना, पथप्रतिबन्धी १.२.५
पहरण आयुध, शस्त्र, प्रहार क्रिया १.१५.१०
पहरीण प्रहर हीन (रात्रि का एक प्रहर शेष रह जाने पर), पश्चिम रात्रि २.१२.१२
पहाइ प्रभात, प्रातःकाल, प्रत्यूष १.३.१
पहारु प्रहार, आघात ३.२.११
पहाल उत्तम ढाल २.२१.६

पहावण प्रभावना, सम्यग्दर्शन का आठवाँ भाग १.२.१२

पहिट्ठ प्रहृष्ट, आनन्दित, हर्ष प्राप्त २.२७.६४ (गा.)

पहिलारउ पहला, प्रथम २.१६.५

पहु प्रभु, नाथ, जीवनाधार, स्वामी, प्राणेश १.१६.५

पहुदा प्रभुता, बड़प्पन, महत्त्व १.७.९ (गा.)

पहूव प्रभूत, प्रचुर, विपुल, बहुत ४.६.२२

पाइग पैदल, पदचारी ३.१.३

पाडिहेरा प्रातिहार्य, देवकृत अतिशय, चमत्कार २.१५.४८ (गा.)

पामारु पामर, अज्ञानी, मूर्ख, कृषक, कृषीबल १.१६.११ (दो.)

पारणउ पारणा, उपवास के बाद किया जाने वाला प्रथमाहार, उपवास खोलना १.१४.९

पारावरय पारावत, कबूतर २.२१.५

पालेय प्रालेय, हिम, बर्फ ३.३.२४ (गा.)

पाव खित्त पापक्षेत्र, पापस्थान, पाप धाम, अनायतन २.१०.१७

पावपडलु पाप पटल, कल्मष राशि, दुरित समूह २.२१.२३ (घ.)

पावरासि पापराशि, दुर्भागी, मुँहजली १.११.४

पाव विवाग पाप विपाक, पाप फल २.३.३ (घ.)

पावस वर्षाऋतु ३.५.१०

पाविट्ठ पापिष्ठ, पापात्मा ४.७.३ (गा.)

पाविणी पापिनी, पापिष्ठा ३.२.४ (दो.)

पाहण पाहन, पाषाण, पत्थर, अश्म, उपल, प्रस्तर, शैल, शिला, चट्टान १.१५.१४

पाहणि पाहन, पाषाण, पत्थर २.१५.१५

पाहाण पाषाण, पत्थर, कठोर, चट्टान, उपल ३.७.२०

पाहुड प्राभृत, भेंट, अध्याय २.१७.२

पिक्खापिक्खी देखादेखी २.१९.२४

पिच्छइ देखना ३.३.११ (गा.)

पिच्छंतो देखता हुआ

पिच्छह देखो १.१३.२८ (गा.)

पिज्जइ पीना, पीने की क्रिया १.८.११

पिट्ठि पृष्ठभाग, पीठ ४.१.५

पिम्मि प्रेम, स्नेह, ममता, अनुराग, मुहब्बत, नेह, प्रणय, प्रीति २.८.३

पिय दिट्ठि प्रिय दृष्टि, करुणा दृष्टि, दया दृष्टि, कृपा दृष्टि २.१९.१६ (दु.)

पिय पियर भज्ज प्रिय के पिता की भार्या, सासू १.११.५

पिल्लि पेलना, टालना २.२६.१४

पिसल्ल पिशाच, व्यन्तर योनिक, देवों की एक जाति ३.३.१८ (गा.)

पिसाय पिशाच १.३.२२ (गा.)

पीइ प्रीति, प्रेम, स्नेह, अनुराग, रति, राग, नेह, प्यार, इश्क़, उलफ़त, आशिक़ी ३.१०.३

पीउ पीत, पीला, पाण्डुर ४.९.६

पीणिज्जइ प्रीति करना, प्रेम करना, अनुराग करना ४.५.१८

पीलणु पीडन, स्तनमर्दन ४.७.९

पुट्ठ पोटली, गठरी, पूछना १.१२.७

पुट्ठि पुष्टि, पीछे, पृष्ठभाग ४.८.८

पुण्णमुत्ति पुण्यमूर्ति, सौभाग्यवती, सुभगा १.११.१९

पुलयंत पुलकित, प्रसन्न, हर्ष विभोर ३.३.१२ (घ.)

पुलिण पुलिन, सरित्तट, नदी किनारा ३.३.१२ (गा.)

पुव्वविति पूर्व वृत्तान्त ३.५.१२

पुसइ पोंछना, मिटाना २.४.६

जा, अर्चना, आराधना, उपासना, न्या, अभ्यर्थना, अभिनन्दना, मचर्या १.३.४ (घ.)

स्तक, शास्त्र, ग्रन्थ ४.६.७

षण करना, पालन पोषण १.२.१२

क युक्त, पंक से मलिन, कीचवाला १३.२१ (गा.)

गण, आँगन, चौक १.२.३ (घ.)

च पात्र, पाँच प्रकार के पात्र २.२३.३

चानन, मृगराज, वनराज, सिंह, ार्दूल, नाहर ४.५.१५

चास्रव, पाँच प्रकार के आस्रव, र्मास्रव के पाँच भेद ४.५.११

च उदम्बर फल (बड़, पीपल, ऊमर, ठूमर, अंजीर) ४.८.२५

वेत, पाण्डु, फीका कान्तिहीन .१७.५

श्चलि, कुलटा स्त्री २.१.१०

फ

रकना, स्फुरणा १.१३.१२ (घ.)

रुष, कठोर, निष्ठुर ४.४.१

ुरायमान, फैला हुआ, विस्तीर्ण .१५.७

ोड़ना, फोड़ना, ध्वस्त करना, नीचे ारना, टूटना, पलायन करना, भागना, ्र करना, मिटाना ३.२.९

पष्ट १.५.४

रकना, फुरफुराना १.१४.२२

वकसित कमल, नूतन सरसीरुह .७.१२

्र करना, मेंटना २.२.११

ब

लराम (बलभद्र) श्रीकृष्ण (नारायण) १.७.९ (गा.)

बाहु बाधा, हर्त, हानि, नुकसान, घाटा १.१६.३ (सो.)

बिंभय विस्मय, आश्चर्य, कौतुक ३.९.१५

बुज्झिज्जइ बूझना, पूछना १.१४.२१

भ

भउ भय, भीति, डर, आतंक, खौफ़, ख़तरा २.४.८

भंति भ्रान्ति, सन्देह, शंका, भ्रम ४.२.२

भंभा-भेरी वाद्य विशेष १.७.१

भज्ज भग्न, विनाश, अनिष्ट १.१२.५

भज्ज [भार्या] पत्नी, भामिनी, अर्द्धांगिनी ३.८.९

भज्जकहा स्त्रीकथा १.१०.१० (घ.)

भत्तार भर्ता, पति, स्वामी, नाथ, प्राणेश १.२.१३

भद्दलउरणयरि भद्दलपुरनगरी (वर्तमान, विदिशा नगर) २.८.१३

भड भट, भाण्ड, भार, पात्र १.१५.७ (दु.)

भर (भर) गुच्छ, निकर, समूह, प्रकर, जाल १.१५.३९ (गा.)

भल्लउ भला, उचित, श्रेष्ठ, उत्तम १.१०.५

भल्लि भाला, अस्त्र विशेष ४.६.२०

भवसाइरि संसारसमुद्र, भवसागर १.५.१४

भवित्ति भवितव्यता, होनहार २.४.२३

भिउडी भृकुटि, भौंह, तेवर, भ्रू २.१५.१६

भिंगु भृंग, भ्रमर, भौंरा, अलिन्द, अलि, षट्पाद, गन्धमादन, पद्मबन्धु, मधुकर, भृंग, मकरन्द ४.३.५

भिच्च भृत्य, नौकर, सेवक, आवासीय सेवक, किंकर, कर्मकर, सैरन्ध्र, चर, अनुचर, अभिचर, पण्य १.१.५

भिट्ठ भ्रष्ट, शील च्युत ४.७.३ (गा.)

भित्ति — भित्ति, दीवार, प्राचीर, फ़सील, दीवाल १.१५.३९
भिल्लाहिउ — भिल्लाधिप, भिल्लराज, पल्लीपति, भील सरदार २.४.१५
भीउ — भीत, भयभीत, डरा हुआ ४.३.१८
भीतिचित्त — भीतिचित्र, स्थिरचित्र २.१०.१३ (दो.)
भीम विंझि — भयानक अटवी २.३.८
भुवणयल — भूतल, धरा, धरती, अचला, वसुधा, स्थिरा, रत्नगर्भा, अवनि, इला, जगती, जीवधानी, ज़मीन ३.६.३९ (गा.)
भूय — भूत, व्यन्तर योनि का देव, कौतुक प्रिय देव २.११.३१ (गा.)
भेय — भेद, प्रकार, कोटि, विभेद, संभेद श्रेणी १.३.४ (घ.)
भेरिरवाल — भेरियों का शब्द समूह, वाद्य विशेष से शब्दायमान, गुंजित २.२७.५
भोइ — भोग, उपभोग, सेवन, सेवा, भुक्ति, सम्भोग ३.९.९ (दो.)

म

मइंक मंडल — चन्द्र मण्डल, पूर्णेन्दु ३.२.२ (गा.)
मइंधु — मदान्ध, मद से अन्धा, मदोन्मत्त, दर्पान्ध ४.३.१९
मइयल्लिय — मृत, मारा जाना, मारा गया ३.४.५
मइरेह — मतिरेख एक तपस्वी २.१०.९
मइविसालु — विशालमति वाला, उदार बुद्धि १.२.१५
मइहीणु — मतिहीन, चेतना शून्य १.४.१४
मउणवउ — मौन व्रत २.१०.२० (गा.)
मउलि — मस्तक, सिर, मुकुट, किरीट, शिरोभूषण १.९.१२ (गा.)
मंसासी — मांसाशी, मांसाहारी, मांस खाने वाला ४.४.२१
मगणह — भिखारी, मंगता, याचक, रंक, याचिता १.७.३
मच्चलोक — मृत्युलोक, मर्त्यलोक, नरलोक, मध्यलोक २.२२.६
मत्सरु — मत्सर, मात्सर्य, ईर्ष्या, डाह, जलन ४.३.२२
मज्जण — मार्जन, स्नान, अशुद्धि शोधन, वाह्य शुचिता, शारीरिक शुचिता/शुद्धि, देहाभिषेक, देह प्रमार्जन १.६.८
मज्झण्ण — मध्याह्न बेला, दोपहर २.२७.२४ (दु.)
मज्झिउयेज — मध्य में, मध्य भाग में, बीचों बीच १.९.४
मण्णाविउ — मनाकर, मनुहार करके, अति आग्रह, साग्रह पूर्वक, विशेष अनुनय-विनय करके १.६.६
मणु भिज्जइ — मन भींगना, आर्द्र होना १.६.१२
मणोज्जु — मनोज्ञ, मनहर, चारु, ललित, सुन्दर, ललाम, लालित्य पूर्ण, मनोरम, सौम्य, मन को अच्छा लगने वाला १.३.४
मद्दव — मार्दव, मृदुता, विनम्रता ४.४.१७
मधुलिह — भ्रमर, मधुकर, मधुपायी २.२६.२६ (दो.)
मम्म — मर्म, रहस्य, भेद, आशय २.१०.३
मम्मरपत्त — शुष्क पत्र १.१५.४२
मयचारी — मृगचारी, जैन श्रमण का एक भेद (जो जिन सूत्र का उल्लंघन करने स्वच्छन्द होकर अकेला हिंडता रहता है/घूमता है) २.१८.५२ (गा.)
मयणदेहु — कामदेव, मकरध्वज, अनिरुद्ध, प्रद्मुम्न, पंचशर, कुसुमधन्वा, भस्मगात्र, अशरीर, रतिराज, वसंतसखा, हृदय निकेतन, झषकेतु, आत्मसंभव, मनसिज, मन्मथ, रतिनाथ, स्मरशर १.७.१६

कामदेव की पत्नी, मदनभार्या, रति, मन्मथप्रिया, शुभांगी १.२.१४

मृगनाभि गन्ध, कस्तूरी, मृगमद, हरिण की नाभि में होने वाली सुगन्धित वस्तु २.२१.२

उत्तम जाति के कृष्ण वर्णी मृग २.५.९

मृगारि, सिंह, मृगेन्द्र, केसरी, अरण्यराज २.१२.१

उलूक, मशक, घूक २.२१.५

हंस, कलकण्ठ, जालपाद, धवलपक्ष, मानसचारी, सुग्रीव, श्वेतगरुत, विधिवाहन, सारंग, कादम्ब १.१५.१५

हंस गति, हंस गमन १.३.८

मरूँगा या मारूँगा (दे.) ३.२.६

मलिन व्यापार, अस्त-व्यस्त दिन चर्या १.९.१४ (गा.)

मसूर, मसूरिका, धान्य विशेष २.२.७ (दो.)

महाकवि ३.९.६

मेरे/मेरा, हमारे २.४.७

माहात्म्य, प्रभाव, गौरव (प्रभुत्व) महत्त्व १.१.१

[महा महोत्सव] चैत्य सम्बन्धी महान् उत्सव ३.६.२८ (गा.)

भू वल्य, भू मण्डल, कुवलय, पृथ्वी मण्डल २.३.४ (दु.)

महित, पूज्य ३.३.११ (गा.)

महीपति, अवनिपति, अवनीश, भूपति, क्षितीश्वर, राजा १.१३.६

महिषी, भैंसी, तुरंग, सिप्रा, द्वेषिणी १.१६.११ (दो.)

महोत्सव, समारोह १.२.५

मधुरव, मधुरध्वनि, मधुस्वर १.१५.१६

महुरक्खर मधुराक्षर, पुण्यवर्धक शब्दावली प्रशस्ताक्षर, कर्ण प्रिय अक्षर २.२२.५

महुरी मधुरी, बसंत सेठ की पत्नी २.८.१५

महुलिहि मधुलिह, भँवर, भ्रमर, षट्पद, मधुप, मधुकर १.२.२०

माइ समाना १.१.६

माइल्लु मायावी, मायाचार करने वाला ४.४.२२

मारावयार मारावतार, कामदेव का अवतार १.२.६

मारोरवारो (मार उर वार) हृदय में लगा हुआ काम का वार, कामबाण १.९.१५ (गा.)

माल माला, सृग, पुष्पमाल, पुष्पहार, दाम, कंठाभरण, मुक्ताहार १.२.८

मास उड़द, माह २.१६.१५

मिच्छामय मिथ्यामत, खोटा मत ४.४.१३

मिदिमाणु मृदु स्वभावी, निरभिमानी २.२४.१६

मिल्लइ निकालना, हटाना, दूर करना ३.३.१५

मीस मिश्रित, मिला हुआ २.२५.२७ (घ.)

मुक्को छोड़ा हुआ ३.६.३४ (गा.)

मुच्छा मूर्च्छा, बेहोशी, मति शून्य १.३.१४

मुच्छि मूर्च्छा, मूर्च्छना, चेतनाहीन, बेहोशी, सम्मोह, निश्चेतनता, सकता, संज्ञाघात, अचेतता १.१५.६ (दु.)

मुट्ठी मुष्टिका, मुष्टि, मुक्का ४.७.९ (गा.)

मुड्ड मुण्डित शिर ४.७.३ (गा.)

मुणाल डाल भुय मृणाल के समान भुजाएँ, कमल नाल सदृश्य भुजाएँ २.१३.७

मुणिज्जइ जानना, ज्ञात करना २.१८.५१ (गा.)

मुणिय ज्ञात्वा, जानकर १.४.६ (गा.)

मुत्तिघरु मोक्षमहल, मुक्तिगृह, मुक्तिधाम। २.२२.२४ (घ.)

मुद्दरयण रत्नमुद्रा, रत्नजड़ितमुद्रिका १.१७.४
मूढ़ मूढ़ता, मूर्खता, पाखण्डता, मिथ्याचार, सम्यग्दर्शन का दोष २.१६.१५ (दु.)
मेरह सुदर्शन मेरु की स्वर्णाचल, अमराद्रि, सुरशैल १.२.२
मेस मेष, मेढ़ा १.१३.१४
मोइय मोदक, लड्डू २.२५.२७ (घ.)
मोउ मोद, प्रमोद, हर्ष, आमोद, आह्लाद, उत्साह, उल्लास, सम्मोद, हुलास, खुशी, आनन्द १.७.४
मोहणि मोहनीय कर्म १.१.२ (घ.)
मंजीर शृंखलक, साँकल, जंजीर, सिकड़ २.१४.११
मंडिउ मंडित, शोभित, शोभा युक्त १.२.१
मंतावाइ मंत्रवादी, मांत्रिक, गोझा २.१५.१५ (घ.)
मंति मन्त्रणा, परामर्श, सलाह, मशवरा, विचार-विमर्श १.१०.४
मंतिसरा मंत्रीश्वर, प्रधान अमात्य, प्रमुख सचिव २.११.८
मंतु मन्त्र १.५.५

र

रइ रज, धूलि, मिट्टी, मृदा, मृत्तिका २.१५.१४
रइरुइ रति रुचि, काम क्रिया, कामाभिलाषा, मैथुन, कामेच्छा, संभोग, रति रमण १.१६.१७ (घ.)
रइसुह रतिसुख, स्त्री सम्बन्धी सुख ३.९.२२ (घ.)
रउ-रव ध्वनि, आवाज, शब्द १.२.८
रक्खसि राक्षसी, राक्षस स्त्री, लिपि विशेष २.१२.१२
रडइ आरडइ, विलाप करना १.१५.४२ (गा.)
रणरणउ निश्वास, उद्वेग, पीड़ा, अधृति १.९.१५ (गा.)
रत्तं रक्त, आरक्त, अनुरक्त, आसक्त, अनुरागी १.१३.२७ (गा.)
रदि रति, श्रेष्ठ, रुचिकर, चारु, सुन्दर, मनोज्ञ ४.३.३ (दु.)
रम्म देहा सुन्दर देह वाली ३.२.९ (गा.)
रयण पंत्ति रत्नराशि, रत्नपंक्ति १.४.३
रयणमय रत्नमय १.१३.२३ (गा.)
रयणाहरणामल रत्नों के निर्मल आभरण, निर्मल रत्नाभूषण २.२१.१
रयणि रजनी, रात्रि, निशा, क्षपा, निशीथ, यामिनी, त्रियामा, तमा, विभावरी, निशि, कादम्बरी, तमस्विनी, दोषा, रैन १.२.२ (घ.)
रविपह सूर्य का मार्ग, रवि पथ १.२.५
रसउच्चोडण रसोच्चाटन, रस सूखना १.९.१६ (गा.)
रसवाइ रसवादी, रसायन वादी ३.२.३ (घ.)
रसविज्ज रसविद्या ३.५.११
रसिल्लु रसिक, रसिया, शौकीन ४.४.४ (दु.)
रसिल्लु भोज्ज रसीले भोज्य पदार्थ, रसवती रसोई २.२१.३
रह रथ १.१३.१४
रह एकान्त, निर्जन, प्रच्छन्न, यान विशेष, रथ, रहस्य, मर्म, भेद २.२०.३
रह जत्ता रथ यात्रा, रथोत्सव ३.९.२४
रहुपत्तीण रघु पत्नी, सीता, रामचन्द्र की पत्नी, राम प्रिया १.२.१९
राइहंस राजहंस, कलहंस, कादम्ब, मारंग १.८.७
राम आराम, बगीचा, उपवन, उद्यान, पुष्पालय, कुसुमागार, गुलजार,

पुष्पोद्यान, पुष्पोपवन, गुलिस्तां, चमन, गुलशन, पुष्पवाटिका १.७.१२

राजाज्ञा १.८.१

रागान्ध, मोह में अन्धा ४.५.५ (घ.)

ऋक्ष, नक्षत्र, तारक २.७.१७

ऋषभेश्वर ३.६.८

ऋषिराज १.१.१

ऋषिवर/ऋषिवर्य, मुनि श्रेष्ठ, ऋद्धि सम्पन्न मुनि (क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाले साधु) १.२.९

शोभा, रुचि, रम्य ३.६.५

रौद्र, भयानक, विकराल, डरावना, रौद्र ध्यान १.९.५

रुद्र, त्रेसठ शलाका पुरुष २.११.३१ (गा.)

दीर्घ नि:श्वास छोड़ना, अति दुखी होना १.११.१६

रुपा, पर्णसुन्दरी, वेश्या, गणिका, रुपाजीविनी ४.८.१

रुधिर, रक्त, खून, लोहित, लहू २.३.४

रेहन, बेसन, चने की दाल का आटा २.२.७ (दो.)

रेखा, पंक्ति, संयोजक रेखा, लकीर, लाईन ३.६.३९ (गा.)

रोहिणी, चन्द्र पत्नी, विधुप्रिया, बलराम की माता १.२.१४

रंग के समान १.२.१९

रन्ध्र, छेद २.९.१३

रंभा, मृगांकलेखा की माता, कामदेव की पत्नी, केला १.२.१८

ल

पूँछ, दुम्ब, दुम, पुच्छ २.१२.४

लम्पट, इन्द्रियासक्त, कामी ४.७.३

(गा.)

लक्खमि लखना, लखूँ ३.४.६ (घ.)

लच्छी लक्ष्मी, अम्बुजासना, विष्णुप्रिया, अम्बुजवाहिनी, अम्बुजा १.२.१०

ललिया ललिता गोपी २.८.२

ललियंगि ललितांगी, सुन्दर अंगों वाली ४.६.२०

लव थोड़ा, अल्प, किंचित्, स्तोक २.४.१९

लवडि लकुटि, लकड़ी, लाठी, यष्टि २.१५.१५ (घ.)

लहु लघु, छोटा, न्यून २.२५.२७ (घ.)

लाड विसय लाड देश (वर्तमान काठियावाड) १.१३.७

लित्ति लिप्त, संलग्न, लीन, निमग्न, युक्त १.९.१२

लित्तु लिप्त करना, लीपना, पोतना, लपेटना २.१५.१३

लिल्लु देह नीली देह (हरित वर्णी काय) श्याम देह, काला शरीर २.२६.१२

लिहाइ लिखवाना, लिपि बद्ध कराना ३.९.२२

लेण कला, फ़न, हुनर २.१४.६

लोइ लोक, विश्व, जगत, संसार १.१.१

लोइणु लोचन, नेत्र, नयन, अवेक्षण, ईक्षण, निरीक्षण, समालोचन, निरीक्षण, दर्शन, समीक्षण, दृष्टिपात १.१४.२२

लोह पहरण लौह प्रहरण, लौहायुध, लौह धातु के पैने उपकरण २.२१.६

व

व इव, के समान, सदृश, जैसी, जैसा २.४.२

वइयरु वृत्तान्त, समाचार १.१३.११

वइराउ वैराग्य उदासीन भाव, अनासक्त परिणति, राग रहित मनोदशा, राग की अनुपस्थिति ४.१.१ (घ.)

वइरु — वैर, विरोध, झगड़ा, विकर्षण, अनिच्छा, अरुचि, नफ़रत, वितृष्णा, हक़ारत, तिरस्कार १.१६.८ (दु.)

वइसवणु — वैश्रवण नामक श्रेष्ठी २.६.१०

वच्छलि — वात्सल्य, नि:स्वार्थ प्रेम, स्नेह १.२.१३

वज्जमइ — वज्रमय १.१५.३४ (गा.)

वज्झु — वाध्य, वलात्, जबरन २.२६.३

वज्जिहई — वज्राहत, वज्राघात २.७.९

वद्ढारिओ — वर्धापित बढ़ाया, लाड़ प्यार से वड़ा करना ३.६.३९ (गा.)

वडइ — गिर पड़ना, निपतति २.१५.१५ (घ.)

वडिओ — पतित, पड़ना, अपच्युत, अवरोहित, परिच्युत, प्रपतित ३.६.३५ (गा.)

वडिउ — पड़ना, गिरना १.१५.६ (दु.)

वणजारिणि — वनजारिणी, घर-घर जाकर सौदा भेजने वाली २.८.१९

वणिवरु — वणिक् श्रेष्ठ, श्रेष्ठ व्यापारी १.२.१६

वणिसुअ — वणिक् पुत्र, वैश्य पुत्र, व्यापारी का लड़का २.२७.९

वणीस — वणिकाधिपति, वणीश, वणिक श्रेष्ठी २.६.१०

वणीसर — वणिकाधिपति, वैश्य २.२४.१०

वण्णि — वर्णन ३.८.११

वण्णंकियाउ — वर्णों से अलंकृत रंगों वाली २.२७.३

वत्तरविंद — वक्त्रारविन्द मुखारविन्द्र, मुख सरोज, मुख कमल ४.३.५

वत्ति — मुख, वदन १.१७.८

वद्धावणओ — पुत्र जन्म पर की जाने वाली बधाईयाँ, मंगलकामना, अभिनन्दन, मुबारकबाद ३.६.९ (गा.)

वप्प — (वप्तृ) तात, पिता, बाप, बाप रे (विस्मय अव्यय) बलवान् १.१५.४

वम्महलीलासेलं — कामदेव का क्रीडा पर्वत २.६.१० (गा.)

वय — व्रत, संकल्प, पाप परित्याग १.१.१३

वयणारविंदु — मुखारविन्द, मुख कमल १.१.५

वयसवण — वैश्रवण, एक वणिक श्रेष्ठ, धनद, कुवेर २.२४.१०

वयहर — व्रतधर, व्रतधारी २.२३.५

वरही — मयूर, नीलकण्ठी, भुजंग भक्षी ३.५.१०

वराई — वेचारी, असहाय, अबला, अंगना, आदमन, औरत, त्रिया, ज़नानी, नारी, भामिनी, वनिता १.१५.३७ (गा.)

वरिक्क — (वर इक्क) एक बार श्रेष्ठ १.८.११

वरुण दिसा — पश्चिम दिशा, प्रतीची ३.१.१३

वलिय — वलय, गोल, वृत्त ४.७.१२ (गा.)

वसण — व्यसन/कष्ट, दुख, आपत्ति, बुरी आदत २.४.१९

वसणा — वसन, वस्त्र, कपड़ा, चीर, चेल, अम्बर, आच्छाद, लत्ता, टैक्सटाइल, १.१३.२१ (गा.)

वसह — (वृषभ) सांड, बैल, बलीवर्द, ऋषभ, सर्वश्रेष्ठ (वृष) धर्म को (भ) आभा देनेवाला, कर्णरन्ध्र, एक असुर, वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम अर्हत् २.४.१

वसही — वसतिका, मठ, आश्रम आदि आश्रय भूत स्थान २.१८.५३ (गा.)

वसु — आठ, धन, एक राजा का नाम १.२.१६

वसु विउण — आठ से गुणित दो = सोलह ३.१.२

वसंतु सिट्ठी — बसन्त नामक सेठ २.८.१४

वहइ — [वहति] ढोना, भार वहन करना ४.१.५

वहणि — वह्नि, अग्नि प्रवेश, पवेसु ३.९.६ (दु.)

काक, कौआ, काग, अरिष्ट, पिशुन, यमदूत, बलिपुष्ट, करटक, चण्डाल, काहल १.१५.१५

व्याकुल, व्यग्र, खिन्न १.९.१४ (गा.)

[वाद्यैः] वाद्यों के द्वारा परम्परा ३.३.१७ (गा.)

पंक्तियों का समूह, पंक्तियों की पंक्तियाँ ३.३.१७ (गा.)

वचन रक्षा २.११.९

वार, प्रहार, आक्रमण ३.३.२१ (गा.)

वारि प्रवाह, जलप्रपात १.९.१४

बालपन, लड़कपन, खेल के दिन, बाल्यकाल, जीवन का प्रथम चरण, सोलह वर्ष तक की अवस्था ३.६.३९ (गा.)

व्यापार, धन्धा, व्यवसाय २.२७.४

उत्तम सुगन्ध, तैल, इत्रादि २.२१.१

व्याधि, शारीरिक रोग, रुज्, शारीरिक कष्ट, साहित्य में एक संचारी भाव १.४.६ (गा.)

व्यय, विनाश २.१८.३

विक्रय करना, बेचना २.२१.८

विगत लेप, निर्लेप २.१६.६

विघ्न, बाधा, अड़चन, व्यवधान, संकट १.१.३

विचक्षण, प्रतिभा सम्पन्न २.६.११

विजय, जीत, सफलता, क्रीडा, लक्ष्य प्राप्ति १.१.४

विद्या २.१८.५५ (गा.)

विद्यालंकार ४.६.१०

विध्यापन, अग्नि बुझाना १.९.११ (गा.)

व्यंजन, लांछन, देहगत सामुदिक चिह्न २.७.१६

विज्जाण विज्ञान, विशेष ज्ञान १.११.११

विज्जावलु विद्या बल १.११.८

विट्ठि तुष्टि, वर्षा, आकाश सलिल १.२.३ (घ.)

विडंविय विडम्बित, विडम्बना करता हुआ २.१२.२

विड् विट्, नपुंसक, कापुरुष, कमर टूटा, क्लीव, ख़सी, नामर्द, निर्वीर्य, तृतीय प्रकृति १.१५.१६ (घ.)

विणिवेसिय विनिवेशित, प्रवेश करना १.९.१२ (गा.)

विण्णि दोनों, युगल १.५.६ (घ.)

वित्ति वृत्ति, क्रिया, चर्या, आजीविका, वृत्तिका, मनोवृत्ति १.६.८

विप्प विप्र, द्विज, ब्राह्मण ४.६.६ (घ.)

विमुक्क विमुक्त, रहित, निर्बन्ध, छूटा हुआ २.१६.६

विय अक्ख द्वितीय इन्द्रिय, रसनेन्द्रिय १.१.२ (घ.)

वियड विकट, विकराल, भीम, भयानक, रौद्र २.१२.२

वियड दंति विकराल दाँतों वाली २.१२.१२

वियसंति विकसन्ति, विकसित होना १.१.५

वियारइ विचार करना, सोचना २.२६.२८ (घ.)

वियासु विकास, उन्नति ४.२.१४

विरह झाल विरह ज्वाला ४.९.८

विब्भमि विभ्रम, सन्देह, आश्चर्यितता, एक चक्रावृत्ति, सादृश्य आभास, स्मृति विभ्रम ४.९.१०

विलवइ विलाप करना, रुदन करना, बिलखना ३.२.९ (गा.)

विवहारी व्यापारी, व्यवसायी, सार्थवाह १.८.४

विस वृषभ, बलिवर्द, गोपति १.१३.१४

विसअत्थ	विशदार्थ, विशदस्पष्ट अर्थ १.१.१
विसइ	प्रवेश करना, अंदर आना १.१५.४८ (गा.)
विसज्जि (ऊण)	विसर्जन, पूजा विसर्जन, देव-देवी विसर्जन, समापन २.१५.४७ (गा.)
विसय वास	देशवास, देश सम्बन्धी, आवास स्थान ३.१०.११
विसयालस	इन्द्रिय विषयों में आलसी, आसक्त, आपात निमग्न २.१९.१९
वासव	इन्द्र, सुरराज, आत्मा, मन, अन्तरिन्द्रिय ४.९.१६
विसाउ	विषाद, खेद १.४.६ (गा.)
विसालणेत्ति	विशाल नेत्री, आयत नयनी, बड़े-बड़े नेत्रों वाली २.४.४
विसियर	विषधर, पवनभुक्, उरग, सर्प, नाग २.११.१५
विस्सासयारि	विश्वासकारी, विश्वासपात्र १.१५.११
विहडावणु	विदीर्ण करने योग्य २.१२.४
विहुणइ	विधुनति, धुनना, पश्चात्ताप करना २.११.१
विहलिज्जइ	विफल करना, व्यर्थ खोना ४.१.१९
विहलु	विफल, व्यर्थ, निष्प्रयोजन, अर्थहीन, अनुपयोगी १.४.१३
विहलंघल	विह्वल, व्याकुल, उद्विग्न, कष्टग्रस्त, कातर, दुखी, भयभीत, भ्रष्टधी ४.८.२०
विहवसि	विधिवश, कर्माधीन १.११.७
विहव	वैभव, धन सम्पदा, ऐश्वर्य, श्री पूर्णता १.२.१२
विहाइ	विभाति, शोभित होना ३.१०.२३
विहाण	विधि, विधाता, रचियता, दैव, भाग्य, विधान, शास्त्रोक्त रीति, पद्धति, निर्माण, रचना, भेद, प्रकार, विहान, प्रभात, २.२६.६२ (गा.)
विहियउ	दोनों, युगल ३.५.४
विहूसण	विभूषण, आभरण विशेष २.१३.६
वीडु	वीड़ा, कार्यभार, किसी कार्य को पूरा करने हेतु ली गई जिम्मेदारी, संकल्प १.१३.११
वीणसद्द	करुण स्वर, दर्दीला स्वर, पीड़ायुक्त वचन २.४.३
वीयमंत	बीज मंत्र २.१६.१२
वीलु	लज्जा, हया, शर्म १.१.११
वीसमंति	विश्राम करना, आराम लेना २.३.३
वीसत्था	विश्रब्धा, विश्वास युक्त, विश्वास करना १.८.१० (गा.)
वुच्चइ	कहना, कथन करना २.१६.५
वुहियण	बुधिजन, सुधीजन, धीमान, विद्वान्, विद्वद्, बुद्धिमान, पुरुष २.१९.२३
विएसि	विदेश, परदेश, दिसावर, विलायत ३.७.२०
वेढि	लपेटना, आच्छादित करना २.६.४
वेल	वेला, घड़ी, समय, अवसर, काल १.७.१५
वेसमण	वैश्रवण, कुवेर, धनद २.६.८ (गा.)
वेसरि	खच्चर, अश्वतर, पक्षि विशेष २.२७.१
वेसु	वेष, भेष १.२.९
वेसा मंदिरि	वेश्यालय, वेश्यावास, वेश्यागृह, वेश्म, कोठा २.१३.१८ (दो.)
वेसावयारु	वेश्या वृत्ति, देह व्यापार २.१३.१९
वंसविद्धि	वंश वृद्धि, सन्तानोत्पत्ति २.११.७

स

सइयार	स्वीकार, अंगीकृत २.११.३४ (गा.)
सइरणि	व्यभिचारिणी, स्वेच्छाचारिणी, स्वैरिणी २.१.१ (घ.)

सकल, सारे, सम्पूर्ण, अशेष २.२६.६

सदीव, सदैव, अनवरत, निरन्तर, हमेशा सतत ४.५.१७

सुपुरुष, सज्जन, सत्पुरुष।

सजनी, प्रिया, कान्ता, वल्लभा १.१५.९

संकट, कष्ट, विपत्ति, दुख १.१.४

संकीर्ण, आकीर्ण, सघन २.३.८

संक्रान्ति, परिवर्तन, पर्व विशेष, मकर संक्रान्ति २.१८.११

संक्रमित, संक्रान्त, बदलाव, संक्रमण २.२६.१२

सांकल, निगड़, शृंखला, बेड़ी, लौहे का बना पाद बन्धन, पादपाशी, आभूषण विशेष २.१४.११

संस्कार, दाह संस्कार, अन्त्येष्टि क्रिया २.१०.४

आशंका होना, भ्रम पैदा होना, सन्देह होना १.२.४

संक्षिप्त, सारांश, तात्पर्यार्थ २.१६.१३

संग्राम, युद्ध, द्वन्द्व २.५.२

संग्रहण करना, सँभालना ३.८.५

संग्राम में, रणभूमि, युद्धभूमि, रणक्षेत्र १.१.४

संजात, उत्पन्न, पैदा, आविर्भूत, उदित, उपजा, निकला, प्रादूर्भूत, मौजूद, व्युत्पन्न ३.६.३१ (गा.)

सांध्य राग, सूर्य की अस्तकालीन रक्ताभा, लालिमा ३.१.१४

संस्थापित करना, आश्वासन देना, धैर्य बँधाना १.४.६ (गा.)

संथारा, संस्तर, संन्यास के समय दिया जाने वाला बिछौना, शुष्क पात्र, पुआल आदि २.२२.१७

संधाणु सन्धान, जोड़, संयोग २.१९.१६ (दु.)

संवरु संपइ सवर सम्पदा, कर्म संवर रूपी सम्पदा ४.१.१४

संसत्त जैन साधु का एक भेद, जो ज्योतिष्क कुशलता के कारण सम्यक् मार्ग से भ्रष्ट रहते हैं, संसक्त, आसक्त, अनुरक्त २.१८.५२ (गा.)

संसत्तु संसक्त, आसक्त, लिप्त, सल्लीन ४.४.२०

संहरउ संहरण, प्राण रहित २.२५.२७ (घ.)

सक्कु शुक्र, इन्द्र १.२.१०

सकयत्थु सुकृतार्थ, कृत्कृत्य, सार्थक, सफल ३.४.१६

सगठामि सप्तस्थान (जिनबिम्ब स्थापन, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, जिनालय निर्माण, तीर्थ क्षेत्र की यात्रा, पात्र को चारों प्रकार का दान करना, जिनपूजा, सिद्धान्त लेखन) १.२.१६

सग्गपवग्ग स्वर्गापवर्ग, स्वर्ग और अपवर्ग २.१७.१९

सचिंदु चेतना युक्त, सचैतन्य १.४.१५

सत्थदाण शास्त्रदान, विद्या विभाग १.२.२०

सत्थारं संथारा, संस्तर, बिछौना, शय्या, बिस्तर, बिस्तरा, शैया, सेज १.१५.४२

सत्थाहिउ सार्थवाहाधिपति, सार्थवाह प्रमुख, वणिक् श्रेष्ठ २.४.१

सत्तिधर शक्तिधारी, कार्तिकेय ३.३.१४ (गा.)

सद्दिज्जइ शब्द करना, बोलना १.१५.१६

सपाउ पाप युक्त १.१.९

सफरी मीन, मत्स्य, जलचरी, झष, जल तरोई, अम्बुचर, कामध्वज १.१५.४२ (गा.)

विस अत्थ — विशदार्थ, विशद/स्पष्ट अर्थ १.१.१
विसइ — प्रवेश करना, अंदर आना १.१५.४८ (गा.)
विसज्जि (ऊण) — विसर्जन, पूजा विसर्जन, देव-देवी विसर्जन, समापन २.१५.४७ (गा.)
विसय वास — देशावास, देश सम्बन्धी, आवास स्थान ३.१०.११
विसयालस — इन्द्रिय विषयों में आलसी, आसक्त, आपात निमग्न २.१९.१९
वासव — इन्द्र, सुरराज, आत्मा, मन, अन्तरिन्द्रिय ४.९.१६
विसाइं — विषाद, खेद १.४.६ (गा.)
विसालणेत्ति — विशाल नेत्री, आयत नयनी, बड़े-बड़े नेत्रों वाली २.४.४
विसियर — विषधर, पवनभुक्, उरग, सर्प, नाग २.११.१५
विस्सासयारि — विश्वासकारी, विश्वासपात्र १.१५.११
विहडावणु — विदीर्ण करने योग्य २.१२.४
विहुणइ — विधुनति, धुनना, पश्चात्ताप करना २.११.१
विहलिज्जइ — विफल करना, व्यर्थ खोना ४.१.१९
विहलु — विफल, व्यर्थ, निष्प्रयोजन, अर्थहीन, अनुपयोगी १.४.१३
विहलंघल — विह्वल, व्याकुल, उद्विग्न, कष्टग्रस्त, कातर, दुखी, भयभीत, भ्रष्टधी ४.८.२०
विहवसि — विधिवश, कर्माधीन १.११.७
विहव — वैभव, धन सम्पदा, ऐश्वर्य, श्री पूर्णता १.२.१२
विहाइ — विभाति, शोभित होना ३.१०.२३
विहाण — विधि, विधाता, रचियता, दैव, भाग्य, विधान, शास्त्रोक्त रीति, पद्धति, निर्माण, रचना, भेद, प्रकार, विहान, प्रभात, २.२६.६२ (गा.)
विहियउ — दोनों, युगल ३.५.४
विहूसण — विभूषण, आभरण विशेष २.१३.६
वीडु — वीड़ा, कार्यभार, किसी कार्य को पूरा करने हेतु ली गई जिम्मेदारी, संकल्प १.१३.११
वीणसद्द — करुण स्वर, दर्दीला स्वर, पीड़ायुक्त वचन २.४.३
वीयमंत — वीज मंत्र २.१६.१२
वीलु — लज्जा, हया, शर्म १.१.११
वीसमंति — विश्राम करना, आराम लेना २.३.३
वीसत्था — विश्रब्धा, विश्वास युक्त, विश्वास करना १.८.१० (गा.)
वुच्चइ — कहना, कथन करना २.१६.५
वुहियण — वुधिजन, सुधीजन, धीमान, विद्वान्, विद्वद्, वुद्धिमान, पुरुष २.१९.२३
विएसि — विदेश, परदेश, दिसावर, विलायत ३.७.२०
वेढि — लपेटना, आच्छादित करना २.६.४
वेल — वेला, घड़ी, समय, अवसर, काल १.७.१५
वेसमण — वैश्रवण, कुबेर, धनद २.६.८ (गा.)
वेसरि — खच्चर, अश्वतर, पक्षि विशेष २.२७.१
वेसु — वेष, भेष १.२.९
वेसा मंदिरि — वेश्यालय, वेश्यावास, वेश्यागृह, वेश्म, कोठा २.१३.१८ (दो.)
वेसावयारु — वेश्या वृत्ति, देह व्यापार २.१३.१९
वंसविद्धि — वंश वृद्धि, सन्तानोत्पत्ति २.११.७

स

सइयार — स्वीकार, अंगीकृत २.११.३४ (गा.)
सइरणि — व्यभिचारिणी, स्वेच्छाचारिणी, स्वैरिणी २.१.१ (घ.)

लहु सकल, सारे, सम्पूर्ण, अशेष २.२६.६

व सदीव, सदैव, अनवरत, निरन्तर, हमेशा सतत ४.५.१७

रिस सुपुरुष, सज्जन, सत्पुरुष।

णि सजनी, प्रिया, कान्ता, वल्लभा १.१५.९

कडि संकट, कष्ट, विपत्ति, दुख १.१.४

कडि संकीर्ण, आकीर्ण, सघन २.३.८

कंति संक्रान्ति, परिवर्तन, पर्व विशेष, मकर संक्रान्ति २.१८.११

कमि संक्रमित, संक्रान्त, बदलाव, संक्रमण २.२६.१२

कल सांकल, निगड़, शृंखला, बेड़ी, लौहे का बना पाद बन्धन, पादपाशी, आभूषण विशेष २.१४.११

कारु संस्कार, दाह संस्कार, अन्त्येष्टि क्रिया २.१०.४

केयाउ आशंका होना, भ्रम पैदा होना, सन्देह होना १.२.४

खेव संक्षिप्त, सारांश, तात्पर्यार्थ २.१६.१३

गरु संग्राम, युद्ध, द्वन्द्व २.५.२

गहणु संग्रहण करना, सँभालना ३.८.५

गरि संग्राम में, रणभूमि, युद्धभूमि, रणक्षेत्र १.१.४

जाय संजात, उत्पन्न, पैदा, आविर्भूत, उदित, उपजा, निकला, प्रादूर्भूत, मौजूद, व्युत्पन्न ३.६.३१ (गा.)

झाराउ सांध्य राग, सूर्य की अस्तकालीन रक्ताभा, लालिमा ३.१.१४

ठावए संस्थापित करना, आश्वासन देना, धैर्य बँधाना १.४.६ (गा.)

थारा संथारा, संस्तर, संन्यास के समय दिया जाने वाला बिछौना, शुष्क पात्र, पुआल आदि २.२२.१७

संधाणु सन्धान, जोड़, संयोग २.१९.१६ (दु.)

संवरु संपइ सवर सम्पदा, कर्म संवर रूपी सम्पदा ४.१.१४

संसत्त जैन साधु का एक भेद, जो ज्योतिष्क कुशलता के कारण सम्यक् मार्ग से भ्रष्ट रहते हैं, संसक्त, आसक्त, अनुरक्त २.१८.५२ (गा.)

संसत्तु संसक्त, आसक्त, लिप्त, सल्लीन ४.४.२०

संहरउ संहरण, प्राण रहित २.२५.२७ (घ.)

सक्कु शुक्र, इन्द्र १.२.१०

सकयत्थु सुकृतार्थ, कृत्कृत्य, सार्थक, सफल ३.४.१६

सगठामि सप्तस्थान (जिनबिम्ब स्थापन, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, जिनालय निर्माण, तीर्थ क्षेत्र की यात्रा, पात्र को चारों प्रकार का दान करना, जिनपूजा, सिद्धान्त लेखन) १.२.१६

सग्गपवग्ग स्वर्गापवर्ग, स्वर्ग और अपवर्ग २.१७.१९

सचिंदु चेतना युक्त, सचैतन्य १.४.१५

सत्थदाण शास्त्रदान, विद्या विभाग १.२.२०

सत्थारं संथारा, संस्तर, बिछौना, शय्या, बिस्तर, बिस्तरा, शैया, सेज १.१५.४२

सत्थाहिउ सार्थवाहाधिपति, सार्थवाह प्रमुख, वणिक् श्रेष्ठ २.४.१

सत्तिधर शक्तिधारी, कार्तिकेय ३.३.१४ (गा.)

सद्दिज्जइ शब्द करना, बोलना १.१५.१६

सपाउ पाप युक्त १.१.९

सफरी मीन, मत्स्य, जलचरी, झष, जल तरोई, अम्बुचर, कामध्वज १.१५.४२ (गा.)

सभर भार युक्त, बोझा वाला ४.७.८

समणसउर समनसपुर नगर २.६.९

सम्मत्तउ सम्यक्त्व, सच्चा श्रद्धान, सम्यग्दर्शन १.५.६ (घ.)

समञ्झा मुझ सहित, मेरे साथ ३.४.२५ (गा.)

समत्थु समर्थ, सामर्थ्यमान, शक्तिशाली ३.१.१८

समप्पइ समर्पित करना, सौंपना १.२.१६

समलंकियाणु समलंकृत, सज्जित, सुशोभित २.२७.३

समलु वयणु असभ्य वचन, पापवचन २.१३.१३ (घ.)

समवयसि सखी, समवयस्का, समान उम्र वाली, आली १.२.४ (घ.)

समाहि स्वस्थ चित्त, राग-द्वेष रहित ३.७.६

सम्मियदिट्ठि सम्यग्दृष्टि, समकितवान् २.६.६ (घ.)

समी शमी, लता विशेष १.१३.२४ (गा.)

समीहइ समीप्सित करना, अभिलाषा करना, वांछा करना, इच्छा या कांक्षा करना २.२५.८

समुज्जल उत्युज्ज्वला, निर्मल, स्वच्छ, पवित्र १.३.३

समुसरण समवसरण, तीर्थंकर केवली की वह धर्म सभा जिसमें जीव मात्र को धर्मोपदेश अथवा आत्म कल्याण का समान अवसर मिलता है ४.२.१२

समेउ समेत, सहित ४.१.१०

सयकित्ति शतकीर्ति, एक तपस्वी ४.६.६

सयखंड शतखण्ड, सौ टुकड़ें २.३.१६

सयगुणित शत गुणित, सौ गुना १.१५.३९ (गा.)

सयणखित्ति शयनक्षेत्र, शयनागार ४.७.१

सयवत्तवत्तवाला शतपत्र के समान मुख वाली कन्या, सैकड़ों पत्रों वाले कमल के समान मुख वाली वाला ३.३.१२ (गा.)

सयालि सम्प्रदाय विशेष का संस्थापक जो भविष्य काल में अठारहवाँ तीर्थंकर होगा २.१७.२१

सयास सायास, सप्रयत्न ४.२.१

सरइवराहु अपराध स्मरण १.९.१३

सरमि स्मृ, स्मरण करना ४.२.५

सरय मेहु शरद मेघ २.७.१४

सरहया शिर पीटना, सिर धुनना २.८.८ (दु.)

सराउ सराग, रागयुक्त १.९.७

सरासण धनुष, शरायुध, कोदण्ड, कमान, इष्वाण, पिनाक ३.१.१०

सरिया सरिस, समान, सदृश, अनन्य, तुल्य, भेदहीन, जैसा, अनुरूप, यकसाँ, हूबहू ३.६.३२ (गा.)

सरु स्वर, ध्वनि, आवाज २.१५.१७

सलज्ज लज्जावन्त, संकोच, लाज, शर्म, लज्जावती, मर्यादा, हया, कुलीन १.२.१४

सलाइ पुरिस शलाका पुरुष २.१६.१०

सवणगाही श्रवणागाही, कान के बच्चे ४.७.५ (गा.)

सवत्ती सपत्नी, सौत १.७.९ (गा.)

सव्वुत्तम सर्वोत्तम, श्रेष्ठ, शिरोमणि, सर्वोपरि, सिरमौर, सबसे अच्छा, शीर्षस्थ २.११.३२ (गा.)

सविवाओ सविपाक, कर्मफल ४.७.९ (गा.)

सव्वाण सर्व, सम्पूर्ण, समस्त ३.८.४० (गा.)

सवलहण चित्रक, चितकबरा, नानावर्णी २.२१.२

ससि शशि, चन्द्रमा, सुधाकर, इन्दु, विधु, सितांशु, हिमांशु, सोम, कलानिधि, कुमुदनाथ, आकाश, चमस, उडुप, ऋक्षेश, विभावरीश, विरोचन,

शिवशेखर, मृगांक, कलाधर, मयंक, रोहिणीश, राकापति, राकेश १.२.४

ससितिलउ चन्द्रतिलक, चन्द्राकार तिलक १.१३.१६

ससि वत्तु चन्द्रमुख, चन्द्रानन, इन्दु वदन, चन्द्र वदन, चन्द्रमा के समान मुख १.३.८

ससिवयणी शशिवदनी, चन्द्रमुखी, सुमुखी, प्रिय दर्शना २.६.७ (दु.)

ससोह शोभा युक्त १.२.५

सहलु सफल, फलवान, सार्थक, सत्य २.१२.९

साइणि सिसु शाकिनी की बच्ची २.१४.६

साइरदत्तु सागरदत्त, सागरचन्द का पिता मृगांकलेखा का श्वसुर १.५.२

साइरससि सागर चन्द, मृगांकलेखा का प्राणवल्लभ १.१४.२०

साउ स्वाद, स्वादिष्ट १.७.१४

सागरचंदु सागरचन्द्र, मृगांकलेखा का पति १.२.१५

साम ३.४.२५ (गा.)

साम छाय श्याम कान्ति, फीकी कान्ति, मुँह काला हो जाना, पानी उतर जाना २.२.१८

सामंवर रयणी अंधेरी रात, अंधेरी अमाँ १.७.११

सायारी सागारी, श्रावक, एक देश व्रती १.१४.८

सार शार, सबल, चितकबरा, सार, पासा, खेलने के लिए काष्ठ आदि का चौपहल, रंग-बिरंगा सांचा २.२१.७

सारपंख चित्र, विचित्र, अनेक रंगों वाले पक्षियों के पंख २.२१.७

सारमेउ सारमेय, श्वान, ग्रामशार्दूल, कुक्कुर, अस्थिभोजी, वक्रपुच्छ, भैरव वाहन, निशिजागर १.८.२

सारय मइंक शरच्चन्द्र, शारदीय चन्द्रमा, शरद पूर्णिमा का पूर्णेन्दु १.१५.३८ (गा.)

सारीउ सारिका, पक्षी विशेष २.२१.६

साल पक्षी विशेष, साल नामक पक्षी, साल वृक्ष २.२१.६

सालभंजिया शालभंजिका, पुत्तलिका १.१३.२३ (गा.)

सालस आलस्य युक्त, आलस्य पूर्ण ३.३.३

सावयवय श्रावक व्रत/अणुव्रत, पञ्च पापों का एक देश त्याग, पञ्चाणुव्रत, अष्टमूल गुण, द्वादशव्रत १.५.१५

सावहाणु सावधान, अप्रमत्त, जागरुक, जाग्रत १.११.१४

सावित्ति सवितृ, सविता, माता, जननी, अम्ब, महतारी १.११.३

सावेखउ सापेक्ष, अपेक्षा रहित, अभिलाषी २.९.३

ससणेही शश्नस्नेही, कामप्रिया, कामुकी ४.७.२

सासव सास्रव, कर्मास्रव २.२३.७

साह रंक, गरीब, धनहीन, निर्धन १.१५.१८

साहम्मियु साधर्मी, सहधर्मी, समान धर्म वाले १.५.६ (घ.)

साहिज्जइ साधना, सिद्ध करना ४.२.१

साहित साधित, सिद्ध किया हुआ ३.१.१७

साही शाह, बादशाह १.१५.१८

सिंगारु श्रृंगार १.१३.१९

सिंचिउ सींचना १.४.१५

सिमंतिणि सीमन्तिनी, स्त्री ४.७.४

सिकिया शिकता, बालुका, रेत २.३.२

सिखि शिखिन्, शिखा, अग्नि, वह्नि, धूमकेतु २.१३.२१ (दो.)

सिग्घ शीघ्र, त्वरा, क्षिप्र आशु १.१.३

सिज्झइ	सिद्ध होना, सम्पन्न होना १.५.४
सिद्धुएउ	सिद्ध देव, निरंजन देव, सिद्ध परमेष्ठी, निकल परमात्मा, सिद्धात्मा ४.१.१०
सिद्धारथ णयरि	सिद्धार्थ नगर २.१२.१५ (दो.)
सिद्धत्थ	सिद्ध अर्थ, सिद्ध हैं अर्थ अर्थात् धन जिसका अर्थात् धनसार श्रेष्ठी १.७.१२
सिद्धत्थ णयरि	सिद्धार्थ नगरी ३.३.१४
सिद्धंत सुत्त	सिद्धान्त सूत्र, गणधर रचित ग्रन्थ ४.५.९
सिट्ठी	श्रेष्ठी, सेठ, धनवन्त पुरुष १.४.६ (गा.)
सिय	श्री, लक्ष्मी, धन, सम्पदा, निधि ४.२.२
सिय	शुभ्र, श्वेत, अवदात, धवल, शुक्ल, सित, हंसांशु, रजत १.१.१
सियठाणि	श्रीआस्पद, श्रीनिकेतन, लक्ष्मी निलय, श्र्यालय २.८.७
सिय वण्ण	श्वेत वर्ण, सफेद रंग १.२.५
सियसंगम	श्रीसंगम, लक्ष्मी का समागम, धन संग्रह २.२४.१५
सिरिवच्छ	श्रीवत्स २.७.१५
सिरि विजइ	श्री विजय, नृपति ३.५.१९
सिलोच	पर्वत, मेरु पर्वत ३.६.९
सिव पह	शिवपथ, मोक्षमार्ग, कल्याणकारी मार्ग २.१६.९
सिविण	स्वप्न, सपना, ख़्वाब, कल्पना, मनोसृष्टि, विभावन १.२.३ (घ.)
सिविया	शिविका, पालकी, जपाण २.१५.३
सिहरी सिहर	(शिखरिन्-शिखर) पर्वत की चोटी, पर्वत शिखर ३.४.२
सिहिकुंडि	शिखाकुण्ड, अग्निकुण्ड १.१.८
सीमाराम	बर्हि उद्यान, नगर सीमा का उद्यान २.३.६
सीमंतिणि	स्त्रियाँ, नारियाँ, पत्नियाँ १.८.३
सील सेल	शील रूपी पर्वत २.१३.४१ (गा.)
सीसइ	भाग्य, किस्मत, तकदीर, विधि, दैव, नसीव, अदृश्य, होनहार, विधि का विधान, काल योग १.१४.२४
सीह णिणाए	सिंहनाद, सिंह गर्जना २.५.११
सुअयंभु	स्वयंभू, अपने आप, स्वजात ४.७.७ (घ.)
सुउ	सुत, पुत्र, वेटा, लड़का, अंगज, तनुज १.२.१५
सुक्कज्झाणि	शुक्ल ध्यान २.१८.१६
सुक्कलेसु	शुक्ल लेश्या १.२.९
सुकिय कम्मु	सुकृत्य, सुकर्म, शुभ कार्य ४.५.१८
सुखंधि	उत्तम स्कन्ध, वायाकन्धा, शुभ सूचक वाम स्कन्ध ३.७.४
सुगग्गिर वाय	अत्यन्त गद्‌गद् वाणी, हर्षातिरेक में स्खलित वचन बोलना १.५.१५
सुण्ण कलेवरु	शून्य शरीर, चेतना हीन १.७.६
सुण्णारणि	शून्यारण्य, शून्य वन, सूने जंगल २.३.७
सुण्णहा	पुत्रवधु, श्वसा १.१०.१० (घ.)
सुणहु	श्वान, वीथी शार्दूल २.६.१३
सुणिच्छइ	सुनिश्चित, निर्णीत १.५.१०
सुत्तकंठु	सूत्रकण्ठ, ब्राह्मण ४.५.२४
सुद्धक्खर	शुद्धाक्षर ४.६.१४
सुमरइ	स्मरण करना, सुमरना, याद करना ३.३.२३ (गा.)
सुम्मइ	सुनाई देना, सुनना १.२.८
सुयभत्ति	श्रुत भक्ति, शास्त्र भक्ति १.२.७
सुरक्खय	सुरक्षा, बचाव २.१५.४२ (गा.)
सुरतरु	देववृक्ष, कल्पद्रुम, मनोकामना पूरी करने वाला वृक्ष ३.९.१२ (घ.)
सुरदिसा	पूर्व, प्राची दिशा २.२०.१७ (दु.)
सुरपडिम	देवप्रतिमा, देवमूर्ति, चैत्य १.४.७
सुपहिट्ठिय	सुप्रतिष्ठित, मान्य २.११.३४ (गा.)
सुरुग्गइ	सूर्योदय होना, सूर्य उदित होना १.६.३

सुव — शुक, पक्षी विशेष, श्रुत, सुत २.२१.६
सुसइ — सूखना, शुष्क हो जाना १.३.५ (घ.)
सुहगा — सौभाग्य शालिनि, वह स्त्री जो अपने पति को अति प्रिय हो १.८.३
सुह णखत्ति — शुभ नक्षत्र में १.३.६
सुहयारे — सुख कर्ता २.२२.१८
सुह लग्गे — शुभ लग्न में १.३.६
सुहाउ — शुभायु, देव, मनुष्य और तिर्यंचों की आयु अथवा जीवन काल ४.५.१०
सुहालि — सुखों की पंक्ति, सुखों का समूह २.२२.२
सूरु — नभमणि, तेजमणि, रवि २.५.६
सूस्सूसा — शुश्रुषा, सेवा, खातिरदारी ४.७.१ (गा.)
सेरिंघ — श्रृंगारिक वस्तुएँ, कुम्कुम, सिन्दूर आदि, हल की फाल (लौहे से बना हथियार) २.२१.१
सेरी — जंगली भैंसा
सेंत्तुजय — शत्रुञ्जय (लाड देश की एक नगरी) वर्तमान काठियावाड
सेल — पर्वत, अचल, अद्रि, भूधर, महीधर, तुंग, गिरि, कूट, अवनीध्र, क्षितिधर ३.८.४० (गा.)
सोउ सिहे — शोभा शुक्त शिखा, शिखा के आरक्त पल्लव ३.३.१५ (गा.)
सोह — शोभा, कान्तिहीन ३.२.२ (गा.)
सोहण भायण — सुन्दर पात्र १.६.९
सोहा — शोभा, सुन्दरता, सुषमा, कमनीयता, कशिश, अभिरामता, ख़ूबसूरती, मंजुलता, सौम्यता, सम्पदा, श्री ३.६.६

ह

हउं — मैं १.४.९
हक्किसु — हलकारना, ललकारना २.६.१४
हत्थ — शीघ्र, द्रुत, मंक्षु, क्षिप्र, अविलम्ब, तत्काल, बिजली की तरह, अभी, अचिरेण १.१३.३१ (गा.)
हरि — विष्णु, नारायण, त्रिखण्डाधिपति २.११.१९ (गा.)
हरिणंक — चन्द्रमा, शशांक, मृगांक १.१.१
हरिणच्छी — मृगनयनी, मृगलोचनी, मृगाक्षी, सुनयना, सुन्दर नेत्र वाली ३.३.१९ (गा.)
हरिपरिक्ख — देव परीक्षा १.४.१०
हरिण नेत्त — मृगलोचन, मृग नेत्र, मृग जैसे नेत्र, मृगाक्ष १.२.१३
हलि — सखि, आली, स्त्री मित्र, संगिनी, सजनी १.७.१५
हलु — फल, सार, प्रयोजन १.७.९
हसत्था — हँसी हँसी में कही बात १.८.१० (घ.)
हाडइ — हाटक, कंचन, स्वर्ण, कलधौत, कनकावदात २.२५.१
हारइ — हारना, खोना ४.३.१६
हारिणो दच्छि — चतुर चोरनी, चोरी करने में दक्ष ३.३.१३ (गा.)
हाहारउ — हाहाकार २.२६.१०
हिज्जइ — त्यागना, छोड़ना, तजना, क्षीण करना, कम करना १.८.९ (गा.)
हिट्ठु — नीचे, अध २.२.१६
हीलंत — घूमना, डोलना ४.७.२ (गा.)
हेडंवो रक्खसो — हेडम्ब नामक राक्षस ३.३.१८ (गा.)
हंढइ — घूमना, डोलना, स्वच्छन्द भ्रमण करना २.१८.५७ (गा.)
हुयवह — हुताशन, अग्नि, अनल, अनिल सखा, हुताश, सर्वभक्षी, पावक, कुंभरेता १.९.११ (गा.)

□